इकाई-1 लोक नीति: अर्थ और प्रकृति

इकाई की संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 लोकनीति का महत्व
1.3 लोकनीति
    1.3.1 लोकनीति का अर्थ
    1.3.2 लोकनीति के प्रकार
    1.3.3 नीति तथा प्रशासन
    1.3.4 नीति की अवधारणा
    1.3.5 लोकनीति की प्रकृति
1.4 सारांश
1.5 शब्दावली
1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
1.8 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

एक अकादमिक धारणा के रूप में 'लोक नीति' 1950 के दशक के आरम्भ में उभरकर सामने आयी और तब से इसके साथ नये आयाम जुड़ते चले गये हैं और यह सामाजिक विज्ञान की एक शाखा के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए संघर्ष करती रही है। सरकार के उत्पादों के एक अध्ययन के रूप में, विभिन्न शाखाओं के कई पाठ्यक्रमों- जैसे राजनीति विज्ञान, लोक प्रशासन, अर्थनीति, प्रबन्धन में नीति एक महत्वपूर्ण संघटक की भूमिका निभाती है। विकास इतना तीव्र है कि कई शोधकर्ता, शिक्षक, लोक प्रशासक अब महसूस करने लगे हैं कि यह अधिक से अधिक अनियंत्रणीय होता जा रहा है। इन शाखाओं में पुरानी सीमांकन की रेखा के स्थान पर लोकनीति को सम्मिलित करना आवश्यक हो गया है। इसके अलावा अर्न्त-अनुशासनात्मक गुणवत्ता की वजह से लोकनीति का क्षेत्र रोचक एवं विचारोत्तेजक बन जाता है।

'लोक नीति' एक ऐसी धारणा है जो अब काफी लोकप्रिय हो चुकी है। इसका हमारे दैनिक जीवन और हमारे अकादमिक साहित्य में धड़ल्ले से प्रयोग होता है। जहाँ हम अक्सर राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति, नई शिक्षा नीति, वेतन नीति, कृषि नीति, अमेरिकी या फ्रांसीसी विदेश नीति आदि का उल्लेख करते हैं। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसका सम्बन्ध क्षेत्रों से है जो सार्वजनिक माने जाते हैं। लोकनीति की धारणा के तहत माना जाता है कि जीवन का एक प्रभाव क्षेत्र होता है जो निजी या विशुद्ध रूप से वैयक्तिक न होकर साझा होता है।

अतीत में, लोकनीति सम्बन्धी अध्ययन पर राजनीति विज्ञान के शोधकर्ताओं और विद्यार्थियों का प्रभाव था जो मुख्य रूप से सरकार की संस्थागत संरचना और दार्शनिक औचित्य पर ध्यान केन्द्रित करते थे। नीतियों पर शायद ही ठीक से गौर किया जाता था। राजनीति विज्ञान कुछ हद तक विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं और समूहों की राजनीतिक शक्ति हासिल करने में सफलता से सम्बन्धित गतिविधियों पर आधारित होता था। उन संगठनों द्वारा मुख्य उद्देश्य के रूप में नीति-निर्माण के क्षेत्र में निभाई गई भूमिका पर शायद ही गौर किया जाता था। अभी भी नीति राजनीतिक प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण तत्व है।

नीति विश्लेषण के एक अग्रणी विद्वान थॉमस गई का कहना है कि ''परम्परागत (राजनीति विज्ञान) अध्ययन उन संस्थाओं की व्याख्या करते हैं, जिनमें लोकनीति संघटित हुई है। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि महत्वपूर्ण संस्थागत व्यवस्थाओं और लोकनीति के सार के बीच संपर्कों की खोज नहीं की गई है।'' वे बाद में उम्मीद जाहिर करते हैं। आज राजनीति विज्ञान का रूझान लोकनीति की तरफ बढ़ रहा है, सरकारी गतिविधि के कारणों और परिणामों के विवरण और परिभाषा की तरफ। जिन प्रक्रियाओं के जरिए लोकनीति निर्धारित हुई, उनके प्रति राजनीति विज्ञान का रूझान जहाँ बढ़ा है, वहीं लोक प्रशासन के ज्यादातर विद्यार्थी स्वीकार करेंगे कि लोक सेवक स्वयं नीतियों को आकार देने में गहराई के साथ जुड़े रहे हैं। लोक प्रशासन का अध्ययन अब नीतियों के क्रियान्वयन की मशीनरी पर ध्यान केन्द्रित करने लगा है। इसमें लोक प्राधिकरणों के संगठन, लोक सेवकों के व्यवहार और अधिक से अधिक संसाधन आवंटन की विधि, प्रशासन तथा समीक्षा को सम्मिलित किया जा रहा है। एक ऐसी अभिवृत्ति के साथ नीति के संघटन के तरीकों का निर्धारण कर पाना काफी कठिन है, हालांकि सामान्यता माना जाता है कि नीति-क्रियान्वयन का अनुभव नीति-निर्धारण की प्रक्रिया के लिए उपयोगी होता है। लेकिन लोकनीति लोक प्रशासन की तुलना में अधिक 'राजनीति' होती है। यह राजनीति विज्ञान का जनता के मामलों में प्रयोग का प्रयत्न है, लेकिन लोक प्रशासन के क्षेत्र में विभिन्न प्रक्रियाओं के साथ जिसका सरोकार जुड़ा होता है।

संक्षेप में, लोकनीति सम्बन्धी अतीत के अध्ययन पर राजनीति विज्ञान एवं लोक प्रशासन के विद्वानों का प्रभाव रहा है जो नीति की विषय वस्तु, संघटन की प्रक्रिया और उसके क्रियान्वयन पर अधिक केन्द्रित रहा है। लोकनीति के अध्ययन का विकास सामाजिक विज्ञान की एक नई शाखा; तथाकथित नीति विज्ञान के रूप में हुआ। नीति विज्ञान की इस अवधारणा को पहली बार हेराल्ड लासवेल ने 1951 में संघटित किया। आज सामाजिक रूप से प्रांसगिक ज्ञान की नई तथा सहज आकांक्षाओं की तुलना में नीति विज्ञान काफी दूर रह गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोकनीति के महत्व को समझ पायेंगे।
- लोकनीति के अर्थ और लोकनीति कितनी तरह की होती है, इसके बारे में जान पायेंगे।
- लोकनीति की अवधारणा और प्रकृति को समझ जायेंगे।

1.2 लोकनीति का महत्व

लोकनीति को मोटे तौर पर प्रस्तुत परिवेश के भीतर विशिष्ट लक्ष्य या उद्देश्य प्राप्त करने के लिए किसी व्यक्ति, समूह, संस्था या शासन की प्रस्तावित क्रियाविधि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। प्रत्येक प्रकार के संगठन में चाहे वह सरकारी हो या गैर-सरकारी, प्रत्येक क्रिया के पूर्व नीति निर्धारण आवश्यक होता है। सभी प्रकार के प्रबन्धन के लिए यह पूर्वापेक्षा है। नीति ही एक ऐसे ढॉचे का निर्धारण करती है, जिसके भीतर संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। किसी संगठन के उद्देश्य प्रायः अस्पष्ट और सामान्य होते हैं, जिन्हें नीति लक्ष्यों के रूप में सुनिश्चित किया जाता है और जो प्रशासन में गतिशीलता उत्पन्न करते हैं। नीति निर्धारण सरकार का एक महत्वपूर्ण कार्य है। जन प्रशासन का सार नीति-निमार्ण है।

लोक नीतियां सरकारी निकायों एवं सरकारी अधिकारियों द्वारा विकसित की जाती हैं। यद्यपि गैर-सरकारी लोक एजेन्सियां भी नीति-निर्माण प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाल सकती हैं या उसे प्रभावित कर सकती हैं। विभिन्न प्रकार से अलग लोकनीति की विशेषताओं का पता इस तथ्य से विदित होता है कि प्राधिकारी इन्हें राजनीतिक प्रणाली में सूत्रबद्ध करने का काम करते हैं। पहला- यादृच्छिक(Random) व्यवहार की अपेक्षा उद्देश्य परक या परिणामोन्मुखी कार्यवाही लोकनीति का प्रमाण चिन्ह है। आधुनिक राजनीतिक प्रणालियों में लोक नीतियों का निर्माण अकस्मात घटना के रूप में नहीं होता। दूसरा- लोकनीतियों का सम्बन्ध जन प्रशासकों द्वारा किसी प्रश्न पर तदर्थ किये गये पृथक निर्णयों से न होकर किसी विशेष प्रश्न पर निश्चित समयावधि के लिए कार्यवाही या निर्णयात्मक प्रतिमान से होता है। तीसरा- वह नीति जो शासन वास्तव में करती है और जो कुछ बात में घटित होने को होता है। चौथा- लोकनीति स्वरूप में या तो सकारात्मक या नकारात्मक हो सकती है। अंततः लोकनीति कम से कम अपने सकारात्मक रूप में नियम पर आधारित होती है और इसके पीछे कानूनी स्वीकृति होती है।

1.3 लोकनीति

लोकनीति क्या है? इसकी अवधारणा और प्रकृति को निम्नांकित बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं।

1.3.1 लोकनीति का अर्थ

लोकनीति शब्द का प्रयोग प्रायः शिथिलता से किया जता है। इसे गलती से नियम, रीति-रिवाज तथा विनिश्चय(Decision) की खिचड़ी समझा जाता है। जबकि सत्य यह है कि नियम मार्ग-दर्शक होते हैं, वे करने और न करने योग्य कार्यों में अन्तर करते हैं, किन्तु नियम नीतियों के विपरीत कठोर तथा विशिष्ट होते हैं। निर्णय प्रायः नीति के क्षेत्र के भीतर ही किया जाता है। यह बहुत सम्भव है कि किसी नीति के कारण लगातार कई प्रकार के निर्णय लेने पड़ जायें। नीति का सम्बन्ध मौलिक मामलों से है, जब कि रीति का सम्बन्ध किसी नीति को प्रभावकारी बनाने के तरीके से होता है। जार्ज टैरी के शब्दों में ''नीति उस कार्यवाही की शाब्दिक, लिखित या विहित बुनियादी मार्ग दर्शक है जिसे प्रबन्धक अपनाता है तथा जिसका अनुगमन करता है।''

डिमॉक ने भी नीतियों को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है, ''नीतियां सजगता से निर्धारित आचरण के वे नियम जो प्रशासकीय निर्णयों को मार्ग दिखाते हैं।'' नीति एक ओर तो लक्ष्य या उद्देश्य से और दूसरी ओर कार्य-संचालन के लिए उठाये गये कदमों से भिन्न होनी चाहिए। उदहरणार्थ, देश में प्रत्येक नागरिक को शिक्षित बनाना एक लक्ष्य है, अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा एक नीति है जो इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए बनाई गई है और स्कूल खोलना तथा अध्यापकों को प्रशिक्षित करना इत्यादि वे कदम हैं जो इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक है।

राबर्ट आइस्टोन के अनुसार, ''सरकारी इकाई का अपने आस-पास की चीजों से सम्बन्ध लोकनीति कहलाती है।''

रिचर्ड रोज के शब्दों में, ''लोकनीति एक निर्णय नहीं है, बल्कि क्रिया की एक प्रक्रिया अथवा प्रतिरूप है।''

थॉमस आर0डे0 के अनुसार, ''सरकार जो कुछ भी करना चाहती है या नहीं करना चाहती, लोकनीति कहलाती है।''

कार्ल जे0 फ्रैडरिक के विचार में, ''लोकनीति निश्चित वातावरण के अन्तर्गत एक व्यक्ति, समूह अथवा सरकार की क्रियाविधि की प्रस्तावित प्रक्रिया है, जिसमें अवसर या बाधाएं आती हैं। जिन्हें नीति एवं उद्देश्य की पूर्ति अथवा लक्ष्य की प्रक्रिया के प्रयत्न के प्रयुक्त करती है अथवा दूर करती है।''

निम्नलिखित बिन्दु लोकनीति के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझने में काफी सहायक होंगे।

1. लोकनीति लक्ष्योन्मुखी होती है। लोकनीति के निर्माण एवं क्रिया चयन का उद्देश्य सामान्यतः जनता के सर्वोच्च हितों की पूर्ति के लिए एवं सरकार के विचाराधीन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। लोकनीति से सरकारी योजनाऐं स्पष्ट होती हैं।
2. लोकनीति सरकार की सामूहिक गतिविधियों का परिणाम होती हैं। यह सरकार के अधिकारियों एवं कार्यकर्त्ताओं की सामूहिक गतिविधियों का प्रतिरूप अथवा प्रक्रिया है।
3. लोकनीति वह है जो सरकार वास्तव में करने का निश्चिय करती है अथवा करना चाहती है। यह एक निश्चित प्रशासनिक प्रणाली में सरकारी वर्ग का राजनीतिक वातावरण के विशिष्ट कार्य क्षेत्र से सम्बन्धित है। यह अनेक रूपों में अभिव्यक्ति होती है यथा- कानून, अध्यादेश, न्यायालय के निर्णय, कार्यकारी आदेश आदि।
4. लोकनीति सकरात्मक होती है क्योंकि यह सरकार की चिन्ताओं और विशिष्ट समस्या के प्रति उसकी गतिविधि को स्पष्ट करती है। लोकनीति के पीछे कानून की शक्ति व मान्यता होती है। नकारात्मक रूप में लोकनीति को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि यह किसी मुद्दे पर सरकारी अधिकारियों द्वारा कोई कदम न उठाने के रूप में भी अभिव्यक्त हो सकती है।

1.3.2 लोकनीति के प्रकार

लोक नीतियां विभिन्न प्रकार की होती हैं। मुख्यतः इनके प्रकारों का भेद अलग अलग मुद्दों पर आधारित है।

1. **तात्विक अथवा सारगत नीतियां-** तात्विक नीतियों का विकास समाज की आवश्यकतानुसार होता है। इन नीतियों का सूत्रीकरण संविधान के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए सामाजिक, आर्थिक कठिनाइयों को एवं समाज की नैतिक मांग को ध्यान में रखते हुए होता है। ये नीतियां किसी वर्ग विशेष से सम्बन्धित न होकर पूरे समाज के विकास से सम्बन्धित होती हैं। शिक्षा का प्रबन्ध एवं रोजगार के अवसर, आर्थिक स्थितीकरण, विधि और व्यवस्था बनाये रखना आदि इसी का प्रमाण है।
2. **नियन्त्रक नीतियां-** तात्विक नीतियों का सम्बन्ध व्यापार, व्यवसाय, सुरक्षा उपाय, जनोपयोगी आदि के नियन्त्रण से है। इस प्रकार का नियन्त्रण सरकार की ओर से काम करने वाली स्वतंत्र संस्थायें करती हैं। भारत में जीवन बीमा निगम, भारतीय रिजर्व बैंक, हिन्दुस्तान इस्पात, राज्य विद्युत परिषद, राज्य यातायात निगम, राज्य वित्तीय निगम आदि संस्थाऐं नियन्त्रक क्रियाओं में जुटी हुई हैं। इन सेवाओं से सम्बन्धित सरकार द्वारा बनायी गई नीतियां वह संस्थाऐं हैं जो यह सेवाऐं प्रदान करती हैं, नियंत्रक नीतियां कहलाती हैं।
3. **वितरक नीतियां-** वितरक नीतियां सम्पूर्ण समाज के लिए न होकर केवल समाज के विशिष्ट वर्गों के लिए होती है। ये माल के अनुदान के क्षेत्र में लोक कल्याण अथवा स्वास्थ्य सेवाओं आदि के क्षेत्र में हो सकती है। जैसे- प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम, खाद्य सहायता, बालवाड़ी पोशाहार, इन्दिरा महिला योजना, टीका शिविर आदि।
4. **पुनः वितरक नीतियां-** इनका सम्बन्ध नीतियों की पुनः व्यवस्था से है जो मूल सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन लाने से सम्बन्धित होती है। कुछ कल्याण सेवाओं एवं सार्वजनिक माल का वितरण समाज के विशिष्ट वर्गों से बेमेल होता है। अतः ऐसी सेवाओं एवं माल को पुनः वितरक नीतियों द्वारा सीमित किया जाता है।
5. **पूंजीकरण-** पूंजीकरण नीति के अन्तर्गत राज्यों एवं स्थानीय सरकारों को यूनियन सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त होती है और यदि आवश्यकता हो तो यह सहायता अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्रों को भी प्रदान की जा सकती है।

1.3.3 नीति तथा प्रशासन

लोक प्रशासन अपेक्षाकृत एक आधुनिक अनुशासन है। प्रारंभिक विद्धानों ने नीति-निर्माण और लोक प्रशासन को एक-दूसरे से असंबद्ध माना है। वे नीति-निर्माण को प्रशासन के कार्य क्षेत्र से बाहर मानते हैं। नीति और प्रशासन के बीच सुनिश्चित भेद करने का सर्वप्रथम श्रेय वुडरो विल्सन को जाता है। उन्होंने 1887 में प्रकाशित अपने निबन्ध ''प्रशासन का अध्ययन'' में राजनीति और प्रशासन के बीच अलगाव पर जोर दिया। उनका मानना था कि नीति-निर्माण एक राजनीतिक कार्य है जबकि प्रशासन का सम्बन्ध केवल नीतियों को लागू करने से है। उनका मानना था कि प्रशासनिक प्रश्न राजनीतिक नहीं होते। विल्सन का अनुसरण 'गुडनाउ' ने

भी किया और यही विचार रखा। इन दोनों के विचारों का प्रभाव आगे कई दशकों तक रहा। इसी क्रम में 1926 में व्हाइट ने अपनी पुस्तक "Introduction to the Study of the Public Administration" के प्रथम संस्करण में प्रशासन और राजनीति के बीच अलगाव की जोरदार वकालत की।

यह विचार आगे बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सका। विद्वानों ने यह माना कि प्रशासन और नीति को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग नहीं किया जा सकता। प्रशासन और राजनीति के अन्योन्याश्रय(Interdependence) सम्बन्ध पर अधिक बल दिया जाने लगा। लूथर गुलिक इस दृष्टिकोण के अग्रणी चिंतकों में से थे। एक अन्य महत्वपूर्ण विचारक 'एपल्बी' का दृष्टिकोण भी इसी मत के साथ जुड़ा है कि राजनीति और प्रशासन एक ऐसे युग्म की तरह हैं, जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता। एपल्बी के शब्दों में ''प्रशासक निरन्तर भविष्य के लिए नियम निर्धारित करते रहते हैं और प्रशासक ही निरंतर यह निश्चित करते हैं कि कानून क्या है, कार्यवाई के अर्थ में इसका तात्पर्य क्या है तथा इस प्रक्रिया में आदान-प्रदान और भविष्य के आदान-प्रदान के सम्बन्ध में दोनों पक्षों अर्थात् प्रशासन और नीति के अपने अलग-अलग अधिकार क्या होंगे। प्रशासक एक अन्य प्रकार से भी भावी नीति-निर्माण में भाग लेते हैं। वे विधान मंडल के लिए प्रस्तावों एवं सुझावों का स्वरूप निश्चित करते हैं। यह नीति-निर्माण का एक भाग होता है।''

संसदीय प्रणाली वाले देशों में नीति-निर्माण और प्रशासन को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका और विधायिका एक-दूसरे से अभिन्न होते हैं। विधायिका के सदस्य ही कार्यपालिका के सदस्य होते हैं और पूरी कार्यपालिका विधायिका के प्रति जवाबदेह होती है। ऐसी परिस्थिति में नीति-निर्माण और प्रशासन का एक अटूट रिश्ता बन जाता है। इस संदर्भ में पीटर ओडेगार्ड ने बिल्कुल ठीक कहा है कि नीति और प्रशासन राजनीति के जुड़वां बच्चे हैं जो एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते। उपरोक्त बातें न सिर्फ संसदीय प्रणाली वाले देशों के लिए सही हैं बल्कि अध्यक्षीय प्रणाली वाले देशों के संदर्भ में भी बहुत हद तक सही हैं, जहॉं शक्तियों के पृक्कीकरण का सिद्धान्त लागू होता है।

यह बात ठीक है कि नीति-निर्माण प्रधानतः विधायिका का काम है, क्योंकि नीति का आधार तथा प्रारूप विधान के द्वारा ही निर्धारित और निश्चित होता है। पर इस पूरी प्रक्रिया में प्रशासन का सहयोग महत्वपूर्ण होता है। जमीनी हकीकत और वास्तविक आंकड़े प्रशासन के माध्यम से प्राप्त होते हैं, जिनके आधार नीतियों का निर्माण किया जाता है। दूसरी बात यह है कि विधायिका के लिए यह संभव नहीं है कि एक बार व्यापक नीति बनाने के बाद कार्य किए जाने के क्रम में आने वाली विभिन्न तरह की समस्याओं के संदर्भ में उन नीतियों को आवश्यक विस्तार दे सकें, या उन्हें पुनः परिभाषित कर सकें। यह काम अंततः प्रशासन को ही करना होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नीति का उदगम(स्रोत) स्थल तो विधायिका है लेकिन आगे के सोपानों की रचना प्रशासन के ही भिन्न-भिन्न वर्ग करते हैं। हालांकि भारत जैसे देशों में नीति-निर्माण के कार्यों में प्रशासन की भूमिका निर्णायक होती जा रही है। पूरी नीति प्रशासन के द्वारा ही तैयार होती है, जिसे विभागीय मंत्री के माध्यम से सदन में प्रस्तावित किया जाता है।

बहुमत होने के कारण विधायिका में प्रस्ताव प्रायः स्वीकृत हो जाता है। इस तरह नीति-निर्माण में प्रशासन की भूमिका काफी अहम हो गई है।

1.3.4 नीति की अवधारणा

'लोक' के विचार की तरह 'नीति' की अवधारणा एक मूल्यवान शब्द नहीं है। नीति के अन्तर्गत अन्य तत्वों के अलावा कार्यवाही के लिए मार्गदर्शन शामिल होता है। यह निम्न स्वरूप अपना सकती हैं-

1. लक्ष्यों की एक घोषणा;
2. कार्यवाहियों की एक घोषणा;
3. आम उद्देश्य की एक घोषणा; और
4. एक अधिकारिक निर्णय।

होगवुड एवं गन ने 'नीति' शब्द के इन प्रयोगों को निर्धारित किया है:

1. गतिविधि के क्षेत्र के लिए एक स्तर के रूप में;
2. किसी वांछित स्थिति की अभिव्यक्ति के रूप में;
3. निश्चित प्रस्तावों के रूप में;
4. औपचारिक अधिकार के रूप में;
5. उत्पादन के रूप में;
6. निष्कर्ष के रूप में;
7. एक सिद्धान्त या प्रतिरूप के रूप में;
8. एक प्रक्रिया के रूप में।

दुर्भाग्यवश नीति अपने आप में ऐसी होती है जो अलग-अलग स्वरूप धारण करती रहती है। नीति को राजनीतिक प्रणाली के 'निष्कर्षों' के रूप में परिभाषित करने की कोशिश होती रही है। ''कई अलग-अलग गतिविधियों से जुड़ी कम या ज्यादा आत्मनिर्भर नीतियों के रूप में लोकनीति की व्याख्या करने की कम कोशिश होती रही है।'' लोकनीति के क्षेत्रों के अध्ययन में इसके विपरीत, नीति निर्णयों के विकास पर ध्यान केंद्रित किया गया है जो एक राजनीतिक विश्लेषण की जगह निश्चित बुद्धि संगत मूल्यों पर आधारित है। इस समस्या के केन्द्र बिन्दु को अन्य व्याख्याओं के जरिए पहचाना जा सकता है जिसका इस क्षेत्र के विद्वानों ने काफी विकास किया है।

लोक विज्ञान के अग्रणी अध्येताओं में से एक, वाई ड्रोट ने नीतियों की व्याख्या ''कार्यवाही के मुख्य मार्ग जिनका अनुसरण किया जाना हो उसके सम्बन्ध में आम निर्दशावली'' के रूप में की है। इसी तरह पीटर सेल्फ ने नीतियों की व्याख्या ''किस तरह कार्यों को समझा जाएगा एवं निष्पादन किया जाएगा, उसके सम्बन्ध में परिवर्तनशील निर्देशावली के रूप में किया है।''

सर जेफरी विकर्स मानते है कि नीतियां ''ऐसे निर्णय हैं जो कार्यवाहियों को दिशा, संगति और क्रम प्रदान करते हैं और जिनके लिए निर्णय लेने वाली संस्था उत्तरदायी होती है।'' कार्ल फ्रेडरीच नीतियों के बारे में कहते हैं ''एक निश्चित परिवेश में एक व्यक्ति, समूह व सरकार की

एक प्रस्तावित कार्यवाही, जहॉ अड़चनें और अवसर हों, जिन्हें नीति उपयोग करे और उन पर जीत हासिल कर लक्ष्य तक पहुँचे या एक विषय या उद्देश्य के रूप में प्रयोग करें।''

जेम्स एंडरसन मानते है कि नीति ''एक उद्देश्यपूर्ण कार्यवाही है जिसका पालन एक कर्ता या कई कर्ता एक समस्या या चिन्ता के विषय से निपटने के लिए करते हैं।''

सम्पूर्ण स्वरूप में नीति की व्याख्या एक उद्देश्यपूर्ण कार्यवाही के रूप में की जा सकती है, जिस पर सत्ता में रहने वाले निश्चित लक्ष्य या उद्देश्य को प्राप्त करने में लिए अमल करते हैं या अपनाते हैं। यहॉ पर भी जोड़ा जाना चाहिए कि लोक नीतियां ऐसी नीतियां हैं, जिन्हें सरकारी संस्थाऐं एवम् अधिकारी अपनाते हैं और क्रियान्वित करते हैं। डेविड इस्टोन लोकनीति की व्याख्या करते हुए कहते हैं ''पूरे समाज के लिए मूल्यों का अधिकारिक आवंटन।''

लोक नीतियों का संघटन इस्टोन के शब्दों में एक राजनीतिक प्रणाली में 'प्राधिकरणों' द्वारा किया जाता है।, जिनके नाम हैं- बुजुर्ग, अग्रणी प्रमुख, कार्यकारिणी, विधायिका, न्यायाधीश, प्रशासक, पार्षद, राजा एवम् अन्य। उनके अनुसार ये व्यक्ति ''राजनीतिक व्यवस्था के दैनिक मामलों से जुड़े होते हैं और व्यवस्था के अधिकतर सदस्यों द्वारा इन विषयों के प्रति उत्तरदायी माने जाते हैं। तथा ऐसी कार्यवाही करते हैं जो अधिकतर सदस्यों द्वारा तब तक स्वीकार किए जाते हैं जब तक अपनी भूमिकाओं के दायरे में कार्य किए गये हों।'' जे0 देवी (1927) ने कहा था कि लोकनीति 'जनता और उसकी समस्याओं' पर केन्द्रित होती है।

थॉमस ड्राई की परिभाषा है ''सरकार जो करना चाहती है या जो करना नहीं चाहती, वही लोकनीति है।'' इसी तरह रॉबर्ट लीनबेरी का कहना है कि ''सरकार अपने नागरिकों लिए जो करती है या जो करने में नाकाम रहती है, वही लोकनीति है।'' इन परिभाषाओं में सरकार द्वारा प्रस्तावित निर्णय और उनके क्रियान्वयन के बीच भिन्नता है।

1.3.5 लोकनीति की प्रकृति

एक नीति सामान्य या विशिष्ट, व्यापक या संकीर्ण, सहज या जटिल, सार्वजनिक या निजी, लिखित या अलिखित, स्पष्ट या धुंधली, संक्षिप्त या विस्तृत और गुणवत्ता सम्पन्न या संख्या सम्पन्न हो सकती है। यहॉ 'लोक नीति' को महत्व दिया गया है जिसे सरकार कार्यवाही की निर्देशावली के रूप में अपनाती है। लोकनीति के दृष्टिकोण से सरकार की गतिविधियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

पहली- ऐसी गतिविधियां जो निश्चित नीतियों से जुड़ी हों, दूसरी- ऐसी गतिविधियां जिनकी प्रकृति सामान्य हो और तीसरी- ऐसी गतिविधियां जो अस्पष्ट और असंगत नीतियों पर आधारित हो। हालांकि, व्यावहारिक धरातल पर एक सरकार शायद ही अपनी गतिविधियों के लिए सिद्धान्तों की एक निर्देशावली तैयार करती है। महत्वपूर्ण लोक नीतियों को अक्सर अधिक स्पष्ट बनाया जाता है। खास तौर पर जहॉ एक कानून, एक विनियम या एक योजना और उसके समकक्ष कोई मुद्दा जुड़ा हो। भारत का सर्वोच्च न्यायालय संविधान के कुछ अनुच्छेदों की अपने निर्णयों के माध्यम से नई व्याख्या प्रस्तुत कर सकता है, जिन्हें एक नई नीति का दर्जा मिल सकता है।

एक लोकनीति अपनी गतिविधियों के प्रमुख हिस्से को समाहित कर सकती है जो विकास की नीति के साथ संगतिपूर्ण होते हैं। सामाजिक-आर्थिक विकास, समानता या स्वतंत्रता या आत्मनिर्भरता या उसी तरह समकक्ष कार्यवाही के निर्देश के सिद्धान्त को एक विकासमूलक नीति या राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में अपनाया जा सकता है। एक लोकनीति संकीर्ण भी हो सकती है जो किसी निश्चित गतिविधि से सम्बन्धित हो, जैसे परिवार नियोजन। एक लोकनीति देश की सभी जनता पर लागू हो सकती है या नागरिकों के एक अंश पर ही लागू हो सकती है।

इसके अलावा सरकार के प्रत्येक स्तर पर केन्द्र, राज्य एवं स्थानीय स्तर पर निश्चित या सामान्य नीतियां हो सकती हैं। इसके अलावा 'महानीतियां' भी होती हैं। सभी निश्चित नीतियों द्वारा अपनाए जाने वाले सामान्य निर्देश को 'महानीति' कहते हैं। ड्रोर के अनुसार 'महानीतियां' एक प्रकार की मास्टर नीति का स्वरूप अपना लेती हैं, जो ठोस स्पष्ट नीतियों से अलग होती हैं और जो मुख्य लक्ष्यों के प्रतिष्ठान से जुड़ी होती हैं ताकि ठोस एवं निश्चित नीतियों के लिए निर्देशावली की भूमिका निभा सके। नीतियों से सामान्यतया निश्चित लक्ष्य या उद्देश्य अधिक अस्पष्ट या स्पष्ट अर्थों में जुड़े होते हैं। नजर आने वाले या नजर नहीं आने वाले के निष्कर्ष के रूप में नीतियां हो सकती हैं।

आधुनिक राजनीतिक प्रणालियों में लोक नीतियां उद्देश्यपूर्ण या लक्ष्य अभिमुख कदम होती हैं। इसके अलावा एक लोकनीति अपने स्वरूप में या तो सकारात्मक हो सकती हैं या नकारात्मक। अपने सकारात्मक स्वरूप में किसी खास समस्या से निपटने के लिए सरकार की किसी गुप्त कार्यवाही से जुड़ी रह सकती है, जिसके तहत उन विषयों पर कार्यवाही नहीं की जाती जिन पर सरकारी आदेश की जरूरत होती है। लोकनीति की एक विधिसम्मत गुणवत्ता होती है, जिसे नागरिक एक कानून के रूप में स्वीकार करते हैं। उदाहरणस्वरूप करों का अदा करना जरूरी है, नहीं तो व्यक्ति को जुर्माना देना पड़ सकता है या जेल जाना पड़ सकता है। लोक नीतियों की यह विधिसम्मत गुणवत्ता उन्हें निजी संगठनों से भिन्नता प्रदान करती है। अगर संबन्धित अवधारणाओं से तुलना की जाए तो कार्यवाही के एक उद्देश्यपूर्ण तरीके के रूप में नीति की प्रकृति को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. लोकनीति के अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
2. लोकनीति कितने प्रकार के होती है?
3. प्रशासन में लोकनीति की प्रासंगकिता पर प्रकाश डालिए।
4. लोकनीति के प्रकृति पर टिप्पणी लिखिए।

1.4 सारांश

समाज की उत्तरोत्तर वृद्धि से हो रही जटिलता के साथ-साथ लोकनीति के क्षेत्र का महत्व बढ़ता गया है। यह केवल सरकारी गतिविधियों के कारणों और परिणामों के विवरण और व्याख्या से ही सम्बन्धित नहीं होता, वरन् लोकनीति को आकार प्रदान करने वाली शक्तियों के बारे में विज्ञान सम्मत ज्ञान के विकास से संबंधित होता है। अध्ययन के अन्तर्गत विषय की

सामाजिक व्याधियों को समझने के लिए लोकनीति का अध्ययन काफी सहायक सिद्ध होता है। किसी सामाजिक प्रणाली को अतीत से भविष्य की तरफ गतिशील करने के लिए लोकनीति एक महत्वपूर्ण तंत्र है। उदारीकरण, निजीकरण एवम् भूमंडलीकरण के वर्तमान युग में शासन की भूमिका बदल गई है। सामान एवम् सेवाऐं प्रदान करना शासन का महत्वपूर्ण कार्य है। परन्तु आधुनिक परिस्थतियों में चूंकि शासन समाज की एक संस्था है, जिसका कार्य समाज के विकास के लिए निरन्तर होना चाहिए। फलस्वरूप इसकी योग्यता नीतियां बनाने और उन्हें लागू करने में निहित है। लोकनीति में जनता की लोकतांत्रिक अथवा राजनीतिक क्षमता का सुधार सम्मिलित है और यह सामान तथा सेवा प्रदत्त कराने की क्षमता से सम्बन्धित नहीं है। लोकनीति एक अनिवार्य सार्वजनिक शिक्षा की भूमिका निभाती है। नीति-निमार्ण का मुख्य लक्ष्य ऐसे मूल्यों का निर्माण करना है, जिनके जरिए समाज में व्यक्ति का सम्पूर्ण रूप से विकास सम्भव हो सके। वे लोगों को एकजुट करती है और अनुशासित स्थिति बनाये रखती है।

1.5 शब्दावाली

तात्विक- तत्व सम्बन्धी यर्थाथ, पूंजीकरण- पूंजी से संबंधित या आर्थिक, यादृच्छिक व्यवहार- अनियमित या अव्यवथित व्यवहार, अकस्मात- अचानक, लक्ष्योमुखी- लक्ष्य की ओर बढता हुआ, अलगाव- अलग करना या अलग होने की स्थिति।

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. लोकनीति के अर्थ का उत्तर इसी शीर्षक के अन्तर्गत मिलेगा। इसको विभिन्न विद्वानों ने अपने- अपने ढंग से व्याख्या की है।
2. लोकनीति के प्रकार को 1.3.2 में विस्तृत रूप से बताया गया है, कृपया ध्यान दें।
3. नीति और प्रशासन के मध्य सम्बन्धों का ध्यान पूर्वक अध्ययन करें।
4. लोकनीति के प्रकृति शीर्षक के अन्तर्गत ध्यान केन्द्रित करें।

1.7 संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. प्रशासन एवं लोकनीति, मनोज सिन्हा।
2. सामाजिक प्रशासन, सुरेन्द्र कटारिया।
3. विकास प्रशासन, ए0 पी0 अवस्थी।
4. लोक प्रशासन- संकल्पना एवं सिद्धान्त, रूमकी बशु।
5. लोक नीति- सूत्रीकरण, कार्यान्वयन तथा मूल्यांकन, आर0 के0 कपूर।

1.8 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. प्रशासन एवं लोकनीति, मनोज सिन्हा।
2. लोक नीति- सूत्रीकरण, कार्यान्वयन तथा मूल्यांकन, आर0 के0 कपूर।

1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोकनीति से आप क्या समझे हैं? इसको परिभाषित करते हुए इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

2. लोकनीति के अर्थ एवं परिभाषाओं को स्पष्ट करते हुए इसके प्रकार एवं ध्येय की विवेचना कीजिए।

इकाई-2 नीति चक्र: नीति-निर्माण की बाधाऐं

इकाई की संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 नीति-निर्माण का महत्व
2.3 नीति-निर्माण
    2.3.1 नीति निर्धारण
    2.3.2 नीति निर्माता
2.4 नीति-निर्माण की बाधाऐं
    2.4.1 व्यक्ति के रूप में
    2.4.2 संचार माध्यमों का प्रभाव
    2.4.3 दबाव समूह
    2.4.4 राजनीतिक दल
2.5 सारांश
2.6 शब्दावली
2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
2.9 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
2.10 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

नीति-निर्माण मूल रूप से शक्ति की ही अभिव्यक्ति है। शक्ति का वर्णन अन्य लोगों के व्यवहार में किसी प्रकार का परिवर्तन लाने की क्षमता के रूप में किया जाता है। किसी सामाजिक संदर्भ में इसे ''किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह की क्षमता के रूप में परिभाषित किया जाता है। जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों या समूहों के व्यवहार को उसी तरह से परिवर्तित कर सकता है जिस तरह वह चाहता है। लोकनीति के परिप्रेक्ष्य में शक्ति को किसी व्यक्ति या समूहों का सार्वजनिक महत्व के पदों पर आसीन व्यक्तियों द्वारा नीति निर्णयों को निर्धारित करने की क्षमता के रूप में परिभाषित किया जाता है। नीति-निर्माण विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों द्वारा सम्पन्न है। उदाहरणार्थ मंत्रीपरिषद के सदस्य, संसद के सदस्य, नौकरशाह, संगठित हित समूहों के नेता, नीति-निर्माण प्रक्रिया में कार्यरत बलों के प्रत्येक समूह कुछ निश्चित प्रकार के प्रभावों को प्रयोग में लाते हैं जो एक साथ मिलकर नीति-निर्माण की पूरी प्रक्रिया का निर्धारण करते हैं। इससे आशय यह है कि लोकनीति का निर्माण एक प्रक्रिया के द्वारा किया जाता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत निर्णयों के जटिल अंतर्सबन्ध आते हैं जो शक्ति सम्पन्न व्यक्तियों और समूहों के प्रभाव के अधीन स्थापित होते हैं।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नीति चक्र के अन्तर्गत नीति-निर्माण के महत्व को समझ पायेंगे।
- नीति-निर्माण में नीति निर्माताओं और नीति का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है, इसके बारे में जान पायेंगे।
- नीति-निर्माण में कौन-कौन से बांधक तत्व हैं, इस संबंध में जान पायेंगे।

2.2 नीति-निर्माण का महत्व

विकासशील राष्ट्रों में विभिन्न प्रकार की समस्याऐं व्याप्त हैं। उनसे निपटने के लिए लोकनीति का ही सहारा लिया जाता है। प्रत्येक प्रकार के संगठन में चाहे वह शासकीय हो या अशासकीय, प्रत्येक क्रिया से पूर्व नीति निर्धारण आवश्यक होता है। नीति ही एक ऐसे ढॉंचे का निर्धारण करती है, जिसके भीतर संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। नीति निर्धारण शासन का एक महत्वपूर्ण कार्य है। लोक नीतियां सरकारी निकायों एवं सरकारी अधिकारियों द्वारा विकसित की जाती हैं। यद्यपि गैर-सरकारी लोग और एजेन्सियां भी नीति-निर्माण प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभाव डालती हैं और उसे प्रभावित भी करती हैं। लोकनीति दोधारी तलवार के समान कार्य करती है। एक तरफ देश की तमाम समस्याओं की जड़ में लोकनीति है तो दूसरी ओर देश की तमाम समस्याओं का समाधान भी लोकनीति है। इस कारण, लोकनीति के अध्ययन का महत्व बहुत बढ़ जाता है।

2.3 नीति-निर्माण

नीति-निर्माण के लिए जिन आधारों की आवश्यकता होती है, इनके बारे में जानने का प्रयास करते हैं-

2.3.1 नीति निर्धारण

नीति निर्धारण में मुद्दे/समस्याऐं विभिन्न स्तरों से गुजरते हुए नीति का रूप धारण करते हैं। जनतांत्रिक समाज में सरकार का समस्याओं की ओर ध्यानाकर्षण के लिए विभिन्न तरीके अपनाये जाते हैं। संसद तथा राज्य विधान मण्डल के सदस्य इन मुद्दों को जनता का प्रतिनिधि होने के नाते संसद तथा विधान मण्डल में उठाते हैं। ये मुद्दे प्रमुखतयाः उन क्षेत्रों से संबंधित होते हैं, जिन मुद्दों पर सरकार या तो समुचित कार्यवाही करने में विफल रही हो अथवा सरकार के किसी कदम से कुछ समस्याऐं समाज में पैदा हो गयी हो। समाज में ऐसे संगठित दबाव समूह भी होते हैं जो किसी विशिष्ट दिशा में कार्यवाही करने की मॉंग करते हैं। जैसे 'फैडरेशन आफ इण्डियन चेम्बर्स आफ कामर्स एंड इंडस्ट्री'(FICCI) जैसी संस्थाऐं, केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों के संगठन- ट्रेड यूनियनें भी सरकार की नीतियों को प्रभावित करते हैं।

सामाजिक हित के आन्दोलन भी नीति निर्माताओं को नई नीति बनाने तथा परिवर्तन के लिए बाध्य करते हैं। सामाजिक आन्दोलन, जैसे चिपको आन्दोलन भी विशिष्ट मुद्दों पर संसार का ध्यान आकृष्ट करते हैं। स्वयं सेवी संस्थाऐं भी विशिष्ट समस्या की ओर सरकार का ध्यान

आकृष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जनसंचार माध्यम जनचेतना बढ़ाने तथा समाज में परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये समाचार-पत्रों तथा पत्रिकाओं के माध्यम से सरकारी नीतियों पर आलोचनात्मक टिप्पणी कर वैकल्पिक नीतियों के सुझाव पर बल देते हैं। सरकारें भी अपनी विचारधारा तथा प्रतिबद्धता के कारण नीतियां निर्धारित करती हैं। संविधान में वर्णित समाज का आदर्श भी सरकार की नीतियों को प्रभावित करता है। विपक्षी दल विभिन्न सार्वजनिक दलों तथा संसदीय मंचों का इस्तेमाल करके सरकार को विशेष नीति अपनाने के लिए बाध्य करते हैं। जनतांत्रिक समाज में सरकार न केवल अपनी विधाराधारा बल्कि समाज के विभिन्न संगठनों एवं समूहों, राजनीतिक व सामाजिक समूहों द्वारा मांगों को, नीतियों के निर्माण में ध्यान रखती है।

समस्या, के नीति एजेंडों में सम्मिलित होने के बाद ही सरकार उस समस्या के समाधान हेतु उद्देश्यों, लक्ष्यों तथा ध्येयों आदि के निर्णय की ओर अग्रसर होती है। समाधान के तीन चरण होते हैं।

1. **नीतियों के लक्ष्यों की व्यवहारिकता-** प्रथम चरण में ध्येय व उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं। इसमें किसी एक ऐसे परिप्रेक्ष्य का निश्चय किया जाता है जिसमें लक्ष्यों का निर्धारण किया जा सके। लक्ष्यों को निर्धारित करते समय यह भी ध्यान रखा जाता है कि इनको व्यवहार में लाना, किस सीमा तक संभव है। नीति के लक्ष्यों को यथार्थवादी होना आवश्यक होता है, जिससे नीतिगत लक्ष्यों को सरलता से प्राप्त किया जा सके। क्योंकि ऐसी नीतियां जिन्हें क्रियान्वित करना कठिन हो, नीतिगत लक्ष्यों को प्राप्त करना भी कठिन कार्य है।
2. **रणनीति-** द्वितीय स्तर पर नीतियों को अमल में लाने के लिए रणनीति तैयार की जाती है। जैसे गरीबी उन्मूलन के लिए विभिन्न प्रकार की रणनीति, बाजार मूल्य से कम पर भोजन व आवास उपलब्ध कराना, ऐसी परिसंपत्तियां प्रदान करना जिससे अतिरिक्त आय प्राप्त हो सके तथा उन्हें गरीबी रेखा से ऊपर उठाया जा सके। नीतिगत लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कई रणनीतियां एक साथ भी अपनायी जा सकती हैं।
3. **क्रियान्वयन-** इस स्तर पर नीतियों के क्रियान्वयन के तरीके का निर्धारण किया जाता है। कुछ रणनीतियों के लिए उपलब्ध प्रशासनिक ढांचे की आवश्यकता हो सकती है। नीतिगत लक्ष्यों के क्रियान्वयन में नौकरशाही तथा गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका को भी निर्धारित करना होता है।

2.3.2 नीति-निर्माता

भारत में नीति-निर्माण एक विकेन्द्रीकृत प्रक्रिया है, जिसमें विभिन्न अभिकरण अपनी-अपनी भूमिका निभाते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं-

1. **संविधान-** भारत में किसी भी नीति की पहली शर्त यह है कि वह किसी भी हालत में संविधान की मूल भावनाओं के विरूद्ध न हो। संविधान की प्रस्तावना और राज्य के नीति-निर्देशक तत्व विभिन्न नीतियों के प्रेरणा स्रोत होते हैं। इस तरह नीति-निर्माण में संविधान

की व्यापक भूमिका है। एक तरफ तो वह नीतियों के गलत व सही के निर्धारण का मानदंड है तो दूसरी तरफ वह नीतियों के लिए मार्गदर्शक की भूमिका निभाता है। किसी भी नीति को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वह संविधान सम्मत नहीं है या संविधान द्वारा घोषित लक्ष्यों और उद्देश्यों के विपरीत है। इस संदर्भ में संविधान की व्याख्या करने का अंतिम अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को है। अधिकांश मामलों में नीतियां संविधान के अनुकूल ही बनायी जाती हैं, लेकिन कई बार नीतियों के अनुकूल संविधान में संशोधन भी किया जाता है। अब तक हुए सौ से भी अधिक संशोधन इस बात की पुष्टि करते हैं कि नीतियों के अनुरूप भी संविधान में अपेक्षित बदलाव किए गए हैं। इस तरह नीतियों और संविधान का संबंध एकतरफा न होकर दोतरफा है। अर्थात् एकतरफ जहॉं नीतियों का मूल स्रोत संविधान है, वहीं कतिपय मामलों में नीतियां भी संविधान को प्रभावित करती हैं। ऐसा इसलिए संभव हो जाता है कि हमारा संविधान एक जड़ संविधान नहीं है। संविधान निर्माताओं ने इसमें युगानुकूल पर्याप्त परिवर्तन की काफी गुंजाइश छोड़ रखी है।

2. **संसद-** भारत में महत्वपूर्ण नीतियां संसद द्वारा स्वीकृत होती हैं। बड़े नीतिगत फैसलों में संसद की सहमति आवश्यक है। बजट पास करने का अधिकार संसद को ही है जो प्रत्येक नीति का केंद्रीय स्रोत है। भारतीय संसद बजट, अनुदान, पूरक मांगें, राष्ट्रपति के अभिभाषण पर चर्चा, प्रश्न काल आदि के माध्यम से नीति-निर्माण प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका के महत्वपूर्ण होने का एक और बड़ा कारण है। भारत में वैसे तो संघात्मक प्रणाली को अपनाया गया है, लेकिन व्यवहार में यहां एक मजबूत केन्द्र की स्थापना की गयी है। केन्द्र की तुलना में राज्यों के अधिकार एकदम न्यून हैं। संविधान में विभाजित संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची के विषयों में राज्य सूची के विषयों की संख्या बहुत ही कम है, जिन पर केवल राज्य नीति-नियम और कानून बना सकता है। राज्य सूची में किसी बड़े नीतिगत मामले को नहीं रखा गया है। ऐसे में संसद की महत्वपूर्ण भूमिका हो जाती है।
3. **मंत्रीमंडल-** भारत के लोकनीति निर्माण की केन्द्रीय धूरी मंत्रीमंडल है। समस्त नीतिगत निर्णय मंत्रीमंडल द्वारा ही लिए जाते हैं। मंत्रीमंडल नीति निर्धारण में केन्द्रीय और शक्तिशाली इकाई है। प्रत्येक विभाग या मंत्रालय की नीति का निर्धारण उस विभाग का मंत्री ही करता है। भारत में नीति-निर्माण के क्षेत्र में मंत्रीमंडल नीति-निर्माण की सर्वोच्च संस्था बनती जा रही है। संसदीय व्यवस्था होने के कारण हमारे यहां मंत्रीमंडल में वही लोग होते हैं, जिनका संसद में बहुमत होता है। इसलिए अगर किसी नीति को लेकर मंत्रीमंडल में सहमति बन जाती है तो उसका संसद में पास होना निश्चित हो जाता है। आज व्यवहार में मंत्रीमंडल ही नीति-निर्माण का मूल स्रोत हो गया है। कोई भी नीति संसद में विचारार्थ तभी प्रस्तुत की जाती है, जब उस पर पहले मंत्रीमंडल में सर्वसहमति बन जाती है। अगर किसी मामले पर मंत्रीमंडल में मतभेद हो तो उसे संसद में प्रस्तुत ही नहीं किया

जाता है। कहने का आशय यह है कि संसद में प्रस्तुत किसी भी सरकारी विधेयक के लिए मंत्रीमंडलीय सहमति अपेक्षित है।

4. **योजना आयोग-** नीति-निर्माण संबंधी प्रक्रिया में योजना आयोग भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। हालांकि यह मुख्यतः एक परामर्शदाता निकाय है, लेकिन वर्तमान समय में इसकी भूमिका काफी बढ़ गयी है। खासकर राज्यों को इसके सुझावों की अवहेलना करना काफी कठिन हो गया है। योजना आयोग देश के विकास के लिए अपना पांच वर्ष का ''रोडमैप'' जारी करता है। इसे पंचवर्षीय योजना के रूप मे पहचाना जाता है। सोवियत मॉडल से प्रभावित यह पंचवर्षीय योजना नेहरू की देन है। योजना आयोग का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है। इसके सदस्य देश के विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ होते हैं। योजना आयोग उन क्षेत्रों को चिन्हित करता है, जिन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है और उसी के अनुसार धन का आवंटन भी होता है। योजना आयोग द्वारा चलाई जा रही नीतियों की हर पांच साल के बाद समीक्षा की जाती है और तत्पश्चात आगे की पाँच साल की रूपरेखा खींची जाती है। पिछले अनुभवों और कार्यक्रमों के प्रभाव का विश्लेषण कर लक्ष्यों में भी अपेक्षित परिवर्तन किया जाता है।
5. **राष्ट्रीय विकास परिषद-** इसमें प्रधानमंत्री और राज्यों के मुख्यमंत्री शामिल होते हैं। विभिन्न योजनाओं, विशेषकर पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण में राष्ट्रीय विकास परिषद की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसमें विभिन्न राज्यों को अपना पक्ष रखने का मौका मिलता है। चूंकि राज्यों के पास आर्थिक संसाधन एकदम सीमित हैं, इसलिए विभिन्न नीतियों के क्रियान्वयन के लिए राज्यों को केन्द्र की इन एजेंसियों पर अधिक निर्भर रहना पड़ता है। राज्यों की इस मजबूरी का फायदा भी कई बार ये ऐजेंसियां उठाती हैं और कई तरह की नीतियों को मानाने के लिए राज्यों को बाध्य करती हैं। कई बार इन एजेंसियों द्वारा राज्यों के धन आवंटन में भेद-भाव का भी आरोप लगता है। जो पार्टी सत्तारूढ़ होती है वह अपनी राज्य सरकारों को अनुदान देने में उदारता बरतती है। वहीं विपक्षी पार्टी की राज्य सरकारों के अनुदान में कटौती भी कर देती है।
6. **न्यायपालिका-** न्यायपालिका भी नीति-निर्माण प्रक्रिया में अपना योगदान देती है। विभिन्न मसलों पर उसके फैसले और सुझाव लोकनीतियों को बहुत हद तक प्रभावित करते हैं। सरकार कई मामलों में सर्वोच्च न्यायालय से सलाह मांगती है। ये सलाह काफी हद तक नीतियों की मार्गदर्शक होती है। न्यायालय के फैसले कई बार नीति-निर्माण के आधार पर बनते हैं। कई बार न्यायालय के फैसले के पक्ष में नीतियां बनती हैं। फैसले को निरस्त करने के लिए संविधान में संशोधन किया जाता है। ''शाहबानो मामला'' इस तरह से संशोधन का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। हालांकि संविधान में हुए संशोधन को भी वैध या अवैध ठहराने का अंतिम अधिकार सर्वोच्च न्यायालय के पास ही है।
7. **दबाव समूह-** दबाव समूह नीतियों को काफी हद तक प्रभावित करते हैं। दबाव समूह सामान्य हित के आधार पर संगठित व्यक्तियों का समूह होता है। ये समूह नीतियों को

अपने अनुकूल बनाने के लिए हर संभव कोशिश करते हैं। ट्रेड यूनियन, छात्र संघ, महिला संगठन, अल्पसंख्यक मोर्चा आदि ऐसे ही दबाव समूह हैं जो नीतियों को प्रभावित करते हैं। भारत में जिस दबाव समूह की राजनीतिक और आर्थिक ताकत जितनी अधिक होती है, वह नीति-निर्माण को उसी अनुपात में प्रभावित करता है। अर्थात् किसी समूह विशेष की नीति-निर्माण को प्रभावित करने की ताकत इस बात पर निर्भर करती है कि सत्ता में उसकी कितनी हस्तक्षेपकारी भूमिका है। सत्ता में हस्तक्षेपकारी भूमिका के आधार पर ही कमजोर और ताकतवर दबाव समूहों की पहचान की जाती है। आर्थिक और राजनीतिक रूप से ताकतवर दबाव समूह ही नीतियों को बहुत अधिक प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। छोटे-छोटे कमजोर दबाव समूहों की कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं होती। उनकी आवाज प्रायः अनसुनी कर दी जाती है।

8. **राजनीतिक दल-** राजनीतिक दल चुनावी घोषणा पत्र द्वारा अपनी नीतियों को प्रस्तावित करते हैं। सत्ता प्राप्त करने के बाद वे मूलतः अपनी नीतियों को ही आगे बढ़ाते हैं। इस तरह सरकार की नीति में सत्ताधारी राजनीतिक दल की ही नीति होती है। जो दल विपक्ष में होते हैं वे भी नीतियों को काफी हद तक प्रभावित करते हैं। कई बार सरकार को विपक्षी दलों के भारी विरोध और दबाव के कारण प्रस्तावित नीतियों को वापस लेना पड़ता है। कई बार किसी मुद्दे को कोई खास राजनीतिक दल उठाता है, लेकिन कालांतर में वह सबका मुद्दा बन जाता है और सभी उसकी ओर ध्यान देना शुरू कर देते हैं। विचारधारा आधारित राजनीतिक दलों की खास नीतियां होती हैं, जिसको लेकर वे हमेशा संघर्षरत और प्रयासरत रहते हैं। इसी तरह क्षेत्रीय दलों की भी अपनी नीतियां होती हैं। भारत में बहुदलीय व्यवस्था होन के कारण प्रत्येक दल अपने-अपने वोट-बैंक की इच्छाओं के अनुरूप नीतियों के निर्माण के लिए दबाव बनाता है। कई बार तो किसी नीति विशेष के समर्थन में या विरोध में ही किसी नये राजनीतिक दल का उदय हो जाता है। इस तरह के दल येन-केन-प्रकारेण अपनी नीतियों के पक्ष में माहौल बनाने और उसे लागू करवाने को लेकर समर्पित होते हैं। राजनीतिक दल विभिन्न नीतियों के समर्थन में या विरोध में रैलियां, धरने, प्रदर्शन आदि का आयोजन करते रहते हैं। वस्तुतः विभिन्न तरह के राजनीतिक दल भारत के विविधता मूलक समाज में जनता की विभिन्न तरह की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए देश के नीति-निर्माताओं के लिए राजनीतिक दलों की उपेक्षा संभव नहीं है। विभिन्न राजनीतिक दलों की मांगों के बीच समन्वय एवं संतुलन से ही एक अच्छी नीति का निर्माण संभव है। चूंकि राजनीतिक दलों को प्रत्येक पाँच साल बाद चुनाव में जाना होता है, इसलिए वे नीति-निर्माण और उसके प्रभावों के प्रति किसी अन्य संस्था की तुलना में अधिक सचेत और जागरूक होते हैं।

9. **परामर्शदाती समितियां-** विभिन्न परामर्शदायी समितियां भी नीति-निर्माण को प्रभावित करती हैं। इसमें सरकार की कुछ स्थायी समितियों के अलावा उन सिमितियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है जो समय-समय पर सरकार द्वारा गठित की जाती हैं। ये समितियां

अपने सुझाव और सिफारिशें सरकार को सौंपती हैं जो संबद्ध मसलों पर नीति-निर्माण के लिए काफी कारगर होता है।

10. **मीडिया-** मीडिया भी जनमत को प्रभावित करता है। नीतियों के पक्ष या विपक्ष में जनमत के निर्माण में मीडिया प्रभावशाली भूमिका निभाता है। मीडिया वर्तमान में चल रही विभिन्न नीतियों पर न सिर्फ स्वतंत्र राय देता है, बल्कि आवश्यक नीतियों के लिए सुझाव भी देता है। मीडिया विभिन्न पक्षों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण कर जनपक्षधर नीति के लिए दबाव बनाने का काम करता है। भारत में मीडिया की भूमिका लगातार बढ़ती जा रही है। आज मीडिया प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नीतियों पर निगरानी का काम भी कर रहा है। वह नीतियों की खूबियों और खामियों को बखूबी उजागर कर रहा है। 'आर.टी.आई.' और 'मनरेगा' जैसे व्यापक नीतिगगत निर्णयों के उचित ढंग से क्रियान्वित नहीं हाने की तमाम खबरें मीडिया के माध्यम से सामने आ रही हैं। अगर किसी नीति का निर्माण किसी अनैतिक दबाव में हो रहा है या हुआ है तो मीडिया उसे उजागर करता है। नीतियों के निर्माण में आज मीडिया की राय अहम मानी जा रही है। ऐसी कई नीतियां हैं जिसमें मीडिया में हो रही आलोचना के दबाव में अपेक्षित परिवर्तन करने पड़े हैं। मीडिया जहॉ सरकार की गलत नीतियों की खिंचाई करता है, वहीं उसकी अच्छी नीतियों का जोरदार सर्मथन भी करता है। आज मीडिया विभिन्न तरह के दबाव समूहों को न सिर्फ मंच प्रदान करता है, बल्कि वह स्वयं एक शक्तिशाली दबाव समूह के रूप में प्रकट हुआ है जो नीतियों को प्रभावित करने में निर्णायक भूमिका निभा रहा है।

2.4 नीति-निर्माण की बाधाऐं

नीति के निर्माण में अनेक प्रकार की बाधाऐं हैं-

2.4.1 व्यक्ति के रूप में

नीति-निर्माण के अध्ययन का एक आयाम यह स्पष्ट करने से सरोकार रखता है कि कैसे व्यक्ति के रूप में या व्यक्तिगत रूप से कोई नागरिक निर्णय लेने वालों पर अपना प्रभाव डालता है। लोकतांत्रिक सरकार में लोगों के बारे में यह कहा जाता है कि वे स्वयं अपने-अपने भाग्य के विधाता हैं और राजनैतिक दृष्टि से संप्रभु हैं।

डोरोथौ प्रिकल्स के अनुसार दो अनिवार्य पूर्वावश्कताऐं हैं, जिन्हें सरकार की एक लोकतांत्रिक प्रणाली के अस्तित्व के लिए निश्चित रूप से पूरा किया जाना चाहिए। प्रथम, तो इसे यथा संभव सीमा तक सटीक ढंग से इन मुद्दों पर अधिकतम संभव संख्या में लोगों के विचार को व्यक्त करने में समर्थ होना चाहिए कि उनके प्रतिनिधि कौन होंगे और देश का शासन कार्य कैसे संचालित होना चाहिए। द्वितीय, इसे यह सुनिश्चित करने के तरीके प्रदान करने चाहिए कि जनता द्वारा चुने गए लोग वस्तुतः वही करते हैं जो मतदाता उनसे चाहते हैं और यदि वे ऐसा नहीं करते तो चुनावों के बीच भी उन्हें प्रतिस्थापित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में लोकतंत्र प्रतिनिधिक(Representative) और उत्तरदायी सरकार का द्योतक हो जाता है।

प्रतिनिधिक लोकतंत्र में यह माना जाता है कि शक्ति जनसाधारण से उत्पन्न होती है। प्रतिनिधित्व में जनता से विधायिका को प्रतिनिधायन का स्पष्ट निहितार्थ अंतर्भूत होता है। विधायिका के माध्यम से जनप्रतिनिधि कानून बनाते हैं और बहुमत से नीति संबंधी निर्णय लेते हैं, साथ ही कुछ निश्चित पदाधिकारियों को सार्वधिक निर्वाचन की प्रक्रिया में भाग लेने का व्यवहार यह सुनिश्चित करता है कि जिन लोगों का प्रतिनिधित्व किया जाता है उनके हितों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। लोकतंत्र में जनता विधायन और नीति-निर्माण की प्रक्रिया का आरम्भ उन प्रत्याशियों के लिए मतदान द्वारा करती है, जिनके विचारों और मूल्यों से वह अवगत होती है। फिर भी व्यवहार में नीति-निर्माण में नागरिक सहभागिता नगण्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से लोग अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं करते या दलीय राजनीति में भाग नहीं लेते केवल क्रियाशील होकर व्यक्ति के रूप में नागरिक विरले ही एक सशक्त राजनैतिक बल हो सकता है। इसके विपरीत जनसाधारण या जनता आकांक्षा और प्रयोजन की एकता का प्रतीक है। राजनीति में व्यक्तियों के बजाय समूह नीति-निर्माण के तरीके को प्रभावित करते हैं। पदधारियों के एक अपेक्षाकृत छोटे समूह को उन कार्यों के लिए जिम्मेदार माना जा सकता है जो वे संपादित करते हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि अधिसंख्यक लोग जो राजनीति से जुड़ते हैं, किसी राजनैतिक संगठन में शामिल होने के बजाय व्यक्तिगत आधार पर ही ऐसा करते हैं। वे न तो संगठित हितों से संबद्ध होते हैं और न ही सार्वजनिक मामलों में सक्रिय रूचि दर्शाते हैं। मतदान करते हुए भी वे नीतिगत अभिमुखों या प्राथमिकताओं से बहुत कम ही प्रभावित होते हैं। केवल एक अल्पसंख्यक समूह ही ऐसा होता है जिसके सदस्य भारत में केंन्द्रीय, राज्य और स्थानीय स्तरों पर विधायी, कार्यकारी और न्यायिक पदों पर आसीन होते हैं। सार्वजनिक सेवा में बड़ी संख्या में लोग होते हैं, किन्तु उनमें से ऐसे लोगों का प्रतिशत बहुत कम होता है जो सार्वजनिक या लोक नीतियों को प्रभावित करते हैं।

अतः सहजता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजनीति, आपेक्षित रूप से बहुत कम लोगों को आकर्षित करता है। राजनैतिक शक्ति का विश्लेषण करने के लिए न तो नागरिक और न ही जनसाधारण विशेष रूप से कोई संतोषजनक बल है। परन्तु यह एक तथ्य है कि कोई भी सरकार चाहे वह अधिनायकवादी ही क्यों न हो, जनता की आकांक्षाओं और रिवाजों के विरूद्ध नहीं जा सकती है। सरकार के नीति-निर्माण संबंधी प्रकार्य के अंतर्गत अनिवार्यतः जनता के हितों का ध्यान रखा जाना चाहिए। विश्व के सभी देशों में स्थापित सभी प्रकार की सरकरों ने यह अनुभव किया है कि संप्रभुता अंततः उस देश की जनता में निहित होती है।

2.4.2 संचार माध्यमों का प्रभाव

लोकतंत्र की एक पूर्वापेक्षा(शर्त) मुक्त संचार माध्यम है। संचार माध्यम नागरिक और सरकार के बीच सूचना या जानकारी के सेतु का काम करते हैं। वे सरकार द्वारा लिए गए निर्णयों के बारे में नागरिकों को जानकारी देते हैं। इस प्रकार जनसंचार माध्यम एक-दूसरे के निर्णयों के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं को **रूपायित** करने में सहायता करते हैं। निश्चित मुद्दों को सार्वजनिक रूप

से सामने लाकर संचार माध्यम समसामयिक मसलों के प्रति जनता की प्रतिक्रिया के परिप्रेक्ष्य में सरकार के लिए जानकारी के एक महत्वपूर्ण स्रोत का काम करते हैं।

चूंकि जनसंचार माध्यम संप्रेषण के साधनों के रूप में काम कर रहे हैं। अत: यह निश्चित करना महत्वपूर्ण है कि क्या सूचनाओं अथवा जानकारियों की प्रस्तुति में वे राजनैतिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं। यदि वे सरकार के निर्णयों तथा क्रियाकलापों को जनसाधारण के समक्ष और जनता के विचारों को सरकार के समक्ष प्रस्तुत करने में पूर्वाग्रह दर्शाते हैं तो वे लोकतंत्र की मूल संकल्पना को विरूपित(खराब) कर सकते हैं। यदि नागरिक लोकनीति या सार्वजनिक नीति के सम्बन्ध में युक्तपरक निर्णय लेने के लिए प्रतिबद्ध हैं तो संचार माध्यमों में उच्च कोटि की विश्वसनीयता होनी चाहिए। सरकार के बारे में जनसाधारण को जानकारी देने में संचार माध्यमों की भूमिका को लेकर उनकी गुणवत्ता गंभीर सरोकार(हित) का विषय है। यह देखा गया है कि राजनैतिक मुद्दों को प्रस्तुत करने की दृष्टि से, खासकर प्रेस की क्षमता सरकार के कार्यक्षेत्र और जटिलता के बजाय आधिकारिक गोपनीय तथ्यों अधिनियम, संसदीय विशेषाधिकार, मंत्रियों के दायित्व तथा अभियोगपत्र के कानूनों से अधिक प्रभावित होते हैं। सरकार पर प्रेस में जो कुछ प्रकाशित होता है उसके स्तर में ह्रास हो रहा है। ना तो निर्वाचित जन प्रतिनिधियों द्वारा और न ही निर्वाचक जनता द्वारा इस चलन को बदलने के लिए कोई मजबूत दबाव बन रहा है। जब संचार माध्यम किसी ऐसी स्थिति में जिसमें सरकार को जनता के प्रति अनुक्रियात्मक और जिम्मेदार माना जाता है, जनता के विचारों को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं तो वे नीति को निर्धारित करने की दृष्टि से भी प्रभावी हो जाते हैं।

2.4.3 दबाव समूह

व्यक्तिगत रूप से नागरिकों द्वारा व्यक्त सार्वजनिक विचार, दृष्टिकोण की तीव्रता या सघनता को नहीं दर्शाता। यह नीति में परिवर्तन के लिए प्रमुख आधार का काम नहीं करता है। अनेक नागरिकों में नीति-निर्माण की विषयवस्तु और प्रविधियों की जानकारी के लिए आवश्यक विशेषज्ञता का अभाव होता है। प्रायः वे यह नहीं जान रहे होते हैं कि सबसे अधिक प्रभाव दर्शाने के लिए अधिकारी को किस प्रकार के नीतिगत मुद्दों पर विचार करना चाहिए। केवल कार्य करते हुए व्यक्तिगत रूप से नागरिक विरले ही एक सार्थक सुदृढ़ शक्ति के रूप में उभर पाता है। दूसरी ओर ऐसे अनेक नागरिक हैं जो परस्पर भिन्न तथा संघर्षरत हितों एवं मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। लोक नीतियों को प्रभावित करने के उद्देश्य से साधारण नागरिक के लिए वैयक्तिक क्रिया की अपेक्षा सामूहिक क्रिया को अधिक प्रभावी माना जाता है। यदि किसी सामान्य उद्देश्य अथवा हित के लिए बड़ी संख्या में नागरिक संगठित नहीं हों तो उनके संदेशों और नीतिगत मुद्दों के व्यापक संचरण व प्रसार की संभावनाऐं धूमिल हो जाएगी। व्यक्तिगत रूप से किसी नागरिक के लिए हित समूह संप्रेषण या वैचारिक संचार का एक महत्वपूर्ण 'चैनल' या माध्यम होता है। हित समूह या दबाव समूह सार्वजनिक विचार के प्रभाव को बढ़ाने के महत्वपूर्ण साधन होते हैं। वे नीति संबंधी निर्णयों के संदर्भ में लोक अधिकारियों के साथ व्यक्तिगत तौर पर नागरिकों की अपेक्षा अधिक प्रभावी ढंग से संवाद-संप्रेषण कर सकते हैं।

संगठित नागरिकों द्वारा राजनैतिक प्रभाव का प्रयोग सरकार के लोकतांत्रिक स्वरूप की एक प्रमुख विशेषता है।

दबाव समूह औपचारिक ढांचों वाले संगठन हैं, जिनके सदस्य एक सामान्य हित में सहभागी होते हैं। वे राजनैतिक महत्व के पद को प्राप्त करने का प्रयास किए बिना सरकार के निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। वे व्यक्तिगत रूप से नागरिकों तथा नीति निर्धारकों के मध्य सेतु का काम करते हैं। व्यक्तिगत रूप से नागरिकों के लिए दबाव समूह संचार तथा शक्ति के सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं। वे नागरिकों को अपनी आशाऐं एवं आकांक्षाऐं लोक अधिकारियों तक संप्रेषित करने में सहायक होते हैं और इस उद्देश्य से नीति-निर्माण के व्यापक पक्षों तथा प्रविधियों(Techniques) में उन्हें विशेषज्ञता और कार्मिक-तंत्र प्रदान करते हैं। नीति निर्माताओं के हित समूह, विशेषज्ञता और राजनैतिक समर्थन प्रदान करने के साथ-साथ किसी सामान्य हित से जुड़े नागरिक समुदाय के एक बड़े अंश के दृष्टिकोण की प्रखरता को सामने लाता है। बदले में हित समूह नागरिकों और नीति निर्माताओं पर प्रभाव के क्षेत्र उत्पन्न करने में सक्षम हो पाते हैं। यदाकदा वे अपने हित के मुद्दे पर समर्थन की पड़ताल के लिए चुनावों में प्रत्याशियों को प्रायोजित करते हैं। फिर भी वे विरले ही सफल माने जाते हैं।

साथ ही हित समूहों के नेताओं को सार्वजनिक बोर्डों, परिषदों या समितियों से जुड़ने और उनको सदस्य बनने के लिए आमंत्रित किया जाता है। इस तरह के आमंत्रणों के मूल में उनकी विशेषज्ञता, योग्यता और कौशल होता है। हित समूहों और सरकारी कार्यालयों के बीच भेद इस तथ्य के कारण बहुधा मिट जाता है कि सरकारी संस्थाऐं समय-समय पर गुटबंदी का शिकार हो सकती हैं। यहॉ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सभी दबाव समूह केवल राजनैतिक प्रभाव तथा क्रियाकलाप से ही सरोकार नहीं रखते हैं। उदाहरण के लिए भारतीय वाणिज्य और उद्योग परिसंघ 'फिक्की' (फेडरेशन ऑद दी इंडियन चैंबर्स ऑफ कॉमर्स ऐं ड इंडस्ट्री) अपने घटक निकायों को नए विधान, मूल्यों, व्यावसायिक निवेशों, मार्कओं (ट्रेड मार्क) आदि जैसे मुद्दों पर व्यापक रूप से सलाह दे सकता है।

2.4.4 राजनीतिक दल

राजनीतिक दल सार्वजनिक विचार के प्रभाव को बढ़ाने वाले एक अन्य साधन का काम करते हैं। दबाव समूहों की तरह वे नागरिकों तथा नीति निर्धारकों के मध्य सेतु जैसे होते हैं। जिन राजनीतिक मंचों पर चुनाव लड़े जाते हैं वे किसी दल के नेतृत्व के लिए आधार का काम करते हैं।

इस प्रकार राजनीतिक दलों को सरकार तथा लोक नीतियों पर लोकप्रिय नियंत्रण स्थापित करने के लिए महत्वपूर्ण 'एजेन्ट' माना जाता है। वे महत्वपूर्ण मुद्दों को प्रकाश में लाने तथा समाज के लिए मूल्याधारित लक्ष्य निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वर्क के अनुसार ''राजनैतिक दल मनुष्यों का एक निकाय है जो विशिष्ट तथा सर्वसम्मति से स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर राष्ट्रीय हित को प्रोत्साहित करने के लिए एक सूत्र में आबद्ध(जुड़े) होते हैं।''

चूंकि लोक नीतियों के निर्धारण में राजनैतिक दलों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। उनके लिए निम्नलिखित शर्तों का पालन करना अनिवार्य है-

1. दलों के कार्यक्रम अवश्य होने चाहिए।
2. प्रत्येक दल के प्रत्याशियों को इसके कार्यक्रम के प्रति समर्पित होना चाहिए।
3. दलों को अपना कार्यक्रम जनसाधारण के समक्ष निश्चित रूप से प्रस्तुत करना चाहिए।
4. विरोधी दलों को वैकल्पिक कार्यक्रम अनिवार्य रूप से प्रस्तुत करना चाहिए।
5. जिस दल को बहुमत मिलता है, उसे सरकार की बागडोर संभालनी चाहिए।
6. जो दल चुनाव जीतता है, उसमें आंतरिक संसक्तता और अनुशासन होना चाहिए ताकि वह अपना कार्यक्रम संचालित कर सके।
7. चुनाव जीतने वाले दल को अपना कार्यक्रम निश्चित रूप से क्रियान्वित करना चाहिए।
8. सत्तारूढ़ दल को सरकार के प्रदर्शन की जिम्मेदारी अनिवार्य रूप से स्वीकार करनी चाहिए।
9. विपक्षी दल को सरकार का नियंत्रण अपने हाथों में लेने के लिए तैयार रहना चाहिए।
10. एडवर्ड्स और शारांस्की आगे कहते हैं, ''इन शर्तों के अंतर्गत काम करने वाली एक द्विदलीय प्रणाली मतदाताओं के समक्ष प्रस्तुत विकल्पों का सरलीकरण कर देगी, उन्हें नीति संबंधी मुद्दों पर अपने दृष्टिकोण प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने का अवसर देगी। राजनीति में जनसाधारण की सहभागिता को सहज बनाएगी, बहुमत पर आधारित शासन को प्रभावी बनाएगी और सरकार पर लोकप्रिय नियंत्रण स्थापित करेगी।'' इस प्रकार सरकारी नीति का एक महत्वपूर्ण कारक दलगत नीति है। अतः सरकार में नीतिगत पहल को निर्धारित या मूर्त करने वाले बलों को समझने के क्रम में राजनैतिक दलों के शक्ति-वितरण को जानना आवश्यक है।

नेतृत्व (संसदीय समूह) की शक्ति और उसके अंदर स्वयं नेता की शक्ति सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह देखा जाता है कि नीतिगत परिवर्तनों का सूत्रपात सत्तासीन दल के नेतृत्व द्वारा होता है और दल के नेताओं को अपनी प्रस्थितियां विभिन्न वर्गों से संबद्ध चयनकर्ताओं के कारण प्राप्त होती हैं। इस दृष्टि से ये चयनकर्ता नीति के चयन का नीतिगत प्राथमिकता में व्यापक योगदान करते हैं। यद्यपि सामान्य तौर पर नेतृत्व की प्रधानता की स्थिति ही दृष्टिगोचर होती है।

दल का नेता नियुक्ति की शक्तियों का प्रयोग कर सकता है जो उसके दल से संबंधित संगठनों पर नियंत्रण स्थापित करने में समर्थ बनाता है। उसे सत्तासीन होने के बाद कैबिनेट के सदस्यों के चयन का अधिकार भी होता है। संसदीय समूह के बाहर दल उसे पदच्युत नहीं करता है। संसदीय दल के अंदर नेता या नेतृत्वकर्ता विशेषकर पदासीन रहकर नीतिगत चयनों और प्राथमिकताओं को व्यापक रूप से प्रभावित करने में सक्षम होता है।

विपक्षी दल के नेता के रूप में वह नीति-निर्माण की शक्ति के संभावित प्रयोग की क्षमता से वंचित नहीं होता है। इस प्रकार राजनीतिक दलों के आम सदस्य अत्यंत सकारात्मक भूमिका

निभाते हैं। किसी दल के सामान्य सदस्यों का अस्तित्व अपने नेता का समर्थन एवं उसके प्रति निष्ठावान व प्रतिबद्ध होने में ही निहित होता है। फिर भी सामान्य सदस्यों का समर्थन अर्थव्यवस्था, विदेश नीति और कराधान नीति में राज्य की भूमिका जैसे आधारभूत महत्व के मुद्दों पर किसी गुट की सफलता के लिए अत्यंत आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए भारत में समाजवादी जनता दल के अंदर गुटबंदी बहुत सामान्य रही, क्योंकि यह दल भिन्न-भिन्न विचारधारात्मक दृष्टिकोणों का गठबंधन था।

किसी दल से संबद्ध विभिन्न पदों (जैसे अध्यक्ष, महासचिव, उपाध्यक्ष) पर नियंत्रण स्थापित करके भी उसकी नीतियों के चयन को प्रभावित किया जा सकता है। ऐसा देखा गया है कि दल के नेता स्वयं दलीय पदों पर सुदृढ़ पकड़ बनाए रखते हैं। वे (दल के नेता) सभी दलों द्वारा नहीं बल्कि अपने संसदीय सहकर्मियों द्वारा चुने जाते हैं। किसी संसदीय लोकतंत्र में दल का नेता संसदीय दल (उदाहरण के लिए कांग्रेस, भाजपा, राजपा, जेडीयू आदि) द्वारा मतदान के आधार पर चुना जाता है। जहॉं तक मंत्रियों के चयन का प्रश्न है, जब किसी दल को बहुमत से समर्थन मिलता है और वह सत्तारूढ़ हो जाता है तो यह उसके नेता पर निर्भर होता है।

अमेरिका के राजनीतिक दलों की तरह भारत के दल बहुत हद तक मध्यस्थता पर आधारित संगठन होते हैं जो सामाजिक दशाओं के प्रति सजग नीतिमूलक पदों या प्रस्थितियों को बढ़ावा देने के बजाय सार्वजनिक महत्व के पद प्राप्त करने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। उद्यम, अर्थव्यवस्था, निर्धनता और बेरोजगारी उन्मूलन कार्यक्रम, श्रम तथा कारोबार पर केंद्रित सरकारी विनियम आदि जैसे विभिन्न मुद्दों पर विभिन्न दलों के बीच टकराव व संघर्ष प्रायः होते रहते हैं। दलीय संघर्ष की यह स्थिति विशेष रूप से पंचवर्षीय योजनाओं में स्पष्ट दिखाई देती है जो राष्ट्रीय सरकार के सबसे महत्वपूर्ण नीतिगत दस्तावेज होते हैं। केन्द्र तथा राज्य स्तरों पर बजट के प्रस्तुत एवं पारित होने के समय भी दलीय संघर्ष का होना निश्चित होता हैं बजट को प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री के दृष्टिकोण की परिणति माना जाता है और इसे उसके दल की पूर्ण स्वीकृति प्राप्त होती है। विभिन्न विधेयकों के कुछ निश्चित पक्षों पर प्रायः सभी दलों में सहमति नहीं होती।

भारत में राजनीतिक दलों पर केंद्रित अध्ययन यह इंगित करते हैं कि वे उत्तरदायी या जिम्मेदार दलों के लिए आवश्यक शर्तों को पूरा नहीं करते। समाज के अलग-अलग वर्गों के लिए उनके कार्यक्रम और उन्हें आकृष्ट करने के तरीके भिन्न- भिन्न होते हैं। वे कोई एकल राष्ट्रीय दृष्टिकोण व्यक्त करने में और फिर इसे एक व्यापक कार्य योजना के रूप में लागू करने में अक्षम होते हैं। साथ ही दल के नेताओं के लिए चुने गए अधिकारियों की गतिविधियों पर नियंत्रण रख पाना कठिन होता है। इन सबके अतिरिक्त यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि कार्यपालिका पर प्रधानमंत्री का लगातार नियंत्रण बना रहता है, पर वह स्वयं विधायिका पर आश्रित होता है। इसके फलस्वरूप जब कभी नीति निर्धारण के क्रम में सत्तारूढ़ दल के अंदर अनुशासन एवं सशक्तता को सुनिश्चित करने का प्रयास किया जाता है तो दल की स्थिति कमजोर होती है।

यह तर्क दिया गया है कि ''दल का प्रभाव केवल उसी स्थिति में ठोस ढंग से व्यक्त हो सकता है जब विभिन्न दल विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक दशाओं को निरूपित करते हैं। जब किसी राज्य के चुनाव क्षेत्र, सामाजिक एवं आर्थिक आधारों पर विभाजित होते हैं और चुनाव क्षेत्र के इस तरह के विभाजन की ही तरह दल का विभाजन भी होता है, उस स्थिति में केवल दल का कार्यक्रम तथा अनुशासन विधायी 'चैंबरों' में प्रभावी हो पाऐंगे।'' इसके साथ यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि भारत में प्रायः विपक्षी दलों में एकता का अभाव होता है, परिणामस्वरूप मतदाताओं के समक्ष सशक्त वैकल्पिक नीतियां नहीं आ पाती।

संक्षेप में कहें तो यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से राजनैतिक दल नीति-निर्माण की प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका निभाते हैं, वे लोक आकांक्षाओं के साथ पूर्ण तादात्म्य नहीं दिखा पाते हैं। वे महत्वपूर्ण संस्था हैं पर लोकनीति पर उनके प्रभाव को अत्यधिक सकारात्मकता से प्रस्तुत करना सही नहीं होगा।

अभ्यास प्रश्न-

1. नीति निर्धारण से आप क्या तात्पर्य रखते हैं?
2. नीति-निर्माण में राष्ट्रीय विकास परिषद की क्या भूमिका है?
3. दबाव समूह पर प्रकाश डालिए।
4. राजनीतिक दलों की भूमिका की समीक्षा कीजिए।

2.5 सारांश

नीति-निर्माण एक अत्यन्त जटिल विश्लेषणात्मक तथा राजनैतिक प्रक्रिया है, जिसका कोई प्रारम्भ या समापन नहीं होता है और जिसकी सीमाएं पूरी तरह अनिश्चित होती हैं। येन-केन-प्रकारेण शक्तियों की जटिल सामूहिक नीति-निर्माण में कटिबद्ध हैं और सामूहिक रूप से जो प्रभाव उत्पन्न करती हैं उन्हें नीतियॉं कहते हैं। संसद के लिए भारतीय संविधान द्वारा कानून पारित करके नीति-निर्माण में लोगों के प्रतिनिधित्व का प्रकार्य सुनिश्चित किया गया है। नीति-निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से कुछ संस्थाऐं अपनी सहभागिता नहीं दर्शाती हैं, परन्तु परोक्ष रूप में महती भूमिका अदा करती हैं। जिनका उल्लेख नीति-निर्माण की बाधाओं में किया गया है।

2.6 शब्दावली

येन केन प्रकारेण- हर संभव प्रत्यन्न, रणनीति- कार्य करने की योजना, युगानुकूल- समय के अनुसार, पूर्वावश्यकताऐं- पहले की आवश्यकताऐं, पूर्वापेक्षा- शर्त या पहले से की गई इच्छा, विरूपित- बुरा, युक्तपरक- ठीक या सही, संप्रेषण- संचार, अनुक्रियात्मक- उत्तरदायी

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. इसका उत्तर 2.3.1 में निहित है।
2. राष्ट्रीय विकास परिषद, पंचवर्षीय योजनाओं में प्रमुख भूमिका निभाती है। इस परिषद में प्रधानमंत्री एवं सभी प्रान्तों के मुख्यमंत्री सम्मिलित होते हैं।
3. दबाव समूह नामक शीर्षक के अन्तर्गत इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है। कृपया ध्यान पूर्वक अध्ययन करें।

4. राजनीतिक दल नीति-निर्माण को बहुत प्रभावित करते हैं। पक्ष या विपक्ष दोनों प्रकार के दल हमेशा एक दूसरे की अवहेलना और दबाव बनाने में सदैव तत्पर रहते हैं। वैसे विस्तार में पढ़ने के लिए 2.4.4 का अध्ययन परम आवश्यक है।

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. लोक नीति- सूत्रीकरण, कार्यान्वयन तथा मूल्यांकन, आर0 के0 सप्रू।
2. लोक प्रशासन के उभरते आयाम, डॉ0 श्रीमती अनुमप शर्मा।
3. प्रशासन एवं लोक नीति, मनोज सिन्हा।

2.9 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. लोक नीति- सूत्रीकरण, कार्यान्वयन तथा मूल्यांकन, आर0 के0 सप्रू।
2. प्रशासन एवं लोक नीति, मनोज सिन्हा।

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में लोक नीति-निर्माण में विभिन्न संगठनों की भूमिका का वर्णन कीजिए।
2. राजनीतिक दलों के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए।
3. लोक नीति-निर्माण के दबाव समूहों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।

इकाई-3 लोक नीति-निर्माण का माहौल

इकाई की संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 महत्व
3.3 नीति निर्माण
3.3.1 नीति विश्लेषण की प्रणाली
3.3.1.1 नीति विश्लेषण के लिए संस्थायी उपागम
3.3.2 तर्कसम्मत नीति निर्माणक मॉडल
3.3.2.1 सिमॉन के मॉडल
3.3.3 सरकारी नीति निर्माता
3.3.4 नीति-निर्माण में गैर-सरकारी सहभागी
3.4 सारांश
3.5 शब्दावली
3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.7 संदर्भ ग्रन्थ-सूची
3.8 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
3.9 निबंधात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

लक्ष्य, उद्देश्य, नीति तथा प्रयोजन आदि शब्दों का व्यवहार बहुधा एक ही अर्थ में एक-दूसरे की जगह किया जाता है। वास्तविक विशिष्टता के कारण इनमें अंतर होता है। लक्ष्य तथा उद्देश्य का सम्बन्ध व्यापक अभीष्ट(मांग) से होता है। इसी अभीष्ट की प्राप्ति के लिए नीतियों तथा प्रयोजनों (Objectives) का निर्माण किया जाता है। इस अर्थ में लक्ष्य तथा नीति मूल्यात्मक पद हैं और इनका सम्बन्ध चीजों की उस सूदूरवर्ती अवस्था से है जिन्हें प्राप्त करने का संकल्प किया जाता है। इस प्रकार गरीबी-उन्मूलन को एक लक्ष्य माना जा सकता है। जिसका भारत सरकार अनुगमन करना चाहती है। इस आधार पर ग्रामीण विकास, शहरी विकास तथा औद्योगिक विकास की नीतियाँ बनाई गई हैं जो इस व्यापक सार्वजनिक लक्ष्य की प्राप्ति के साधक हैं। इस संदर्भ में नीतियों को वृहद उपकरण माना जा सकता है।

नीति-निर्माण तथा निर्णय-निर्माण में एक सूक्ष्म अंतर है। ज्याफ्री वाईकर्स(Geoffery Vickers) ने नीति-निर्माण तथा क्रियाशील निर्णय में अन्तर करते हुए कहा है कि ''नीति-निर्माण का कार्य क्रियाकलाप का निर्देशन करना, उनमें समन्वय लाना तथा निरंतरता उत्पन्न करना है। इसके लिए नीति-निर्माणकारी निकाय उत्तरदायी होता है। निर्णय अभिग्रह का प्रयोजन इस प्रकार से लागू हाने वाली नीतियों को प्रभावी बनाना है।'' कार्यकारी निर्णय तथा नीतिगत निर्णय में अन्तर स्थापित करते हुए वाइकर्स का कहना है- ''नियमनकारी क्रियाकलाप का वह

तत्व जो वर्तमान प्रशासनिक स्थितियों में मामलों के पूरे घटनाक्रम की देखभाल करता है, उसे मैं कार्यकारी निर्णय कहता हूँ। शासकीय स्थितियों के आपसी सम्बन्धों के संशोधन का काम करने वाला तत्व, नीति-निर्माण का तत्व है।''

3.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक नीति-निर्माण के माहौल का महत्व समझ पायेंगे।
- लोक नीति-निर्माण के माहौल की विश्लेषण प्रणाली और तर्क सम्मत नीति निर्माणक मॉडल को समझ पायेंगे।

3.2 महत्व

लोकतांत्रिक समाज में एक राज्य सरकारी संरचनाओं और संस्थाओं का जाल होता है। राज्य की कई भूमिकाऐं होती हैं। यह संघर्षशील सामाजिक एवं आर्थिक हितों के बीच सांमजस्य बनाये रखने की कोशिश करता है। सकारात्मक राज्य को समुदाय के सभी वर्गों का अभिभावक माना जाता है। नीति-निर्माण में न केवल नीतिगत विषय वरन् नीति-निर्माता के अवबोधन(अनुभव) और मूल्य भी होते हैं। नीति-निर्माण में सम्मिलित सभी संस्थाओं का बहुत योगदान होता है। निर्णयात्मक नीति वास्तविक रूप से नीति को आकार तब प्रदान करती है जब यह सरकारी संस्थाओं द्वारा अपनायी एवम् लागू की जाती है। सरकार नीति को वैधानिक प्राधिकार प्रदान करती है। लोकनीति विधान मण्डल का प्रतिपादन है तथा इसे वैधानिक अनुमोदनों द्वारा विशिष्ट बनाया गया है। इसे ऐसी वैधानिक बाध्यता के रूप में माना जाता है जो लोगों की आज्ञाकारिता को नियंत्रित करता है। राज्य नीतियों का उल्लंघन करने वालों पर इसे वैधानिक रूप से लागू करता है। नीतियां राज्य के समस्त नागरिकों पर लागू होती हैं। यह समाज के प्रत्येक वर्ग के आर्थिक हितों की रक्षा करने में समर्थ होता है।

3.3 नीति-निर्माण

3.3.1 नीति विश्लेषण की प्रणाली

नीति-निर्माण प्रक्रिया को समझने के लिए प्रणालियों का सिद्धान्त समझना अत्यन्त उपयोगी होता है। राजनीतिक प्रणालियों का विश्लेषण में डेविड ईस्टन कहते हैं कि राजनीतिक प्रणाली समाज का वह अंग है जो ''मूल्यों के प्राधिकृत विधान'' में सम्बन्ध रहता है। निवेशों को वातावारण में भौतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उत्पादों के रूप में देखा जाता है। वे राजनीतिक प्रणाली में मांगों और समर्थन दोनों रूपों में प्राप्त किये जाते हैं। मांगों का दावा राजनीतिक प्रणाली पर व्यक्तियों तथा समूहों द्वारा वातावरण के कुछ पहलुओं को परिवर्तित करने के लिए किया जाता है। मांगें उस समय उठती हैं जब व्यक्ति या समूह वातावरणीय दशाओं में प्रतिक्रिया स्वरूप लोकनीति को प्रभावित करने के लिए कार्य करते हैं।

वातावरण को राजनीतिक प्रणाली की सीमाओं से बाहर की किसी दशा अथवा घटना के रूप में परिभाषित किया गया है। राजनीतिक प्रणाली के समर्थन में नियम, कानून और रीतियां

शामिल होती हैं जो राजनीतिक सम्प्रदाय या प्राधिकारियों को कायम रखने के लिए आधार प्रदान करती हैं। यह तब होता है जब व्यक्ति या समूह निर्णयों अथवा कानूनों को स्वीकार कर लेते हैं।

राजनीतिक प्रणाली के मूल में नीति-निर्माण के लिए संस्थाऐं कार्मिक होते हैं। इनमें मुख्य प्रशासक, विधायक, न्यायाधीश एवं अधिकारी तंत्र शामिल होते हैं। प्रणाली के रूप में वे निवेशों को उत्पादनों में परिवर्तित करते हैं।

तब उत्पादन राजनीतिक प्रणाली के प्राधिकृत मूल्य विधान होते हैं तथा ये विधान लोकनीति अथवा नीतियों का निर्माण करते हैं। प्रणाली सिद्धान्त लोकनीति को राजनीतिक प्रणाली के उत्पादन के रूप में वर्णित करता है। पुन: सत्यापन की संकल्पना यह उल्लिखित करती है कि लोकनीतियां वातावरण पर प्रभाव को कम कर सकती हैं तथा उसमें मांगें उत्पन्न होती हैं और राजनीतिक प्रणाली की प्रकृति पर प्रभाव डाल सकती हैं। नीति उत्पादन नयी मांगों अथवा समर्थनों को उत्पन्न कर सकते हैं तथा प्रणाली के लिए पुराने समर्थनों को वापस ले सकते हैं। प्रतिपुष्टि(Feedback) भावी नीति के लिए उचित मॉगों को उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

नीति के लिये प्रणालियों के उपागम की सीमाऐं, प्रणालियों के सिद्धान्त नीति-निर्माण विधि को समझने में उपयोगी होता है तथा नीति विश्लेषणों में इसका मूल्य इन प्रश्नों में निहित होता है-

1. वातावरण के महत्वपूर्ण आयाम क्या हैं जो राजनीतिक प्रणाली पर मॉगें उत्पन्न करते हैं?
2. राजनीतिक प्रणाली की महत्वपूर्ण विशिष्टताऐं क्या हैं जो मांगों को लोक नीतियों में परिवर्तित करने तथा स्वयं समय बचाने के लिए उपयुक्त हैं?
3. वातावरणीय निवेश किस प्रकार राजनीतिक प्रणाली को प्रभावित करते हैं?
4. राजनीतिक प्रणाली की विशिष्टताऐं किस प्रकार लोकनीति की संतुष्टि को प्रभावित करती हैं?
5. वातावरणीय निवेश किस प्रकार लोकनीति की संतुष्टि को प्रभावित करते हैं?
6. लोकनीति किस प्रकार प्रतिपुष्टि, वातावरण एवं राजनीतिक प्रणाली की प्रकृति द्वारा प्रभावित की जाती हैं?

फिर भी अनेक कारणों से लोक प्रशासन के अध्ययन के लिए प्रणालियों के मॉडल की उपयोगिता सीमित है।

इस मॉडल की आलोचना कल्याणकारी अर्थव्यवस्थाओं की मूल्य-युक्त तकनीकों का प्रयोग करने के कारण हुई है जो स्पष्टतया परिभाषित ''सामाजिक कल्याण कार्य'' की महत्व वृद्धि पर आधारित है।

प्रणाली उपागम में लुप्त तत्व हैं नीति-निर्माण की शक्ति, कार्मिक एवं संस्थाऐं। इनका परीक्षण करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राजनीतिक निर्णयकर्ता राजनीतिक प्रणाली के परिवेश में आर्थिक कारकों द्वारा अत्यधिक प्रतिबंधित होते हैं।

यह इस्टोनिआई मॉडल भी नीति प्रक्रिया के एक महत्वपूर्ण तत्व की उपेक्षा करता है। नीति-निर्माण (संस्थाओं सहित) जिस परिवेश में वे कार्यशील होते हैं, उस परिवेश को प्रभावित करने की काफी क्षमता रखते हैं। पारम्परिक आगत-निर्गत मॉडल में निर्णयन प्रणाली प्रेरणार्थक (कारणवचाक) के बदले 'सुविधाकारी' और मूल्य-मुक्त अर्थात् पूर्णतया उदासीन संरचना होती है। दूसरे शब्दों में, प्रणालियों में संरचना परिवर्तनों का लोकनीति पर कोई सीधा कारणीय प्रभाव नहीं होता।

अंत में, जिस हद तक आंतरिक और वाह्य परिवेश नीति-निर्माण पर प्रभाव डालता है वह प्रणाली के निर्णयकर्ताओं के मूल्यों और विचारधाराओं द्वारा निर्धारित होता है। यह संकेत देता है कि नीति-निर्माण में न केवल नीतिगत विषय वरन् नीति-निर्माता के अवबोधन और मूल्य भी होते हैं। नीति निर्माताओं के मूल्यों को बनाये जाने वाले नीतिगत विकल्पों को समझने में महत्वपूर्ण माना जाता है।

3.3.1.1 नीति विश्लेषण के लिए संस्थाई उपागम

अनेकवादी समाज में व्यक्तियों एवं समूहों के क्रियाकलाप समान्यतः विधानमण्डल, प्रशासक, न्यायपालिका, राजनीतिक दलों इत्यादि जैसी सरकारी संस्थाओं की ओर निर्देशित होते हैं। अन्य शब्दों में यह नीति का आकार तब तक नहीं लेती है जब तक यह सरकारी संस्थाओं द्वारा अपनायी एवं लागू नहीं की जाती है। सरकारी संस्थाओं ने लोकनीति की तीन भिन्न विशिष्टताऐं बतायी हैं।

पहला, सरकार नीति को वैधानिक प्राधिकार प्रदान करती है। लोकनीति विधानमण्डल का ही प्रतिपादन है तथा इसे वैधानिक अनुमोदनों द्वारा विशिष्ट बनाया गया है। इसे ऐसी वैधानिक बाध्यता के रूप में माना गया है जो लोगों की आज्ञाकारिता को नियंत्रित करता है।

दूसरा, राज्य में समस्त नागरिकों के लिए इसके विस्तार करने से लोकनीति को लागू करना सार्वजनिक हो गया है।

तीसरे, केवल राज्य इसकी नीतियों का उल्लंघन करने वालों पर इसे वैधानिक रूप से लागू कर सकता है।

इस तरह लोकनीति और सरकारी संस्थाओं के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह आश्चर्य की बात तब तक है जब तक राजनीतिक वैज्ञानिक, सरकारी संरचनाओं और संस्थाओं के अध्ययन पर प्रकाश न डालें। संस्थावाद को संस्थाओं के संरचनात्मक और वैधानिक पहलुओं पर इसके संकेन्द्रण के कारण नीति विश्लेषण में प्रयुक्त किया जा सकता है। संरचनाऐं और संस्थाऐं तथा उनकी व्यवस्थाऐं और अन्तःक्रियाऐं लोकनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकती हैं।

परम्परागत रूप में इस अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु सरकारी संरचनाओं एवं संस्थाओं का वर्णन था। सरकारी संरचनाओं एवं नीति के परिणामों के मध्य सहलग्नता का अध्ययन मुख्यतया अविश्लेषित एवं उपेक्षित ही रहा।

नीति विश्लेषण के संस्थायी उपागम का मूल्य यह प्रश्न पूछने में कि संस्थागत विन्यासों एवं लोकनीति के विषय-वस्तु के बीच क्या सम्बन्ध होते हैं? तथा तुलनात्मक तरीके से इन

सम्बन्धों की जांच-पड़ताल में निहित है। यह मानना सही नहीं होगा कि संस्थायी संरचना में हुआ कोई विशेष परिवर्तन लोकनीति में परिवर्तन ले आयेगा। संरचना और नीति के बीच वास्तविक सम्बन्ध की जांच-पड़ताल किए बिना लोकनीतियों पर संस्थायी विन्यासों के प्रभाव का मूल्यांकन करना मुश्किल है।

3.3.2 तर्कसम्मत नीति निर्माणक मॉडल

तर्क सम्मत बोधगम्य पद्धति में प्रशासक को अपने सामने प्रस्तुत लक्ष्य का सामना करना पड़ता है, जिसमें प्राथमिकताओं के रूप में मूल्यों की सूची के सापेक्ष महत्व के अनुसार निर्धनता कम करने जैसी चुनौती होती है। सर्वोत्तम नीति का चयन करते समय नीति निर्माता निर्धनों के स्वास्थ्य सुधार करने, अपराध कम करने और निरक्षरता का उन्मूलन करने जैसे उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सभी संगत मूल्यों या लाभों को तर्क-सम्मत रूप में श्रेणीबद्ध करते हैं। ये विकल्प उदाहरणार्थ इस प्रकार हो सकते हैं- गारन्टीयुक्त आय योजना, प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता, उच्च कल्याणकारी भुगतान या बेरोजगार राहत कार्यक्रम। वह अनेक विकल्पों में से ऐसे सर्वोत्तम विकल्प का चयन करता है जो मूल्यों की श्रेणीबद्ध सूची को पूर्ण बनाने में सहायक होते हैं। निर्णय लेने का उपागम तर्क-सम्मत है, क्योंकि इसमें विकल्पों और मूल्यों का तर्क-सम्मत ढंग से चयन किया जाता है और सापेक्ष महत्व में उनका मूल्यांकन किया जाता है। यह उपागम बोधगम्य भी है, क्योंकि नीति निर्माता द्वारा सभी विकल्पों और मूल्यों का अध्ययन किया जाता है।

फिर भी नीति का निर्माण करने वाली एजेन्सियों के भीतर और उनके वातावरण से उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के कारक और साथ ही इन कारकों में सतत रूप से घटित होने वाले परिवर्तन नीति निर्माता के कार्य को जटिल और तर्क सम्मत प्रक्रिया को कठिन बना देते हैं।

यदि नीति निर्माता को तर्कसम्मत निर्णय करने के नमूने के मानकों का अनुसरण करना पड़े तो वह एजेन्सी की समस्याओं से संगत लगने वाले सभी लक्ष्यों को सूचीबद्ध करके उनका मूल्यांकन करेगा तथा वह प्रत्येक नीति के लिए ऐसे कदम उठायेगा जो प्रत्येक सम्भव लक्ष्य को प्राप्त करने में सक्षम होंगे। लक्ष्यों और नीतियों के प्रत्येक समूह से जुड़े सम्भावित लाभों और हानियों के विषय में सभी संगत सूचनाओं के आधार पर नीति-निर्माता एजेन्सी के कार्यक्रम और उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सर्वोत्तम नीति व लक्ष्य संयोजन का चयन करेगा।

नीति-निर्माण का तर्कसंगत नमूना अधिकारियों से यह अपेक्षा करता है कि प्रत्येक मुद्दे पर विचार करें और स्पष्ट रूप से ऐसे निर्णय लें जो अधीनस्थ कर्मचारियों की कार्यवाहियों का मार्गदर्शन कर सकते हों। इसके परिणामस्वरूप एकीकृत नीतियों का निर्माण होगा जो परस्पर विरोधी न होकर पूरक होंगी। फिर भी तर्कसम्मत मॉडल के निर्देशन को स्वीकार करने वाले प्रशासक अपने आपको उन अनेक ऐसी बाधाओं से घिरा हुआ पायेंगे जो प्रजातांत्रिक समाजों में विशिष्ट रूप से उत्पन्न होती है। वे विषय जातीयता और संघर्ष को दर्शाती हैं जिन्हें बहुत से लेखकों ने तांत्रिक प्रक्रिया के घटक के रूप में माना है।

प्रशासनिक इकाइयों में कार्मिक द्वारा तर्कसम्मत निर्णय करने की प्रक्रिया को बांधित करने वाली लोक प्रशासन प्रणालियों की पांच प्रमुख विशेषताऐं बतायी हैं- (1) समस्याओं, लक्ष्यों और नीति प्रतिबद्धताओं का बाहुल्य जो प्रशासनिक इकाई के वातावरण में सक्रिय तत्वों द्वारा ऊपर से लाद दिया जाता है या नीति निर्माताओं पर हावी हो जाता है, (2) विभिन्न प्रकार के 'स्वीकार्य' लक्ष्यों और नीतियों के बारे में प्रर्याप्त सूचना एकत्र करने के मार्ग में आने वाली बाधाऐं, (3) नीति निर्माताओं की व्यक्तिगत जरूरतें व प्रतिबद्धताऐं, निषेध और अपर्याप्तताऐं जो उनकी एजेन्सी के दृष्टिकोण से स्वीकार्य होते हुए भी लक्ष्यों और नीतियों के मूल्यांकन में हस्तक्षेप करती हैं, (4) प्रशासनिक इकाइयों के भीतर की संरचनात्मक कठिनाइयां और सरकार की विधायी व कार्यकारी शाखाओं के साथ इन इकाईयों के सम्बन्धों को समाविष्ट करने वाली कठिनाईयां एवम् (5) अलग-अलग प्रशासकों का पथ भ्रष्ट व्यवहार। इन समस्याओं का सामना करते समय नीति-निर्माता ऐसे निर्णयों की खोज करने में प्रवृत्त होते हैं जो इष्टतम(श्रेष्ठ) होने की अपेक्षा सन्तोषप्रद होंगे। वे यथासम्भव कठिन चयन की स्थिति बचाना चाहते हैं।

आलोचकों द्वारा तर्कसम्मत पद्धति की अव्यावहारिक पद्धति के रूप में भी आलोचना की गयी है। जैसा इस प्रक्रिया में अपेक्षित है कि नीति विकल्पों की पूरी सूचना बनाना और सभी सूचनाऐं एकत्र करना असम्भव है। इसके अतिरिक्त यह प्रक्रिया बहुत समय लेती है जबकि नीति निर्माता को बिना देर किये कार्यवाही करनी चाहिए। साथ ही यह पूर्वानुमान भी भ्रान्तिपूर्ण है कि मूल्यों को श्रेणीबद्ध और वर्गीकृत किया जा सकता है। विधायक, प्रशासक, जनता और राष्ट्र जिन मूल्यों को प्राप्त करना चाहता है, उनके सम्बन्ध में बार-बार असहमत होते हैं। इसके अलावा इस पद्धति के अनुसार, नयी नीतियों का निर्णय करने से पहले प्रत्येक चीज पर विचार किया जाना चाहिए। इसमें जोखिम बना रहता है, क्योंकि नयी नीतियों को अपनाने के परिणाम अज्ञात होते हैं।

लिंडब्लाम ने तर्क दिया है कि प्रशासनिक निर्णयों में वास्तव में कुछ घटित होता है जबकि वह नितान्त भिन्न प्रक्रिया है यथा- क्रमिक सीमित तुलनाऐं या 'शाखा' तकनीक। उदाहरणार्थ, धनराशि के निर्धारित नियमन द्वारा निर्धनता कम करने का उद्देश्य स्थापित किया जाता है। लेकिन नीति-निर्माण में यह बहुधा समझौते में कैद हो जाता है। शीघ्र ही इसमें अल्पसंख्यक उद्देश्य छात्रों को शिक्षित करने या बेरोजगार लोगों को बेरोजगारी राहत उपलब्ध कराने जैसे अन्य लक्ष्य घुल-मिल जाते हैं। प्रशासक प्राथमिकता के आधार पर तात्कालिक प्रासंगिकता के कार्यक्रमों को सबसे पहले प्रारम्भ करता है। उपयुक्त नीतियों का चयन करने में वे विभिन्न प्रकार की संभावनाओं की रूपरेखा नहीं बनाते, बल्कि वे कुछ वृद्धि सम्बन्धी कदम ही उठाते हैं जो उन्हें अपने अनुभव के आधार पर व्यावहारिक जान पड़ते हैं। लिंडब्लाम कहते हैं कि नीति निर्माता इष्टतम कार्यक्रम का तर्क-सम्मत रूप से चयन नहीं करते वरन् जन प्रशासक वर्ग वस्तुतः क्रमिक सीमित तुलनाओं की पद्धति के अन्तर्गत प्रस्तुत तात्कालिक विकल्पों में से व्यवहारिक रूप में ऐसे सर्वाधिक उपयुक्त समझौते का चयन करते हैं जो कार्यक्रम सम्बन्धी समूहों और वृत्तियों को सन्तुष्ट कर सके।

लिंडब्लाम के अनुसार 'वृद्धिवाद' के दो लाभ हैं: पहला- यदि नीति निर्माता वृद्धि सम्बन्धी छोटे परिवर्तनों के जरिये आगे बढ़ता है तो उसे गम्भीर बदलावों से बचने का लाभ प्राप्त होता है, बशर्ते कि इसमें गलतियां नहीं की गयी हों। दूसरा- यह पद्धति उन प्रजातांत्रिक राज्यों में नीति-निर्माण प्रक्रिया को सही रूप में प्रदर्शित करती है जो लोक नीतियों में भारी परिवर्तनों की अपेक्षा मुख्यतया मतैक्य और अनुक्रमवाद के जरिए संचालित होती हैं। फिर भी लिंडब्लाम यह स्वीकार करते हैं कि शास्त्रीय सिद्धान्तवादी दृष्टिकोण से यह उपागम अवैज्ञानिक और असम्बद्ध जान पड़ता है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वृद्धिवाद के परिणामस्वरूप महत्वपूर्ण नीति विकल्पों को अनदेखा किया जा सकता है। फिर भी उनका यह विश्वास है कि प्रजातांत्रिक समाजों में व्यक्ति किसी भी संभव सार्वजनिक हित के पक्ष में एक जुट होने के लिए स्वतंत्र है। इसलिए नीति निर्माताओं के एक समूह द्वारा उपेक्षित मूल्यों पर दूसरे समूह द्वारा विचार करने की संभावना बनी रहती है।

यद्यपि यह व्यापक रूप में स्वीकार किया जाता है कि वृद्धिवाद नीति-निर्माण प्रक्रिया की वास्तविकता का वर्णन करता है, तथापि यह भी सच है कि सरकार जिन समस्याओं का सामना करती है, वे प्रायः इतनी गम्भीर होती हैं कि वृद्धि सम्बन्धी परिवर्तन उनके समाधान के लिए पर्याप्त नहीं होते और इसके लिए नवीन प्रक्रिया की अपेक्षा की जाती है। 'अमिताई एतजिओनी' का मिश्रित क्रमवीक्षण इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है, क्योंकि यह वृद्धिवाद और बुद्धिवाद इन दोनों को जोड़ देता है।

तर्कसम्मत उपागम के सम्बन्ध में वे लिंडब्लाम की आलोचना से सहमत हैं, लेकिन उनका यह भी विश्वास है कि वृद्धिवाद भी त्रुटियों से सर्वथा मुक्त नहीं है। वे महसूस करते हैं कि वृद्धिवाद सामाजिक नवपरिवर्तन प्रक्रिया को हतोत्साहित करता है और यह दृष्टिकोण में पक्षपाती है जिसका वास्तव में यह अर्थ है कि सर्वाधिक शक्तिशाली और संगठित लोगों के हितों पर नीति निर्माता अधिकतम ध्यान देते हैं। इसके अलावा वृद्धिवाद युद्ध घोषणा जैसे मूलभूत निर्णय लेने में लागू नहीं किया जा सकता। अतः एतजिओनी, मिश्रित क्रमवीक्षण उपागम का सुझाव देते हैं, जिसमें तर्क सम्मत पद्धति के साथ वृद्धि पद्धति के तत्वों को संयुक्त कर दिया जाता है।

वे अपने 'मिश्रित क्रमवीक्षण' उपागम की व्याख्या एक साधारण उदाहरण के जरिए करते हैं- मान लिया हम मौसम उपग्रहों का प्रयोग करके विश्व-व्यापी मौसम प्रेक्षण व्यवस्था की स्थापना करने वाले हैं। तर्कसम्मत उपागम में यह आवश्यक होगा कि मौसम का व्यापक सर्वेक्षण किया जाय जिसमें ऐसे कैमरों का उपयोग हो जो विस्तृत प्रेक्षण करने में सक्षम हों। साथ ही, इसमें सम्पूर्ण आकाश का यथासम्भव पुनः निरीक्षण कार्यक्रम चलाया जाये। इससे अतिविस्तृत सूचनाऐं प्राप्त होंगी जो हमारी कार्यक्षमताओं को बढ़ा सकती हैं। वृद्धिवाद उन क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित करेगा जिनमें निकट अतीत में उसी प्रकार के प्रतिमान विकसित हुए थे और सम्भवतः समीपवर्ती क्षेत्रों में भी ध्यान केन्द्रित किया जाये। अतः यह उन सभी सूचनाओं को नकार देता है जो अनपेक्षित क्षेत्रों से प्राप्त होंगी और जिन पर ध्यान दिया जाना अनुचित होगा। मिश्रित वीक्षण कार्य नीति दो कैमरों का उपयोग करके दोनों उपागमों के तत्वों को

सम्मिलित कर लेगा। चौड़े लेन्स वाला कैमरा जो आकाश के सभी भागों को समेट लेगा, किन्तु जिसमें सूक्ष्मता नहीं होगी और दूसरा कैमरा जो अधिक गहन जांच करने के लिए पहले कैमरे से उदघाटित क्षेत्रों के निम्नतम बिन्दु में प्रवेश करेगा। जबकि मिश्रित वीक्षण से उन क्षेत्रों के छूट जाने की संभावना है, जिनके अन्तर्गत आने वाली परेशानी को केवल विस्तृत कैमरा ही उद्-घाटित(Disclosed) कर सकता था। ऐसी सम्भावना कम है कि वृद्धिवाद औपरिचित क्षेत्रों में सुस्पष्ट परेशानी वाले बिन्दुओं को छोड़ दें।

सामाजिक समस्याओं के लिए 'एतजिओनी' के प्रतिमान का प्रयोग विस्तृत सामाजिक सर्वेक्षण की दिशा में ले जायेगा जिसमें रोजगार स्तरों के संकेत जैसी सामान्य सूचनाऐं एकत्र की जाती हैं। यदि यह परेशानी वाला बिन्दु उदघाटित करता है तो अर्थव्यवस्था के परेशानी वाले क्षेत्रों के गठन विश्लेषण से ध्यान के केन्द्र बिन्दु को हटा दिया जाना चाहिए। इस प्रकार विस्तृत अध्ययन किये गये क्षेत्रों के सम्बन्ध में बोधगम्य कार्यवाही से यह सम्भावना होगी कि नवीन प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिले। जबकि उसी समय इस बात की अव्यवहारिकता को मान लिया जायेगा कि सभी समुदायों की बोधगम्य समीक्षा और वृद्धिवाद के स्थायित्व एवं पूर्वानुमान का संरक्षण प्राप्त किया जायेगा।

3.3.2.1 सिमॉन के मॉडल

लोकनीति के अध्ययन के रूप में लोक प्रशासन की पुनर्परिभाषा को चुनौती देने वाले पहले आलोचक हर्बर्ट सिमॉन थे, जिन्होंने चेताया कि इसका क्षेत्र सरकारी समस्याओं जितना विस्तृत होगा और यह अंततः राजनीतिशास्त्र के साथ-साथ अन्य संभव समाजशास्त्रों को समाहित कर लेगा। अंततोगत्वा यह प्रयोज्य समाजशास्त्र बन जाएगा। उनकी चाहत थी कि विद्वान लोग लोकनीति पर कम और जिन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र में निर्णय किये, उनके व्यवहार तथा जिन प्रक्रियाओं द्वारा उन्होंने लोकनीति को परिभाषित किया उन पर अधिक ध्यान केन्द्रित करें। प्रशासनिक सिद्धान्त को ''निर्णयन और क्रिया की प्रक्रियाओं से संबद्ध होना चाहिए।'' प्रशासन का एक सामान्य सिद्धान्त ''ठीक उसी तरह संगठन के सिद्धान्तों को शामिल करेगा जो सही निर्णयन सुनिश्चित करेंगे। ऐसे सिद्धांतों को शामिल करना चाहिए जो प्रभावी क्रिया सुनिश्चित करेंगे।'' निर्णयन प्रशासन का सार-तत्व है, यह समस्त प्रशासनिक प्रक्रिया में उतना ही व्याप्त है जितना काम कराने की कला।

'प्रशासनिक व्यवहार' नामक पुस्तक में सिमॉन ने लिखा कि संगठन के प्रत्येक स्तर पर निर्णय लिए जाते हैं। उनमें परिवर्तनीय अंश में तथ्यपरक (प्रशासनिक, साधनों के संबन्ध में) तथा मूल्यगत (नीति, उद्देश्यों के संबन्ध में) निर्णय होते हैं। विभेदीकरण कठिन है, क्योंकि अधिकांश मूल्य निर्धारणों में तथ्यपरक सवाल होते हैं। इसके अलावा यह सुनिश्चित करने के लिए अनुशस्ति आवश्यक हैं कि तथ्यपरक सवालों का निर्णय करने वाले विशेषज्ञ लोकतांत्रिक रूप से सूत्रित मूल्य निर्धारणों का अनुसरण करें। उन्होंने प्रस्तावित किया कि आदर्शतः तथ्यपरक और नैतिक तत्व, जहां तक संभव हो, पृथक किए जाऐं तथा राजनीतिज्ञों और प्रशासकों के बीच उनके आपेक्षिक महत्व तथा नैतिक मसलों के विवादास्पद होने की हद के अनुसार

आवंटित किए जाऐं। जहां तक निर्णयों के कारण अंतिम (संगठनात्मक) लक्ष्यों का चयन होता है वहां तक वे ''मूल्य निर्धारण'' होते हैं एवं जहां वे ऐसे लक्ष्यों को लागू करते हैं वहां वे ''तथ्यपरक निर्धारण'' होते हैं। जहां प्रतिनिधियों के तथ्यपरक निर्णय (अर्ध- वैज्ञानिक, अर्ध न्यायिक, अर्ध-व्यापारिक) करते हैं वहां उन्हें उपयुक्त सूचना एवं सलाह दी जानी चाहिए। जहॉ प्रशासक मूल्य-निर्णय (सामाजिक नीति, राजनीति) करते हैं वहां उन्हें समुदाय के मूल्यों के प्रति अनुक्रियाशील एवं अपने निर्णयों के लिए उत्तरदायी होना चाहिए। व्यवहार में, प्रतिनिधि अक्सर प्रशासकों से उनके लिए उच्च नीतिगत विषय-वस्तु वाले निर्णय लेने का निवेदन करते हैं। प्रशासक उच्च राजनीतिक विषय-वस्तु वाले सवालों के निर्णयन में अपने मूल्यों का अनुपालन करते हैं। संक्षेप में, तथ्य और मूल्य संस्थायी तौर पर पृथक नहीं किए जा सकते और व्यक्ति विशेष तथ्यपरक मूल्यगत अवयवों को निर्णयन में पूर्णतः पृथक नहीं कर सकते।

सिमॉन का प्रस्थान-बिन्दु था- सही निर्णयों के साथ-साथ कार्य करने के सही तरीकों पर उसके द्वारा दिया गया बल। एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। कुशल निर्णयन साधनों में यांत्रिक कुशलता की निर्मम खोज नहीं अपितु विकल्पों का वह चयन है जो प्रदत्त संसाधनों के प्रयोग के लिए सर्वोत्तम परिणाम दे सके। यह वांछित लक्ष्यों और उन्हें प्राप्त करने में प्रयुक्त साधनों के बीच का संबंध है। इसका आदर्श पूर्ण विवेकशीलता है, जिसके जरिए सभी उद्देश्य प्राथमिकता के अनुसार परिभाषित और सज्जित होंगे। सभी संभव वैकल्पिक रणनीतियां अपने परिणामों के साथ सूचीबद्ध होंगी और उन राजनीतियों और उनके परिणामों का तुलनात्मक मूल्यांकन किया जाएगा, जिससे कि प्रयुक्त संसाधनों से अधिकतम परिणाम प्राप्त हों। तथापि व्यवहार में पूर्ण सूचना अप्राप्य है, मनुष्य पूर्णतया तर्कपरक व्यक्ति नहीं है और लोकनीति में उद्देश्य और परिणाम दोनों ही परिमाणात्मक मापन अथवा यहां तक कि लगभग सटीक मूल्यांकन के उपयुक्त नहीं हैं। वस्तुनिष्ठ तर्कपरकता के अतिरिक्त व्यक्तिनिष्ठ, व्यक्तिगत तर्कपरकता भी होती है। अनुभवजन्य अध्ययन उद्-घाटित करेंगे कि कैसे लोग वास्तव में निर्णय करते हैं और उन्हें सर्वाधिक प्रभावित क्या करता है? किन्तु सिमॉन का विश्वास था कि उनके प्रारंभिक शोध ने कुशल निर्णयन के मापन और मूल्यांकन की संभावना एवं प्रशासनिक चयन को परिभाषित करने, नापने और मापने की आवश्यकता को उजागर किया है।

डी0 डब्ल्यू0 स्मिथवर्ग एवं वी0 ए0 थॉम्पसन के सहयोग से सिमॉन ने लोक प्रशासन में प्रथम व्यवहारवादी पाठ्यपुस्तक लिखी, जिसका उद्देश्य यह बताना था कि कैसे अमरीकी लोक प्रशासन, प्रशासन की प्रक्रियाओं के यथार्थवादी, व्यवहारपरक विवरण के माध्यम से कार्य करता है। इसने लोक प्रशासन में समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की संकल्पनाओं को समाविष्ट करते हुए लोक प्रशासन के अनौपचारिक पक्ष पर ध्यान केन्द्रित किया। यद्यपि यह खास तौर से निर्णयन उपागम के इर्द-गिर्द नहीं बनाया गया था किन्तु इसने ''प्रशासनिक व्यवहार'' पुस्तक के अधिकांश तर्कों को दुहराया और इस धारणा को काफी बढ़-चढ़कर चुनौती दी कि लोक प्रशासन का आदर्श यांत्रिक कुशलता की खोज के लिए तर्कपरकता है। किन्तु जब इस सम्बन्ध में अधिक अनुभवजन्य प्रमाण मिलने लगे कि वस्तुतः कैसे निर्णय अधिकाधिक एकत्र होने लगे

तो सिमॉन ने महत्तम तर्कपरक चयन की धारणा को सर्वथा छोड़ ही दिया और सीमित तर्कपरकता एवं निर्णयन के संतोषजनक मॉडल को अपनाया। अर्थात् जो अच्छा या संतोषजनक है उसे लोग स्वीकार कर लेते हैं और सभी संभव विकल्पों की तलाश नहीं करते। उनकी अपेक्षाऐं उनकी तलाश को सीमित करती हैं और वे सर्वाधिक संतोषजनक लगने वाले विकल्प को अपना लेते हैं। ''मनुष्य के मॉडल'' (न्यूयार्क:विली, 1957) नामक पुस्तक में उन्होंने सीमित तर्कपरकता के अंतर्गत कार्यक्रम औचित्य के गणितीय मॉडल का पूर्वानुमान किया, यदि समय-सीमा, मूल्य-तंत्र एवं तथ्यपरक उपलब्ध विकल्प एक बार ज्ञात हो जाऐं तो। इन आधारभूत विचारों का और भी विकास सिमॉन ने 1960 में ''प्रबंधन निर्णय का नूतन विज्ञान'' न्यूयार्क: हार्पर एवं रो, 1960 में प्रकाशित व्याख्यानों में किया। निर्णयन प्रक्रिया को आसूचना (निर्णय हेतु आवश्यक स्थितियों के लिए परिवेश की खोज), रूपरेखा (सभी संभव क्रियाविधियों का पता लगाना, विकास करना तथा विश्लेषण करना) एवं चयन (एक क्रियाविधि का चयन) में विभक्त कर दिया गया, इसमें कार्यान्वयन और अधिक विस्तृत नीति-निर्माण के बीच कोई भेद नहीं है। प्रत्येक की दक्षताऐं सीखने और प्रशिक्षण के योग्य होती हैं, बशर्ते कि व्यक्तिगत और संगठनात्मक निर्णयन में भेद किए जाऐं। निर्धारित निर्णय जो कि पुनरावर्ती और नैत्यक होते हैं और जिनके लिए एक निश्चित दिनचर्या बनाई गई ताकि वे हर समय नये न समझे जायें तथा अनिर्धारित निर्णय जो नये, असंरचित एवं परिणामी थे, जिनके लिए समस्याओं के समाधान की कोई नपी-तुली विधि नहीं है, क्योंकि ये पहले कभी उत्पन्न नहीं हुई है और इसकी सही-सही प्रकृति और संरचना भ्रामक और जटिल है। यह इतना महत्वपूर्ण है कि इसे परम्परा-निर्मित दृष्टिकोण से देखना चाहिए। इन दोनों निर्णयों के बीच विद्यमान सातत्यक(Continuum) के सहारे निर्णय होते हैं।

सिमॉन ने 1960 तक निर्णयन के तीन प्रमुख मॉडलों की पहचान कर ली थी, यथा (क) मूल प्रवृत्ति, निर्णय, अंतःप्रज्ञा एवं अन्य तर्कपरकेतर कारकों पर आधारित अनिर्धारित निर्णयन, (ख) विशुद्ध-तर्कपरकता महत्तम निर्णयन, (ग) संतोषजनक निर्णयन। सिमॉन ने 1960 के दशक के निर्णयन का पेचीदा मॉडल भी प्रस्तुत किया। समस्या समाधानकर्ता विभिन्न मार्गों पर चलते हैं, उनमें से कुछ सटीक समाधान दे देते हैं जबकि अन्य फिर नए मार्ग सुझाते हैं।

3.3.3 सरकारी नीति-निर्माता

सरकारी नीति-निर्माता वे लोग हैं जिन्हें जन नीति सूत्रबद्ध करने का वैधानिक अधिकार प्राप्त है। इनमें विधायकों, कार्यपालकों, प्रशासकों और न्यायाधीशों को शामिल किया जाता है।

1. विधायिका- औपचारिक रूप से विधान मण्डल नियम बनाने का कार्य करते हैं। आवश्यक रूप में इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनके पास स्वाधीन निर्णय करने की शक्तियां होती हैं, या वे वास्तव में सरकारी नीति का निर्माण करते हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि ब्रिटिश और भारतीय संसदें केवल उन नियमों को अपनी सहमति प्रदान करती हैं जिनका उद्-भव राजनीतिक दलों और दबाव समूहों द्वारा होता है, जिनकी रचना अधिकारी तंत्र द्वारा की जाती है और जिनको विधान मण्डल में समुचित बहुमत रखने वाली सरकार यह जानती है कि वह अपने द्वारा चयन

किये गये किसी उपाय को संसद द्वारा पारित करा लेगी। विधि निर्माण का अनुमोदन प्रदान करने के दौरान संसद जनता के लिए सरकारी नीतियां और उनके परिणामों पर विचार विमर्श करने, छानबीन करने, आलोचना करने और उनका प्रचार करने जैसे अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी करती है। फिर भी शक्ति के पृथक्करण की अमरीकी पद्धति में विधानमण्डल अक्सर नियम निर्माण के मामले में स्वाधीन और अन्तिम निर्णय लेते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की कांग्रेस(सदन) में स्थायी समिति का प्रस्तावित विधि निर्माण पर चरम प्राधिकार प्राप्त है और वह सदन के सदस्यों के बहुमत के विरोध में भी अपना कार्य कर सकती है। कराधान, नागरिक अधिकारी, कल्याण और श्रम संबंधी मामलों पर नीतियों के प्रमुख भाग का निर्माण कांग्रेस द्वारा किया जाता है। इसके विपरीत, विदेश और रक्षा नीति के मामलों में कांग्रेस को अधिकाधिक रूप में राष्ट्रपति द्वारा दिशा निर्देश प्राप्त होते हैं। विधायक मत देते समय व्यक्तिगत रूझान या सैद्धान्तिक अभिविन्याय की अपेक्षा अपने दलीय संबंध द्वारा अधिक नियंत्रित होते हैं। कुछ विशिष्ट मामलों में उनका निर्णय अपने निर्वाचन क्षेत्र की अपेक्षाओं से भी नियंत्रित हो सकता है। संसदीय प्रजातंत्रों में मतदान दलीय आधार पर होता है। इसकी तुलना में रूसी और चीनी राष्ट्रीय विधान मण्डल प्रायः कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर उच्च अधिकारियों द्वारा दिये गये निर्णयों का केवल अनुमोदन या पुष्टि करते हैं। अतः स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तानाशाही देशों की अपेक्षा प्रजातांत्रिक देशों में लिये जाने वाले नीति निर्णय में विधान मण्डल अधिक महत्वपूर्ण होते हैं और प्रजातांत्रिक पद्धति में विधान मण्डलों को नीति-निर्माण में संसदीय पद्धति(भारत) की अपेक्षा अध्यक्षीय पद्धति(संयुक्त राज्य अमेरिका) में अधिक स्वाधीनता प्राप्त होती है।

नीति प्रस्तावों में यदि वजन पैदा करना हो तो इसके लिए संसद या कांग्रेस में निहित अधिकार को विकेन्द्रित करना होगा। चर्चा के लिए इन्हें योग्य बनाने के लिए प्रस्तावों से संबद्ध मुद्दों के बारे में विशेषज्ञता को विकसित करने की आवश्यकता होती है। तथापि चुने हुए सदस्य मुश्किल से सभी चीजों के विशेषज्ञ होते हैं फिर भी अनेक समितियों के लिए संसदीय अधिकार का विकेन्द्रीकरण किया जाता है। ये समितियां प्रत्येक सदस्य को कुछ नीति क्षेत्रों में विशेषता के लिए अनुमोदित करती हैं। विधान मण्डल समिति का विचार वास्तव में ब्रिटिश संसद से आया किन्तु इग्लैण्ड में समितियां, कैबिनेट सरकार के उदय के साथ ही क्षीण हो जाती हैं। संसदीय समितियां एक बार प्रस्तावों के अधिक विशेषज्ञों को अनुमोदित करने के लिए बनायी गयीं, जिससे यह आशा की जाती है कि संसद समिति के निर्णयों के प्रति भिन्नता के उचित स्तर को प्रदर्शित करती है। इस प्रकार समितियां सरकार के संसदीय एवं अध्यक्षीय दोनों अवस्थाओं में विधि निर्माण के भाग्य के निर्धारण में निर्णायक होती है।

अंततः संसदीय प्रणालियों में संसदीय समय पर दबाव, विधायनों की तकनीकी गुणवत्ता एवं उचित प्रशासनिक मशीनरी विकसित करने के लिए पर्याप्त समय की आवश्यकता के कारण मूल विधानों द्वारा मंत्रियों को दी गयी शक्तियों के तहत काफी विधायन बनाये जाते हैं। तथापि,

अधिकांश देशों में ऐसे सार्वजनिक उपकरण प्रदत्त विधायन का एक छोटा हिस्सा ही संसदीय समीक्षा के अधीन आता है।

2. कार्यपालिका- सभी जगह आधुनिक सरकारें नीति-निर्माण एवं उसके कार्यान्वयन में अधिकाधिक रूप में कार्यकारी नेतृत्व पर निर्भर करती हैं। संसदीय पद्धति वाले देशों में सभी नीतियों को मंत्रीमण्डल का अनुमोदन प्राप्त करना पड़ता है और संसद में सभी महत्वपूर्ण नियम सरकार के मंत्रियों द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में कानूनों को लागू करने के लिए राष्ट्रपति के अधिकारों को मान्यता प्राप्त है। समिति पद्धति के परिणामस्वरूप कांग्रेस के विभाजन और सशक्त दलीय नेतृत्व की कमी के कारण वह संस्था स्थिर एवं सुसंबद्ध विधायी कार्यक्रमों का विकास करने में अक्षम हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे कांग्रेस राष्ट्रपति से यह अपेक्षा करने लगती है कि वह विधि निर्माण के लिए प्रस्ताव रखने में पहल करे। इसका यह आशय नहीं कि कांग्रेस राष्ट्रपति के आदेश पर कार्य करती है या उसके प्रस्तावों का केवल अनुमोदन ही करती है। राष्ट्रपति के प्रस्तावों को अधिनियम बनाने से पहले रद्द या पर्याप्त रूप में संशोधित कर दिया जाता है। घरेलू नीति की अपेक्षा विदेश या रक्षा नीतियों के क्षेत्र में राष्ट्रपति को बड़ी संवैधानिक शक्ति एवं संक्रियात्मक स्वतंत्रता प्राप्त है। संयुक्त राज्य की विदेश नीति अधिकाधिक रूप में राष्ट्रपति के नेतृत्व और उसकी कार्य पद्धति का परिणाम होती है।

विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों में सम्भवतः कार्यपालिका का नीति-निर्माण में अधिक हाथ रहता है। इसका यह कारण है कि इन देशों में प्रायः मजबूत अधिकारी तंत्रीय आधार नहीं होता है और कार्यपालिका नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, क्यों कि सरकार के हाथों में शक्ति का केन्द्रीकरण अधिक होता है और विधानमण्डल के प्रति उसकी जवाबदेही कम होती है। ऐसे देशों में दबाव समूहों में परिष्कार और समन्वय की कमी के कारण नीति-निर्माण में उनका प्रभाव कम हेाता है। फिर भी कार्यपालिका से यह अपेक्षा की जाती है कि वह संविधान के वैधानिक उपबन्धों और न्यायालय के निर्णयों के अनुरूप कार्य करे। विदेश नीति संबंधी निर्णय प्रायः अन्य देशों द्वारा उनकी स्वीकार्यता पर निर्भर करते हैं, जबकि आन्तरिक मामलों में नीति निर्णय विधानमण्डलों, प्रशासकों और जनता की स्वीकार्यता पर निर्भर कर सकते हैं।

3. प्रशासनिक एजेन्सियां- विश्व भर की प्रशासनिक पद्धतियां आकार एवं जटिलता, सोपान की संगठन और स्वयत्तता की मात्रा के हिसाब से विभिन्न प्रकार की हैं। यद्यपि पहले इसे राजनीतिक विज्ञान का स्वीकृत सिद्धान्त माना जाता था कि प्रशासक सरकार के अंगों द्वारा निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित करने वाले होते हैं, लेकिन अब इस स्वीकृति की भ्रामकता अधिकाधिक रूप में सामने आने लगी है। अब यह आम समझ की बात बन गयी है कि राजनीति और प्रशासन घुल-मिल गये हैं और प्रशासन अनेक तरीकों से नीति-निर्माण प्रक्रिया में संलग्न है।

विशेषतः जटिल औद्योगिक समाजों में नीति विषयक बहुत से मामलों में प्राविधिकता एवं जटिलता, लागातार नियंत्रण की आवश्यकता और विधायकों के पास समय तथा सूचना की कमी के कारण प्रशासनिक एजेन्सियों को, जिन्हें औपचारिक रूप में नियम निर्माण करने वाला समझा जाता था को अब पर्याप्त विवेकाधिकारी प्राप्त हो गये हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी अध्यक्षीय तथा ब्रिटेन जैसी संसदीय सरकारों में ये एजेन्सियां विधि निर्माण के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले प्रस्तावों का प्रमुख स्रोत हैं। सरकारी कर्मचारी तीन प्रमुख तरीकों से नीति-निर्माण से संबद्ध होते हैं। पहले, नीति की व्यावहारिका के संबंध में उन्हें मंत्रियों के तथ्य, आंकड़े और आलोचना सामग्री की आपूर्ति करनी पड़ती है और यदि नीति-निर्माण के लिए विधायकों द्वारा पहल होती है तो विधायकों को यह कार्य करना पड़ता है। संसद सदस्य या मंत्री गैर-पेशेवरों का परिवर्तनशील निकाय होता है, जिनमें राजनीतिक निपुणता या जनप्रियता तो हो सकती है लेकिन उनमें विद्धता या अनुभव की कमी होती है। इसलिये उन्हें कर्मचारियों पर निर्भर रहना पड़ता है तथा उनके सुझावों को समुचित महत्व देना पड़ता है। दूसरे, नीति अधिनियम के लिए अक्सर प्रशासन द्वारा पहल की जाती है। इसका यह कारण है कि प्रशासक ही सतत रूप में जनसाधारण के सम्पर्क में रहते हैं और इसलिए वे नीति के कार्यान्वयन के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को भलीभॉति समझने की स्थिति में होते हैं। अधिकारी तंत्र द्वारा उन कठिनाइयों को भी दूर करने या वर्तमान नियम में संशोधन करने के सुझाव एवं प्रस्ताव अक्सर प्रस्तुत किये जाते हैं। तीसरे, समय और ज्ञान के अभाव के कारण विधानमण्डल आधारभूति अंश में ही अधिनियमों को पारित करते हैं और उनको विस्तृत रूप प्रदान करने का काम प्रशासन पर छोड़ देते हैं। इस प्रकार नीति-निर्माण का अधिकतम क्षेत्र प्राप्त हो जाता है। इन अधिनियमों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से प्रशासन नियमावली, विनियम और उप-विधि बनाता है जो नीति-निर्माण में एक महत्वपूर्ण योगदान है।

4. प्रशासनिक भूमिका- भारतीय संविधान में नीति के चुनाव में सुझाव देने का संवैधानिक उत्तरदायित्व उच्च लोक सेवकों पर होता है। उदाहरणार्थ भारत सरकार के सचिव स्वयं या मंत्रियों को ऐसे निर्णय लेने का सुझाव देता है जो नियम अथवा नीति निर्धारण को बनाने में लेने पड़ते हैं, अन्यथा जो दैनिक क्रियाविधि में नहीं व्यवहारित किये जा सकते हैं। ऐसे निर्णय नीति के क्षेत्र को स्पष्ट करते हैं तथा इसको नयी और विशेष स्थितियों में अन्तिम रूप में लागू करते हैं। फिर भी वे व्यापक स्तर पर प्रचलित नीतियों के संचालन पर मंत्रालयी उपयोग के लिए व्याख्यात्मक सामग्री से सम्बद्ध रहते हैं। वे विभिन्न नीति उपागमों की प्रशासनिक जटिलताओं एवं वित्तीय मामलों पर सलाह भी देते हैं। इस प्रकार उच्च लोक सेवक मूल रूप से भारत सरकार तथा राज्य सरकार के सचिव लोकनीति प्रतिपादन विधि में अपेक्षाकृत अधिक सलाहकार भूमिका अदा करते हैं।

उच्च लोक सेवकों को अपने उस ज्ञान पर लगभग एकाधिकार प्राप्त होता है जो वे अपनी शैक्षिक योग्यता एवं लोक नीतियों के संचालन के अनुभव से प्राप्त करते हैं। उनके विशाल अनुभव एवं ज्ञान उन्हें नीति प्रस्तावों की वित्तीय एवं प्रशासनिक कठिनाइयों और प्रभावित गुटों

की संभावित प्रतिक्रियाओं तथा नीतिगत समस्याओं से निपटने की नई विधियों के बारे में अधिक प्रभावी स्थितियों से तर्क प्रस्तुत करने में समर्थ बनाते हैं। यह तथ्य कि वे नीति निर्णयों के लिए आंकड़े एकत्र करते हैं, सम्बद्ध समस्या का विश्लेषण करते हैं एवं नीतिगत विकल्पों का चयन करते हैं, नीति-निर्माण पर प्रभाव डालता है। नीतियों के संबंध में कुछ नए प्रस्ताव उदित होते हैं, वे उन समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त करते हैं जिनके लिए कोई संतोषप्रद समाधान नहीं मिला हो। अनेक नई नीतियों के ब्यौरे प्रशासनिक और राजनीतिक रूप में व्यवहार्य विषयों द्वारा अनुकूलित होते हैं।

5. न्यायालय- जिन देशों के न्यायालय में न्यायिक समीक्षा की शक्ति प्राप्त होती है, वे (जैसा संयुक्त राज्य अमेरिका में है) नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। तथापि किसी राजनीतिक पद्धति में न्यायपालिका अप्रत्यक्ष रूप से नीति-निर्माण प्रक्रिया में भागीदारी निभाती है। न्यायालय वे उपागम हैं जो उन विधायी प्रावधानों का अर्थ और निर्वाचन करने के लिए हैं जो प्रायः सामान्यतया कथित और व्याख्याओं में विवाद को अनुमति प्रदान करती हैं। कई न्यायाधीश दो या अधिक विधायी कार्यों की व्याख्याओं और कार्यान्वयन, प्रशासकीय आदेश अथवा उनमें से चुने गये संवैधानिक प्रावधान के बीच आमने-सामने चुनाव करते हैं, क्योंकि निर्णय दिया जाना अथवा विवादों को समाप्त किया जाना आवश्यक होता है और न्यायाधीश ऐसा तब करता है जब विशिष्टवादी के लिए उसकी व्याख्या नीति बन जाती हो। जब कोई न्यायालय किसी व्याख्या को स्वीकार करता है अथवा कोई निर्णय अन्य न्यायालयों द्वारा स्वीकृत होता है तो इसका तात्पर्य है कि न्यायालय ने इन सभी अधिकार क्षेत्रों के लिए एक नीति बनायी है, जिनमें वह विचार प्रभावी होता है।

प्रजातांत्रिक प्रणाली में न्यायपालिका सामाजिक और आर्थिक नीतियों के प्रतिपादन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। अधिकांश नियमों से सम्बद्ध नियम की सुरक्षा, सम्पति स्वामित्व, निगमों, कर्मचारी मालिक संबंध तथा समाज में महिलाओं की समान दशा जैसे मामले न्यायालय द्वारा विकसित तथा आम नियमों के रूप में लागू किये गये हैं। भारत में सर्वोच्च न्यायालय का तथा उच्च न्यायालय का महत्व बढ़ रहा है। भारतीय न्यायालय की कुछ क्षेत्रों के लिए निर्दिष्ट विशिष्ट नीतियों तथा विद्यालय, श्रमदशाओं अथवा कल्याण सहायताओं से सम्बद्धता अधिकाधिक बढ़ रही है।

बुनियादी तौर से न्यायिक समीक्षा, विधायी एवं कार्यकारी शाखाओं की कार्यवाहियों की संवैधानिकता का निर्धारण करने और यदि इस प्रकार की कार्यवाहियां संवैधानिक उपबन्धों के विपरीत हों तो उन्हें रद्द और शून्य घोषित करने की शक्ति न्यायालय के पास है। न्यायपालिका ने संयुक्त राज्य अमेरिका में आर्थिक नीति के निर्माण में प्रमुख भूमिका अदा की है। संपत्ति पर स्वमित्व, अनुबन्ध, निगम और मालिक-कर्मचारी संबंध जैसे मामले के बहुत से कानून न्यायालयों ने विकसित एवं प्रयुक्त किये गये हैं। इनका उद्-गम इग्लैण्ड में हुआ था, लेकिन अमेरिकी न्यायाधीशों द्वारा अमेरिकी जरूरतों एवं दशाओं में इनका अनुकूलन कर लिया गया। विगत काल में संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायिक सक्रियवाद मुख्यतया आर्थिक विनिमयन

और नियम प्रवर्तन के क्षेत्र तक ही सीमित था, लेकिन गत दो दशकों से न्यायालयों ने सामाजिक एवं राजनीतिक क्रियाकलाप के बहुत से नये क्षेत्रों में भी प्रवेश करने का साहस किया है। विधायी विभाजन, कल्याण प्राप्त करने वाले अधिकार, पब्लिक स्कूल, कारागार एवं अस्पताल जैसे संस्थाओं की अवस्थिति इस प्रकार के प्रमुख उदाहरण हैं। न केवल सरकार की कार्यवाही संबंधी सीमाओं का विशेष उल्लेख करके बल्कि यह भी कि विधिक या संवैधानिक दायित्व को पूरा करने के लिए उसे क्या करना चाहिए, न्यायालय सकारात्मक भूमिका निभा रहे हैं। लोगों के जीवन में सरकारी हस्तक्षेप के क्षेत्र के वृद्धि, बहुत सी समस्याओं को हल करने में विधायी एवं कार्यकारी अंगों की विफलता, न्यायालयों की अधिक सकारात्मक भूमिका निभाने की इच्छा, ये सभी मिलकर सम्भवतः भविष्य में भी नीति-निर्माण में न्यायिक सहभागिता के इस विस्तार को बनाये रखने की गांरटी देते हैं।

भारत में भी न्यायालयों ने अपनी न्यायिक समीक्षा के अधिकार द्वारा नीति-निर्माण प्रक्रिया को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। फिर भी, भारत में उन पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि वे संविधान की व्याख्या में रूढ़िवादी भूमिका निभाते हैं, जिससे विधायिका एवं न्यायपालिका में पर्याप्त खींचतान होती रहती है। मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक सिद्धान्तों के बीच और विधायिका की संविधान संशोधन की शक्ति की व्याख्या से सम्बन्धित विषय द्वन्द के प्रमुख क्षेत्र रहे हैं। न्यायालयों का अधिमत प्रायः सरकार के प्रगतिशील नियमों के विरूद्ध रहा है। न्यायिक बांधा को पार करने के लिए सरकार ने अक्सर संवैधानिक संशोधन का मार्ग अपनाया है।

3.3.4 नीति-निर्माण में गैर-सरकारी सहभागी

1. दबाव समूह- अधिकांश देशों में दबाव समूह गुट नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। विभिन्न देशों में समूहों की शक्ति और वैधता विभिन्न प्रकार की होती है जो इस बात पर निर्भर करती है कि देश प्रजातांत्रिक है या तानाशाही, विकसित है या विकासशील। सोवियत रूस या चीन की अपेक्षा संयुक्त राज्य अमेरिका या ब्रिटेन में दबाव समूह अधिक संख्या में पाये जाते हैं। इन समूहों का प्रमुख कार्य मॉगें रखना या नीति कार्यान्वयन के लिए विकल्प प्रस्तुत करना है। वे सरकारी नियम-निर्माताओं को किसी विशिष्ट प्रश्न के पक्ष या विरोध में अत्यधिक तकनीकी सूचना प्रदान कर सकते हैं और किसी नीति प्रस्ताव के सम्भावित परिणामों की जानकारी दे सकते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अमेरिकी समाज में बहु-सामुदायिक प्रकृति के कारण वहॉ संख्या, आकार, संगठन और कार्यान्वयन शैली की दृष्टि से दबाव समूहों की काफी बड़ी संख्या व उनके विविध प्रकार हैं। दबाव समूहों की मूल चिन्ता किन्ही विशिष्ट मामलों में नीति को प्रभावित करने की होती है। किसी विशेष नीतिगत प्रश्न पर अक्सर बहुत से समूह परस्पर विरोधी कार्य करते हैं, जिससे नीति निर्माताओं को विरोधी मांगों के बीच चयन करने की समस्या का सामना करना पड़ता है। सुसंगठित और सक्रिय समूहों का प्रभाव असंगठित और मूक सदस्यता वाले समूहों की अपेक्षा अधिक पड़ता है।

2. राजनीतिक दल- आधुनिक समाजों में सामान्यतया राजनीतिक दल हित समूहीकरण का कार्य करते हैं अर्थात् वे हितों की विशिष्ट मांगों को सामान्य नीति विकल्पों में रूपान्तरित करने का प्रयत्न करते हैं। जिस तरीके से दल हितों को संकलित करते हैं, यह दलों की संख्या से प्रभावित होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन जैसे देशों में, जहां प्रमुख रूप में द्विदलीय प्रणालियां हैं वहाँ दोनों दलों का विस्तृत निर्वाचन समर्थन प्राप्त करने की इच्छा, अपने-अपने नीति प्रस्तावों में जनप्रिय मांगों को शामिल करने के लिए प्रेरित करेंगी और सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक समूहों से विमुख होने से बचने का प्रयत्न करेगी। दूसरी ओर बहुदलीय प्रणाली में दल कम से कम सामूहिकीकरण का प्रयत्न करेंगे और जैसा फ्रान्स में दिखाई पड़ता है वे हितों के काफी संकीर्ण समुच्चयों के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं। भारत में बहुदलीय प्रणाली है, जिसमें आधा दर्जन राष्ट्रीय दल और उससे दोगुनी संख्या में क्षेत्रीय दल हैं। अधिकांश दलों के चुनाव घोषणा-पत्र ऐसे हैं जो विषय-वस्तु की अपेक्षा विशेष बातों में बल देने के आधार पर ही अपने को भिन्न दर्शाते हैं, क्योंकि उनकी सर्वमान्य इच्छा यह भी होती है कि वे अपने निर्वाचन आधार को यथा सम्भव बनायें। फिर भी क्षेत्रीय दल अपने उपागम में अधिक सम्प्रदायवादी होते हैं, क्योंकि वे जनसंख्या के विशेष क्षेत्रीय भाग को ही प्रमुख रूप से फुसलाने की इच्छा से प्रेरित होते हैं। सोवियत रूस और एक दलीय प्रणालियों में वे जन नीति के प्रमुख सरकारी निर्माता होते हैं। फिर भी सामान्यतया समूहों की अपेक्षा राजनीतिक दलों की नीतिगत चिन्ताओं का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है, इसलिए वे नीति-निर्माण में विशिष्ट स्वत्व के अधिवक्ता के बजाए ऐजेटों के रूप में कार्य करते हैं।

संसदीय प्रणाली वाले राज्यों में जिस राजनीतिक दल का बहुमत होता है, वह सरकार बनाता है और वह प्रमुख सरकारी नीति निर्माता होता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि अधिकांश सरकारें, जिस घोषणा-पत्र के आधार पर चुनी जाती हैं, उसी के अनुसार अपनी नीति बनाती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की अध्यक्षीय प्रणाली में विधान मण्डल के सदस्य प्रायः अपनी दलीय नीति के अनुसार मतदान करते हैं। वहां जिस दल का कांग्रेस पर नियंत्रण होता है, उसके पास ही महत्वपूर्ण नीतिक निहितार्थ होते हैं।

3. नागरिक व्यक्ति के रूप में- चूँकि प्रजातंत्र सरकारें प्रतिनिधि सरकारें होती हैं, अतः अक्सर यह कहा जाता है कि नागरिक समस्त नीति-निर्माण प्रक्रिया में अप्रत्यक्ष रूप से शामिल होते हैं। अमूर्त रूप से यह सच है, किन्तु ठोस रूप से यह सूत्र अर्थहीन है। यहां तक कि प्रजातांत्रिक देशों में भी नीति-निर्माण में नागरिक सहभागिता बहुत कम होती है। बहुत से लोग न तो अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं और न राज्य की राजनीतिक में रूचि लेते हैं। न तो वे दबाव समूहों में होते हैं और न ही जनकार्यों में रूचि दर्शाते हैं, यहां तक कि मतदान करते समय मतदाता नीतिगत विचारों से अपेक्षाकृत कम प्रभावित होते हैं। फिर भी, अधिसंख्यक नागरिकों की इस प्रकार की राजनीति अभिवृद्धि के बावजूद कुछ नागरिक निर्णय लेने की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से अवश्य भाग लेते हैं। कुछ अमेरिकी राज्यों (यथा- कैलीफोर्निया) में और कुछ देशों (यथा- स्विटजरलैण्ड) में नागरिक विधि निर्माण या संविधान संशोधन में प्रत्यक्ष

रूप में मतदान कर सकते हैं और करते हैं जो अनुमोदन के लिए मतदाताओं के सामने प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रजातंत्रीय देशों में जनमत या जनप्रिय आकांक्षाओं की थाह लेने के लिए चुनाव प्रमुख साधन होते हैं। जैसा चार्ल्स लिंडब्लाम ने अपना तर्क प्रस्तुत किया है, ''अधिनायकवादी और प्रजातांत्रिक शासनों में सर्वाधिक सुस्पष्ट अन्तर यह है कि प्रजातांत्रिक देशों में सर्वोच्च नीति निर्माताओं का चयन प्रमाणिक निर्वाचन के द्वारा किया जाता है।'' कुछ राजनीतिक वैज्ञानिक यह अनुमान लगाते हैं कि प्रमाणिक निर्वाचन में मतदान ही नीति पर नागरिक प्रभाव की महत्वपूर्ण पद्धति हो सकता है। इसका कारण केवल यह नहीं है कि इससे नागरिकों को अपने कर्मचारियों का चयन करने और कुछ सीमा तक नीति के संबंध में इनको हिदायत देने की अनुमति मिल जाती है बल्कि यह भी कारण होता है कि प्रमाणिक निर्वाचन के नागरिक सहभागिता पर अनुमोदन की मुहर लग जाती है। इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन नीति निर्माताओं को इस नियम से अवगत करा देता है कि नीति-निर्माण में नागरिकों की आकांक्षाऐं महत्वपूर्ण होती हैं।

फिर भी यह सच है कि कोई भी सरकार, चाहे वह जितनी भी तानाशाह हो, जनता की इच्छाओं, आकांक्षाओं, रीति रिवाजों या परम्पराओं के विरूद्ध नहीं जा सकती। यहां तक कि तानाशाह भी शासन के विरूद्ध अशांति या असन्तोष दूर करने के लिए बहुत से जनप्रिय उपाय करते हैं। सोवियत संघ जैसी एक दलीय व्यवस्थाऐं भी नीति-निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से आधिकाधिक नागरिकों को सहभागिता से दूर रखते हुए भी अनेक नागरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में दिलचस्पी लेते दिखाई पड़ती हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. नीति-निर्माण तथा निणर्यन में भेद स्पष्ट कीजिए।
2. नीति विश्लेषण की कौन-कौन सी सीमाएं हैं?
3. नीति-निर्माण में नागरिक समाज संगठनों की क्या भूमिका है?
4. दबाव समूह का नीति-निर्माण में किस प्रकार महत्व है?

3.4 सारांश

लोकनीति राजनीति एवं लोक प्रबन्धन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। एक पृथक प्रस्ताव के रूप में नीतियां बनाने वाली सरकार और जिनके लिये नीतियां बनाई जाती है, उन नागरिकों के बीच परस्पर क्रिया का अध्ययन करने के लिए यह उपयोगी होता है। दो प्रकार के नीति प्रस्ताव है, जिनकी अपनी विधियां एवं महत्व हैं। पहले प्रकार को नीति विश्लेषण और दूसरे प्रकार को राजनीतिक लोकनीति कहते हैं। नीति-निर्माण के लिए वृद्धिवादी प्रस्ताव दुविधा की स्थिति में है। वृद्धिवादी समीकरण स्थिर विकास के प्रतिमान के रूप में काम करता है। अपनी सहजता के साथ यह प्रतिमान नीति प्रक्रिया की जटिलता के संदर्भ में अत्यधिक सख्त नजर आता है। लिंडब्लोम ने लिखा है कि लोगों की भलाई के लिए सरकार के प्रयत्नों की खामियों को जो समझना चाहते है उन्हें पहले यह समझना होगा कि लोकनीति को बनाने और बिगाड़ने में शक्ति संबंध कैसी भूमिका निभाते हैं।

हर्बर्ट साइमन का कहना है कि असल में नीति निर्माता आशान्वित नहीं करते वरन् संतुष्ट करते हैं। उनके अनुसार एक अच्छा निर्णय भी कारगर हो सकता है, भले ही वह श्रेष्ठ निर्णय न हो। बुद्धिसंगत निर्णय स्पष्ट एवम् अच्छी तरह परिभाषित लक्ष्यों पर निर्भर करता है। साथ ही कार्यवाही के समन्वयन के पर्याप्त अधिकार पर भी निर्भर करता है।

नीति-निर्माण एक अत्यंत जटिल विश्लेषणात्मक तथा राजनैतिक प्रक्रिया है, जिसका कोई प्रारम्भ या समापन नहीं होता और जिसकी सीमाऐं पूरी तरह अनिश्चित होती हैं। येनकेन प्रकारेण शक्तियों की एक जटिल समिष्ठ 'नीति-निर्माण' में सन्नद्ध होती है और सामूहिक रूप से जो प्रभाव उत्पन्न करती हैं, उन्हें नीतियां कहते हैं। संसद के लिए भारतीय संविधान द्वारा कानून पारित करके नीति-निर्माण में लोगों के प्रतिनिधित्व का प्रकार्य सुनिश्चित किया गया है। विधायी प्रक्रिया सार्वजनिक नीति की अभिव्यक्ति के लिए एक मौलिक प्रणाली है। भारत में सभी आधारभूत नीतियां विधायी अधिनियम पारित करके निर्धारित की जाती हैं। यद्यपि विधायन की परिधि में विधायी तथा संवैधानिक ढांचे के अन्दर सरकार की कार्यपालिका शाखा द्वारा अत्यधिक विशिष्ट नीति-निर्माण तथा न्यायपालिका के समीक्षात्मक प्रकार्य की अनुमति भी होती है।

3.5 शब्दावली

नीति विश्लेषण- प्रतिमानों का निर्माण (प्रणालियों का मॉडल), बुद्धिसंगतवाद- नीतिनिर्माण के समय नीति के विकल्पों का चयन, वृद्धिवाद- क्रमिक सीमित तुलनाऐं अथवा शाखा तकनीक। अभिष्ट- अभिलिखित वस्तु या चाहा हुआ, मुल्यांकन पद- मुल्यांकन हेतु कदम, निर्दिष्ट- उल्लिखित, सहलग्नता- तालमेल या सामंजस्य, इष्टतम- सर्वोत्तम, प्रतिबद्धताऐं - वचन बद्धता, निषेध- अस्वीकृत, अपर्याप्ताऐं - पूर्णता का अभाव, विधायक- चुने गये जनता के प्रतिनिधि, वीक्षण- निरीक्षण या देखना, उद्घाटित- दिखाना, प्रयोज्य- काम आने लायक या जिसका प्रयोग हो सके, तर्कपरकेतर- तर्क पर उतरने वाला, संसदीय संवीक्षा- संसदीय अधिकार, प्राविधिकता- तकनीकी, विशिष्टवादी- असाधारण, सम- एक सा, साम्या- समानता, थाह- मापना, सन्नद्ध- शामिल, मौसम प्रेक्षण- मौसम जानकारी हेतु, अनुशस्ति- मत या आख्या, अवबोधन- अनुभूति या समझना, यादृच्छिक- अनियमित या अव्यवस्थित

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. प्रस्तावना में इस प्रश्न की विस्तृत व्याख्या की गई है।
2. 3.3.1 में 'प्रणालियों के उपागम की सीमाऐं' शीर्षक का अध्ययन करें।
3. नीति-निर्माण के परिवेश में राजनैतिक दलों, दबाव समूहों, जन सम्पर्क माध्यमों तथा नागरिक समूहों जैसे कुछ गैर-सकरारी संगठन शामिल हैं। उनके दृष्टिकोण और प्रभाव नीति-निर्माण की प्रक्रिया में अत्यधिक महत्व रखते हैं। नीतियों के निर्माण में वाह्य परिवेश की संस्थायें भी बहुत प्रभावित करती हैं। देश की सामाजिक, आर्थिक समस्याओं पर संयुक्त राष्ट्र संघ और इसके सम्बद्ध अभिकरणों विश्व बैंक आदि महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

4. 3.3.4 में दबाव समूह की भूमिका का उत्तर निहित है।

3.7 संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. पब्लिक पालिसी एण्ड सिस्टमस, प्रवीर कुमार डे ।
2. लोक प्रशासन, एम0 पी0 शर्मा एवं बी0 एल0 सडाना।
3. लोक नीति, आर0 के0 सप्रू।
4. लोक प्रशासन के नये आयाम, मोहित भट्टाचार्य।

3.8 सहायक/उपयोगीअध्ययन सामग्री

1. लोक प्रशासन, एम0 पी0 शर्मा एवं बी0 एल0 सडाना।
2. लोक नीति, आर0 के0 सप्रू।
3. लोक प्रशासन के नये आयाम, मोहित भट्टाचार्य।

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. नीति-निर्माण में विभिन्न अभिकरणों की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
2. नीति-निर्माण में आने वाली बाधाओं की सविस्तार विवेचना कीजिए।
3. नीति-निर्माण में नौकरशाही अथवा प्रशासनिक एजेन्सियों के कार्यों की विवेचना कीजिए।

इकाई- 4 लोकनीति के अध्ययन का महत्व: आधुनिक परिदृष्य

इकाई की संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 लोकनीति के अध्ययन का महत्व
    4.2.1 भारतीय परिवेश में महत्व
4.3 लोकनीति का आधुनिक परिदृश्य
    4.3.1 वैश्विक परिप्रेक्ष्य
        4.3.1.1 वैश्विक स्तर की लोकनीति
    4.3.2 घरेलू या भारत के सन्दर्भ में लोकनीति
4.4 सारांश
4.5 शब्दावली
4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
4.8 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
4.9 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

समाज की उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही जटिलता के साथ-साथ लोकनीति के क्षेत्र का महत्व बढ़ता जा रहा है। यह केवल शासकीय गतिविधियों के कारणों एवं परिणामों का विवरण और व्याख्या से संबधित नहीं होता वरन् लोकनीति को आकार प्रदान करने वाली शक्तियों के बारे में विज्ञानसम्मत ज्ञान के विकास से भी सम्बन्धित होता है। अध्ययन के अन्तर्गत विषय की सामाजिक व्याधियों को समझने में लोकनीति का अध्ययन सहायक सिद्ध होता है। किसी सामाजिक प्रणाली को अतीत से भविष्य की तरफ गतिशील करने के लिए लोकनीति एक महत्वपूर्ण तंत्र है। उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के वर्तमान चरण में शासन की योग्यता, नीतियां निर्मित करने एवम् उन्हें क्रियान्वित करने में निहित है। लोकनीति में जनता की राजनीतिक क्षमता का सुधार भी सम्मिलित है। नीति-निर्माण का मुख्य लक्ष्य ऐसे मूल्यों का निर्माण करना है, जिनके माध्यम से समाज के प्रत्येक व्यक्ति का समग्र रूप से विकास हो सके।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोकनीति के अध्ययन के महत्व को समझ पायेंगे।
- आधुनिक परिदृश्य में लोकतंत्र के वैश्विक और भारत के संदर्भ में लोकनीति के अध्ययन के महत्व को समझ पायेंगे।

4.2 लोकनीति के अध्ययन का महत्व

आधुनिक प्रशासकीय राज्यों के समस्त दायित्वों की पूर्ति लोक सेवाओं के माध्मय से होती है। अतः सर्वोच्च सत्ता द्वारा निर्मित एवं स्वीकृत लोकनीति का क्रियान्वयन प्रशासनिक कार्यपालिका का वैधानिक दायित्व है। लोकनीति में मूलभूत लक्ष्यों का वर्णन रहता है। अतः व्यवहारिक धरातल पर नीति के क्रियान्वयन का दायित्व सम्बन्धित मंत्रालय का होता है, क्योंकि सम्बन्धित विषयों के आधार पर ही मंत्रालय का गठन किया जाता है। लोकनीति सरकारी निर्णयों से सम्बधित महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, जिसके विषय में गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया गया है। विगत कुछ दशकों से लोकनीति से संबंधित अध्ययन को लोक प्रिय बनाने हेतु नीति विज्ञान की मांग जोरों से उठ रही है, ताकि वर्तमान विज्ञान एवं संचार क्रान्ति के युग में भौतिक साधनों एवं मानवीय संवेदनाओं के मध्य समन्वय स्थापित हो सके। लोकनीति एक समग्र तथा व्यापक अवधारणा है, जिसमें सरकारी क्षेत्र की सभी नीतियां सम्मिलित हैं। कार्य क्षेत्र के आधार पर आर्थिक नीति वह नीति है जिसमें उद्योग, व्यापार, कीमत, लाइसेंस, मुद्रा, उर्जा, राजकोष तथा श्रम से सम्बन्धित नीतियां समाहित हैं। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों से जुड़ी बहुत सी नीतियां आर्थिक नीति कहलाती हैं। इसी तरह सामाजिक सुरक्षा, विकास परिवर्तन एवम् सुधार से जुड़ी बहुत सी नीतियां एकीकृत रूप में सामाजिक नीति कहलाती है। लोकनीति का महत्व सदैव विद्यमान रहा है। राजाओं के शासन काल में राजपुरोहित, धर्म गुरू, सेनापति तथा मंत्रीमंडल के अन्य सदस्य राजा को लोकनीति के प्रत्येक पहलुओं पर परामर्श प्रदान किया करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है। विभिन्न विषयों पर राज्य की व्यवहारिक लोकनीतियों की अनुशंसा का भी वर्णन है। लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रसार तथा लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा की लोकप्रियता के पश्चात अब लोकनीति के निर्माण तथा सफल क्रियान्वयन पर काफी बल दिया जाता है। लोकनीति ही सरकारी कृत्यों का मुख्य केन्द्र बिन्दु है। लोकनीति के निर्माण तथा क्रियान्वयन में राजनीतिज्ञों तथा प्रशासकों की समान भूमिका रहती है। लोकनीति की आवश्यकता में निम्न बिन्दु महत्वपूर्ण हैं-

1. किसी भी राष्ट्र का संविधान जनाकांक्षाओं तथा शासन के उद्देश्य का मूलभूत दस्तावेज होता है। संवैधानिक आदर्शों तथा प्रावधानों को मूर्त रूप देने के लिए कतिपय विषयवार लोकनीतियां आवश्यक होती हैं, ताकि जन कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सके।
2. वर्तमान समय में राज्य सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का माध्यम बन गया है अतः राज्य-प्रायोजित विकास कार्यों तथा परियोजनाओं के लक्ष्य बिना नीति के निर्धारित नहीं हो सकते।
3. जन समस्याओं, जनता की मांगों, राष्ट्रीय आवश्यकताओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य के अनुरूप शासन का दृष्टिकोण निर्धारित करने हेतु लोकनीति ही एक मात्र कारगर उपाय है।

4. लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की अपनी एक विचारधारा के साथ-साथ व्यवस्था सम्बन्धी विचार भी होती है। जनता के हित में विचारों के क्रियान्वयन में लोकनीति का ही सहारा लेना पड़ता है।
5. लोकनीति संसाधनों के सदुपयोग, वितरण, नियंत्रण तथा निर्देशन की प्रक्रियाओं को सरल बना देती है।
6. सरकारी तंत्र में लोकनीति का बहुत बड़ा योगदान है। इसके कारण शासन व प्रशासन के कार्यों में समरूपता दृष्टिगोचर होती है वरन बिखराव की स्थित में आ सकते हैं।

4.2.1 भारतीय परिवेश में महत्व

भारतीय समाज अधिकांशतः एक पिछड़ा समाज है। गरीबी, भुखमरी, कुपोषण, बेरोजगारी, अशिक्षा, बीमारी, सामाजिक-आर्थिक असमानता, सांप्रदायिकता आदि विकराल समस्याओं से हमारा देश बुरी तरह जूझ रहा है। इन बुराइयों का सामना और समाधान लोकनीति के माध्यम से किया जा सकता है। इस दृष्टि से भारत जैसे विकासशील देश में राज्य की भूमिका केवल कानून और व्यवस्था देखने तक सीमित नहीं हो सकती।

विकासशील देशों में राजनीति की वही भूमिका नहीं हो सकती जो कि विकसित देशों में है। विकासशील देशों में राजनीति की व्यापक और महती भूमिका है। भारत जैसे विकासशील देश में राजनीति सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का सबसे शक्तिशाली माध्यम है। इस देश में तमाम बड़े परिवर्तन राजनीति के माध्यम से ही घटित हुए हैं। सामाजिक परिवर्तन की दिशा में बढ़ाए गए हर एक कदम को राजनीति ने ही संभव बनाया है। आज भारत की अधिकांश गरीब जनता के पास अंतिम और एक मात्र ताकत ''वोट'' की ताकत है। इस ''वोट'' की ताकत से ही वह राजनीति को प्रभावित करता है और राजनीति इस ताकत के कारण ही उसका ध्यान रखती है। इसलिए भारत में जब तक लोकतंत्र रहेगा और उसमें गरीबों, शोषितों, पीड़ितों की संख्या बहुसंख्यक होगी तब तक लोकनीति का महत्व बना रहेगा।

दरअसल राजनीति का क्रियात्मक रूप लोकनीति के माध्यम से ही परिलक्षित होता है। जिस तरह की राजनीतिक ताकतें सत्ता में रहेंगी, लोकनीति का स्वरूप भी उसी तरह का होगा और जिस तरह की लोकनीति होगी उसी तरह हमारी समस्याओं का स्वरूप होगा तथा उसी के अनुरूप बहुसंख्यक जनता की दीन-दशा होगी।

इस प्रकार, एक तरफ इस देश की तमाम समस्याओं की जड़ में लोकनीति है तो दूसरी तरफ इस देश की तमाम समस्याओं का समाधान भी लोकनीति ही है। इस कारण लोकनीति के अध्ययन का महत्व बहुत बढ़ जाता है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि किसी भी मामले में रूचि रखने वालों के लिए लोकनीति को समझना आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है। यहां आकर लोकनीति का क्षेत्र काफी व्यापक और विस्तृत हो जाता है और वह लोक प्रशासन के दायरे सें भी बाहर निकल जाता है।

लोकनीति की हमेशा से दोहरी भूमिका रही है और आज भी है। लोकनीति जहां सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन को ला सकती है वहीं वह इन परिवर्तनों को रोक भी सकती है। इसलिए

लोकनीति का निर्धारण काफी सोच-समझकर किया जाना चाहिए। सबसे बड़ी बात है कि लोकनीति का निर्धारण तो सरकार करती है लेकिन उसका असर आने वाली कई पीढ़ियों पर पड़ता है। नेहरू युग की कई नीतियों का प्रभाव आज भी कायम है। उस दौर की नीतियों के अच्छे और बुरे परिणामों के हम आज भी साक्षी हैं। इस संदर्भ में यह कहना कोई अतिसयोक्ति नहीं होगी कि स्वातंत्रयोत्तर भारत का इतिहास बहुत हद तक लोक नीतियों का ही इतिहास है। स्वातंत्रयोत्तर भारत की राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज आदि को समझने के लिए लोकनीतियों का अध्ययन आवश्यक है।

आज दुर्भाग्य यह है कि पैंसठ वर्ष बाद भी लोकनीति की समस्त प्रक्रिया से समाज का बहुसंख्यक भाग गायब है। आज भी नीति-निर्माण प्रक्रिया में उन वंचित तबकों के लिए कोई जगह नहीं है। यह विडंबना ही है कि जो तबका नीतियों से सबसे अधिक प्रभावित होता है और जिसके लिए अधिकांश नीतियां बनाई जाती हैं, वही इस नीति-निर्माण प्रक्रिया से बाहर है। देश की बहुसंख्यक आबादी को दर-किनार कर बनाई गई नीति कभी कारगर नहीं हो सकती। अगर नीतियों को कारगर और प्रभावी बनाना है तो इसके लिए नीति निर्माताओं को इस प्रक्रिया में बहुसंख्यक जनता की भागीदारी सुनिश्चित करनी होगी।

4.3 लोकनीति का आधुनिक परिदृष्य

लोकनीति के आधुनिक परिदृश्य को निम्नाकित बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं-

4.3.1 वैश्विक परिप्रेक्ष्य में

विकासशील देशों पर वैश्विक घटनाओं और क्रियाओं का विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है और ये वित्तीय एवम् तकनीकी सहायता के लिए अंतर्राष्ट्रीय समुदाय पर बहुत अधिक निर्भर रहते हैं। परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय नीतियां वैश्विक मुद्दों में अर्न्तनिहित हैं। राष्ट्रीय नीतियों को प्रभावित करने में अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण राष्ट्रीय नीति-निर्माण के अधिकांश संदर्भ का निर्माण करता है। नीति सम्बन्धी ऐजेंडा भी अन्तर्राष्ट्रीय बनता जा रहा है। जैसे-जैसे बहुराष्ट्रीय कम्पनियां और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अधिक मात्रा में प्रभावित करने लगे हैं, राष्ट्रीय नीति-निर्माताओं की स्वयं अपना ऐजेंडा बनाने की क्षमता कम हो गई है। समाज कल्याण, पर्यावरण, औषधियां, व्यापार जैसे राष्ट्रीय मुद्दे बन चुके हैं। इसके साथ-साथ परा-राष्ट्रीय सहयोग भी बढ़ रहा है। भारत भी इससे अछूता नहीं रहा है। वैश्वीकरण से राष्ट्र राज्य और अन्य देशों के मध्य आपसी संपर्क की संभवनाऐं काफी बढ़ गई हैं। राष्ट्रों का दायित्व नीति एजेंडा पर वैश्विक हो गया है परन्तु नीति-निर्माण और कार्यान्वयन राष्ट्रीय ही होते हैं। इस प्रकार परा-राष्ट्रीय कम्पनियों, राष्ट्रीय तथा विश्व अर्थव्यवस्थाओं के मध्य एक नये प्रकार का आपसी सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। फलस्वरूप बीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में विश्व बैंक और यूरोपीय देशों के दबाव में अपनी व्यापार प्रणालियों में उल्लेखनीय उदारीकरण की शुरूआत की और प्रशुल्क कम किया, व्यापार के गैर-प्रशुल्क अवरोधों को घटाया तथा सार्वजनिक उद्यमों का निजीकरण किया। इन कथनों से प्रतीत होता है कि देश की राजनीतिक व्यवस्था भी विश्व व्यवस्था के

भीतर कार्य करती है। राजनीतिक व्यवस्थाओं की सीमाऐं अब बाहरी दबावों और प्रभावों से अभेद्य नहीं है। आत्मनिर्भरता के बढ़ते सम्बन्धों के परिणाम स्वरूप विश्व एक एकल सामाजिक व्यवस्था सा बन गया है। अल्ब्रो के अनुसार वैश्वीकरण का अर्थ ''वे सभी प्रक्रियाऐं हैं, जिसके द्वारा विश्व के सभी देशों को एक एकल विश्व समाज में समाविष्ट किया गया है।'' वैश्विकता उन शक्तियों में एक है जो वैश्वीकरण के विकास में सहायक है। वैश्वीकरण की धारणा के निहितार्थ यह है कि नीति-निर्माताओं को एक वैश्विक संदर्भ में ऐजेन्डा के निर्माण और समस्या को निर्धारित करने पर विचार करना चाहिए। प्रत्येक देश के नीति निर्माताओं की समृद्धि, मंदी, दबाव और पुर्नलाभ के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक चक्र द्वारा निर्मित नीतिगत संदर्भ में हिस्सेदारी होती है। वैश्विक वातावरण में सरोकारों की अभिसारिता के बारे में चर्चा करना संभव है, जिसके लिए वैश्विक कार्य नीतियों का निर्माण किया जाता है। इस तरह एक वैश्विक संदर्भ में अधिकाधिक मुद्दों का निर्माण राष्ट्र के लोक नीति-निर्माण के संवैधानिक ढ़ांचे के बाहर की वृहत्तर शक्तियों द्वारा होगा। इन कथनों से स्पष्ट हो गया कि विश्व स्तर पर बनाई जाने वाली लोकनीतियां घरेलू नीतियों को भी बहुत प्रभावित करती हैं।

4.3.1.1 वैश्विक स्तर की लोकनीति

1. **पर्यावरण नीति-** वायु एवम् जल प्रदूषण, वनों का नाश और उर्वर मृदा की क्षति संकट पूर्ण समस्याऐं बनती जा रही हैं। जिससे स्वास्थ्य, खाद्यान उत्पादन, उत्पादकता आदि समस्याऐं भीषण चुनौती दे रहा है। पर्यावरण की गुणवत्ता की सुरक्षा और सुधार 1980 के दशक से एक वैश्विक मुद्दा बन चुका है। वैश्विक पर्यावरण पर बढ़ते जोर के कारण, राष्ट्रीय नीति निर्माताओं पर भी सतत दबाव बन चुका है कि वे अपनी नीति सम्बन्धी स्थिति को परिवर्तित एवम् संशोधित करें। प्रदूषण को नियन्त्रित करने के तौर तरीकों पर अन्तर्राष्ट्रीय करार और पर्यावरणविद्वों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्धों ने ऐसी सूचना के आदान-प्रदान की व्यवस्था की है जो नीति ऐजेंडा का आकार प्रदान करती है। जून 1992 में ब्राजील में संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण और विकास सम्मेलन में भूमंडलीय तापमान को नियंत्रित करने और प्रजातियों की विविधता को परिलक्षित रखने के लिए संधिया सम्पन्न हुई। बैठक में पर्यावरण संरक्षण और संपोषणीय विकास के व्यापक सिद्धान्त तथा भिन्न-भिन्न पर्यावरणीय समस्याओं का मुकाबला करने के लिए विस्तृत लोकनीति बनाई गई। आज पूरा विश्व 14 जून को 'पर्यावरण दिवस' मनाता है।
2. **जनसंख्या नियन्त्रण एवम् गरीबी उन्मूलन नीति-** विश्व की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है और हमारे पास सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त अनाज नहीं है। जनसंख्या के विस्फोट के खतरे एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों में अधिक हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि विकासशील राष्ट्रों में यह भयावह स्थिति उत्पन्न कर रहा है, जिसके कारण वहां सामान्य स्वास्थ्य संबंधी और अन्य सुविधाऐं उपलब्ध नही हैं। 21वीं शताब्दी शुरू होने के साथ ही

बढ़ती जनसंख्या और प्रति व्यक्ति उपभोग का बढ़ता भार प्राकृतिक संसाधनों को क्षीण करते जा रहे हैं, इससे विकासशील राष्ट्रों में निर्धनता का आयाम बढ़ रहा है। गरीबी और जनसंख्या वृद्धि भी वैश्विक मुद्दे बन गये हैं। उदाहरणार्थ निर्धनता का मुकाबला करने के लिए विश्व बैंक ने नये उपागम प्रस्तावित किए हैं। परिवार नियोजन को जनसंख्या वृद्धि को कम करने की एक कार्यनीति के रूप में देखा जाता है। जनसंख्या और विकास सम्बन्धी कार्यक्रम पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन 1994 में कहा गया है कि ''परिवार नियोजन कार्यक्रमों का उद्देश्य पति-पत्नी एवम् व्यक्तियों को इस बात के लिए समर्थ बनाने पर होना चाहिए कि वे जनसंख्या का आकार कम करने की दृष्टि से अपने बच्चों की संख्या और उसमें अंतराल के बारे में स्वतंत्र रूप से और उत्तरदायी रूप से निर्णय ले सकें।''

3. **स्वास्थ्य नीति-** प्रत्येक वर्ष सात अप्रैल को विश्व स्वास्थ्य दिवस मनाया जाता है। इसके अनतर्गत आने वाली बहुत सी बीमारियां हैं। यहां पर सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं है। परन्तु कुछ बीमारियों एवम् उनके निदान पर वैश्विक सोच निरन्तर प्रयासरत है। पोलियो से ग्रसित न हो इसलिए दवा की 'दो बूंद' ज्वलंत उदाहरण है। ऐसे ही तपेदित(TB) से बचने के लिए उनका समग्र रूप से उपचार एवम् खान-पान का दिशा निर्देष व्यापक रूप से प्रसारित किया जाता है। इसी प्रकार 'एड्स' अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए गंभीर चिंता का विषय बन चुका है। एच.आई.वी./एड्स से कई मिलियन लोग विश्व भर में ग्रसित हो रहे है। इस महामारी से सकल राष्ट्रीय उत्पाद पर भावी प्रभाव पड़ रहा है। ये सब वैश्विक मुद्दे हैं, जिसके समाधान में अन्तर्राष्ट्रीय एवम् राष्ट्रीय स्तर पर कई कठोर कदम उठाये जा रहे हैं।
4. **आतंकवाद समाप्त करने की नीति-** आतंकवाद एक अन्य वैश्विक समस्या है जो कैंसर की तरह फैल रहा है। इक्कीसवीं शताब्दी में विश्व भर का प्रमुख शत्रु आतंकवाद है। आंतकवादी की छाया राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक रूप से मौजूद है। विशेष रूप से उप- भारतीय महाद्वीप इससे काफी अशांत है। अब, वैश्विक आतंकवाद से लड़ने के लिए वैश्विक सहयोग की आवश्यकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और यूरोपीय संघ ने भारत के संसद 13 दिसम्बर, 2001 के आतंकवादी हमले के बाद पाकिस्तान के विरूद्ध कार्यवाही की। इसी प्रकार, अपने सदस्यों के मध्य मतभेदों को दरकिनार करते हुए दक्षेस की स्थायी समिति ने 1 जनवरी, 2002 को इस बात का संकल्प लिया कि संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के आतंकवाद विरोधी प्रस्ताव को इसकी समग्रता में कार्यान्वित किया जाए।
5. **व्यापार एवम् उद्योग नीति-** वैश्विक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उद्योग जगत में भी काफी परिवर्तन घटित हुए हैं। वैश्विक स्थानान्तरण के प्रमुख स्रोत परा-राष्ट्रीय सरकारों द्वारा अपनायी गई नीतियां और परिवहन, संचार तथा उत्पादन की समर्थकारी प्रौद्योगिकीयां हैं। इससे राष्ट्रीय सरकारों की उन परिवर्तनों से स्वतंत्र रहकर नीतियों का

निर्माण करने की क्षमता बहुत हद तक कमजोर हुई है। वैश्विक औद्योगिक वातारण का राष्ट्रीय प्रक्रियाओं के साथ आपसी संपर्क होता है और परिणामस्वरूप राष्ट्रीय नीतियां ऐसे कार्य-कलापों और घटनाओं से काफी प्रभावित होती हैं।

4.3.2 घरेलू या भारत के सन्दर्भ में लोकनीति

हम वैश्विक नीतियों की काफी चर्चा कर चुके हैं। भारत भी लोक नीति-निर्माण प्रक्रिया में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उन्हीं नीतियों से प्रेरित हैं। यहां पर नीति-निर्माण की प्रक्रिया में योजना आयोग एवम् राष्ट्रीय विकास परिषद दोनों की ही महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। योजना आयोग एक परामर्शदाता निकाय के रूप में प्रचलित है, जिसकी स्थापना 1950 में हुई थी। आयोग देश के सामाजिक आर्थिक विकास में नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना 1952 में हुई थी इसके सदस्य प्रधानमंत्री, केन्द्रीय मंत्री, राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के मुख्यमंत्री योजना आयोग के सदस्य होते हैं। भारत के संविधान में वर्णित नीति-निदेशक तत्वों में राज्य के लिए उन प्रयासों का वर्णन किया गया है जो श्रमिक, निर्धन, पिछड़े, अशक्त, बालक तथा समाज की दृष्टि में हेय व्यक्ति के उत्थान के लिए आवश्यक है। लोकनीति के माध्यम से इन्हीं वर्गों के उत्थान के प्रयास किये जाते हैं। निम्न में कुछ नीतियों को वर्णित किया जा रहा है।

1. **जनसंख्या नीति-**15 फरवरी, 2000 को भारत की नई राष्ट्रीय जनसंख्या नीति की घोषणा की गई। इस नीति के प्रमुख प्रावधान इस प्रकार है। सन् 2026 तक लोक सभा की सीटों में वृद्धि नहीं की जाएगी। भारत की जनसंख्या का स्थिरीकरण सन् 2045 तक कर लिया जायेगा। इस हेतु प्रजनन दर 2.1 के स्तर तक लायी जायेगी। दो बच्चों का मानदण्ड जारी रहेगा। छोटे परिवार की अवधारणा को प्रोत्साहित करने वाली पंचायतों तथा जिला परिषदों को पुरस्कृत किया जाएगा।
2. **निःशक्तता ग्रस्त व्यक्तियों हेतु राष्ट्रीय नीति-** दिसम्बर 2005 में घोषित राष्ट्रीय निःशक्तिजन नीति के द्वारा निःशक्तिजनों के अधिकारों की रक्षा, पुनर्वास, शिक्षा तथा आर्थिक उन्नयन सहित निःशक्तता की रोकथाम के प्रयासों को प्राथमिकता दी गई है।
3. **आरक्षण नीति-** समाज के विभिन्न जातियों को आरक्षित कर उन्हें विकास की मुख्य धारा से जोड़ने के लिए इस नीति को लागू किया गया। लोकतांत्रिक प्रणाली में पंचायती राज संस्थाओं एवं शहरी निकाय में अनुसूचति जाति, अनुसूचित जन जाति, पिछड़ा वर्ग एवम् महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए इनको आरक्षण प्रदान किया गया है। ऐसे ही शिक्षा के जगत में इनको जनसंख्या के आधार पर 21 प्रतिशत, 3 प्रतिशत एवम् 27 प्रतिशत आरक्षण प्राप्त है।
4. **स्वैच्छिक क्षेत्र सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति-** 2007 में इन संगठनों की निम्नांकित विशेषताऐं बतायी गई हैं। पहला- ये निजी होते है अर्थात् सरकार से भिन्न, ये अर्जित लाभ को अपने मालिकों को नहीं लौटाते हैं। ये स्वशासित होते हैं। ये संगठन निर्धारित लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के साथ पंजीकृत संगठन या अनौपचारिक समूह होते हैं। दूसरा- ऐसे ही बहुत सारी

लोकनीतियां हैं, जिसमें राष्ट्र के विकास में समाज के प्रत्येक इकाई का योगदान आपेक्षित है। अन्ततोगत्वा राष्ट्र विकसित, सशक्त एवम् समृद्धशाली होगा।

अभ्यास प्रश्न-

1. लोकनीति अध्ययन के महत्व पर टिप्पणी लिखिए।
2. लोकनीति के वैश्विक परिप्रेक्ष से क्या तात्पर्य है।
3. आतंकवाद समाप्त करने की नीति पर संक्षिप्त विवरण दीजिए।
4. भारत में पर्यावरण दिवस कब बनाया जाता है?

4.4 सारांश

सामान्यतः यह अहसास किया गया है कि विकासशील लोकतांत्रिक राष्ट्रों में लोकनीति वैश्विक शक्तियों से प्रेरित है। जिससे आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक नीतियां काफी प्रभावित होती हैं। 1990 के दशक तक विश्व भर के राष्ट्र सार्वजनिक उद्यमों का निजीकरण करने में काफी सक्रिय रहे। वैश्विक संदर्भ में साझा मुद्दों और समस्याओं की उत्तरोत्तर रूप में पहचान अन्तर्राष्ट्रीय अर्थों में की जा सकती है, परन्तु नीति-निर्माण और कार्यान्वयन करने की प्रकृति राज्यों में समाहित होती है। लोकनीति के अध्ययन का महत्व आज के संदर्भ में प्रासंगिक इसलिए है कि विकासशील राष्ट्र बहुत सी चुनौतियों से ग्रसित हैं। फलस्वरूप उनके विकास की दर बहुत कम है। चुनौतियों से निपटने के लिए भिन्न-भिन्न नीतियां निर्मित की जाती हैं। विकास एवं सुशासन के लिए गरीबी उन्मूलन, सर्व शिक्षा अभियान, स्वास्थ्य कार्यक्रम आदि महत्वपूर्ण घटक हैं। इन कार्यक्रमों के प्रति जागरूकता लाना एवं सक्रिय सहभागिता लोकनीति के माध्यम से बहुत हद तक संभव है।

4.5 शब्दावली

प्रशुल्क- आयात व निर्यात पर लगने वाला कर, प्रौद्योगिकी- प्राविधिकी, वैश्विक- विश्व स्तर पर, निःशक्तता- शक्तिहीन, पर्यावरण- चारों और का प्राकृतिक आवरण, बहुलांश- नागरिकों की अधिक सहभागिता, अभिसारिता- आगे बढ़ना

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. लोकनीति के महत्व को 4.2 में समझा जा सकता है।
2. वैश्विक परिप्रेक्ष को जानने के लिए 4.3.1 को अध्ययन करना पड़ेगा। सामान्यतः सम्पूर्ण विश्व के संदर्भ में वैश्विक शब्द का प्रयोग होता है।
3. आतंकवाद राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है। वर्तमान युग में यह सम्पूर्ण जगत को चुनौती दे रहा है। विश्व इससे निपटने के लिए सदैव तत्पर है और इसको समाप्त करने के वास्ते लोकनीतियों का निर्माण किया गया है। ज्यादा विस्तृत जानकारी के लिए इसके समापन की नीति को पढ़ना होगा।
4. पर्यावरण दिवस जानने से पहले पर्यावरण को समझना नितान्त आवश्यक है। इसके प्रदूषण से होने वाली समस्याओं का निदान पर्यावरण लोकनीति में बताया गया है। वैसे ये दिवस

पूरे विश्व में 14 जून को मानया जाता है। प्रदूषण को रोकने के उपायों के प्रति जागरूकता अभियान भी चलाया जाता है।

4.7 संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. विकास प्रशासन, ए0 पी0 अवस्थी।
2. सामाजिक प्रशासन, सुरेन्द्र कटारिया।
3. प्रशासन एवं लोकनीति, मनोज सिन्हा।
4. लोक प्रशासन के उभरते आयाम, अनुपम शर्मा।

4.8 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. विकास प्रशासन, ए0 पी0 अवस्थी।
2. सामाजिक प्रशासन, सुरेन्द्र कटारिया।
3. प्रशासन एवं लोकनीति, मनोज सिन्हा।
4. लोक प्रशासन के उभरते आयाम, अनुपम शर्मा।

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोकनीति से आप क्या समझते हैं? इसके उद्देश्य एवम् महत्व की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. लोकनीति के महत्व का वैश्विक परिदृश्य के संदर्भ में विस्तृत व्याख्या कीजिए।
3. लोकनीति का निर्माण भारत में कितना प्रभावशाली है? उदाहरण सहित इसकी विवेचना कीजिए।

इकाई- 5 नीति-निर्माण में राजनीतिक कार्यपालिका की भूमिका

इकाई की संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 राजनीतिक कार्यपालिका का अर्थ
5.3 नीति-निर्माण में राजनीतिक कार्यपालिका की भूमिका
5.3.1 मंत्रीमंडल एवं प्रधानमंत्री की भूमिका
5.3.2 मंत्रीमंडलीय सचिवालय की भूमिका
5.3.3 मंत्रीमंडलीय समितियों की भूमिका
5.3.4 प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका
5.3.5 मंत्रीमंडलीय सचिवालय एवं प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका
5.4 नीतिगत मुद्दों का चयन
5.4.1 नीतिगत मुद्दे एवं जनमत
5.5 नीतिगत कार्यवृत्त की पहचान
5.6 नीतिगत प्रस्ताव की पहचान: कुछ तकनीक
5.7 सारांश
5.8 शब्दावली
5.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
5.11 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
5.12 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

लोकतंत्र में लोकनीति की अवधारणा का व्यापक महत्व है। किसी देश के सामाजिक-आर्थिक रुपाँतरण में इन नीतियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। सरकार द्वारा अपनी जनता के लिए बनाई जाने वाली नीतियाँ ही लोकनीति कही जाती हैं। यह सरकार का एक महत्वपूर्ण कार्य है। वर्तमान में जनता की देखभाल का जिम्मा सरकारों पर होता है। उसे अनेक किस्म के कार्य करने पड़ते हैं और प्रत्येक कार्य के पहले नीतियाँ मार्गदर्शक का काम करती हैं। नीतियों के बिना सरकार नहीं चल सकती और सरकार के बिना लोकतंत्र की धारणा व्यर्थ है। वास्तव में, नीति वह साधन या माध्यम है जिसके सहारे लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। नीति-निर्माण को लोक प्रशासन का केंद्रीय तत्व माना गया है क्योंकि नीति-निर्माण प्रक्रिया में सरकार के तीनों अंग- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका, किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होते हैं। प्रस्तुत इकाई में नीति-निर्माण में राजनीतिक कार्यपालिका की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप नीतिगत मुद्दों का चयन, नीतिगत कार्यवृत्त की पहचान तथा नीतिगत प्रस्ताव की पहचान के

तकनीकों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे तथा इसकी भूमिका का विश्लेषण करने में भी समर्थ होंगे।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राजनीतिक कार्यपालिका के अर्थ एवं कार्य के बारे में जान सकेंगे।
- नीति-निर्माण में प्रधानमंत्री, मंत्रीमंडल एवं मंत्रीमंडलीय समितियों की भूमिका के बारे में भी जान सकेंगे।
- मंत्रीमंडलीय सचिवालय एवं प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका एवं कार्य के बारे में भी आपको ज्ञान प्राप्त होगा।
- नीतिगत मुद्दों, नीतिगत कार्यवृत्त एवं प्रस्तावों की पहचान प्रक्रिया को इंगित कर पाऐंगे।
- नीति-निर्माण में जनमत की भूमिका का भी ज्ञान होगा।

5.2 राजनीतिक कार्यपालिका का अर्थ

कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जिसका कार्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों का क्रियान्वयन करना है। कार्यपालिका का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है- व्यापक अर्थ में, कार्यपालिका के अंतर्गत वे सभी अधिकारी एवं कर्मचारी आते हैं जिनका सम्बन्ध प्रशासन से होता है। संकुचित अर्थ में, कार्यपालिका के अंतर्गत वे राजनीतिक अधिकारीगण आते हैं जिनका सम्बन्ध नीति-निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन से होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति तथा उसके सचिव, ब्रिटेन में सम्राट तथा उसके मंत्रीमंडल तथा फ्रांस में राष्ट्रपति तथा मंत्रीमंडल, कार्यपालिका के अंतर्गत आते हैं। लापोलाम्बरा ने सरकार, कार्यपालिका तथा नौकरशाही में अंतर बताया है। मैक्रिडीस के अनुसार राजनीतिक कार्यपालिका राजनीतिक समाज के शासन हेतु औपचारिक उत्तरदायित्व निभाने वाली संस्थागत व्यवस्था है। आधुनिक काल में राजनीति विज्ञान के अंतर्गत कार्यपालिका में कार्यपालिका के प्रधान एवं मंत्रीमंडल शामिल हैं, वहीं असैनिक सेवा तथा आईएस स्तर के कर्मचारी इसमें नहीं आते हैं।

किसी देश की राजनीतिक कार्यपालिका का स्वरुप एवं संगठन वहाँ की संवैधानिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित किया जाता है। विश्व में राजनीतिक कार्यपालिका के विविध स्वरुप हैं, यथा-

- राजनीतिक कार्यपालिका एवं स्थायी कार्यपालिका;
- नाममात्र की कार्यपालिका एवं वास्तविक कार्यपालिका;
- एकल कार्यपालिका एवं बहुल कार्यपालिका;
- संसदीय कार्यपालिका एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिका;
- स्वेच्छाचारी कार्यपालिका एवं उत्तरदायी कार्यपालिका आदि।

राजनीतिक कार्यपालिका के किसी रूप की उपयोगिता एवं सार्थकता उस देश की परिस्थितियों एवं जनसंख्या के चरित्र पर निर्भर करती है।

राजनीतिक शासन व्यवस्था के विभाजन का एक प्रमुख आधार कार्यपालिका का स्वरूप है। कार्यपालिका एवं विधायिका के परस्पर संबंधों के आधार पर शासन दो रूपों में बाँटा जा सकता है- संसदीय एवं अध्यक्षात्मक। आधुनिक लोकतन्त्र के युग में सरकार के विभाजन का प्रमुख आधार पर यही है। संसदीय शासन व्यवस्था में राजनीतिक कार्यपालिका के अंतर्गत राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रीमंडल, सचिवालय, विभिन्न मामलों से सम्बंधित मंत्रीमंडलीय समितियों और प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, वहीं अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में राष्ट्रपति एवं उसका मंत्रीमंडल नीति-निर्माण की पहल करता है। भारत एवं ब्रिटेन जैसे संसदीय शासन प्रणाली वाले देशों में नीति-निर्माण मुख्यतः मंत्रीमंडल द्वारा ही किया जाता है। किसी भी प्रकार के नीतिगत प्रस्ताव की स्वीकृति मंत्रीमंडल से आवश्यक होती है । वस्तुतः प्रधानमंत्री मंत्रीमंडल की धुरी होता है। निश्चित रूप से नीति-निर्माण में उसकी विशेष भूमिका होती है।

5.3 नीति-निर्माण में राजनीतिक कार्यपालिका की भूमिका

नीति-निर्माण एक अनवरत चलनेवाली प्रक्रिया है। नीति न तो कोई स्थिर विधा है और न ही स्थायी। गतिशीलता एवं लचीलापन नीतियों का प्राण तत्व है। परिस्थितियों के अनुरूप नीतियों में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। समय-समय पर उभरनेवाले मुद्दों एवं समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में नीतियों का पुनःनिर्धारण भी आवश्यक होता है। साथ ही नीति-निर्माण के एक जटिल प्रक्रिया होने के कारण इसमे सरकार के विभिन्न अंग एवं अन्य गैर-सरकारी माध्यम सशक्त भूमिका अदा करते हैं ।

किसी भी देश की शासन व्यवस्था उसके राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग होती है। यह राज्य की नीतियों को लागू कर उसके लक्ष्यों को साकार बनाती है तथा उसे सार्थकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। राजनीतिक कार्यपालिका प्रत्येक देश के लोक प्रशासन का शीर्षस्थ अभिकरण है। यह प्रशासन के राजनीतिक अध्यक्ष के रूप में समस्त प्रशासन का निर्देशन, पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण करती है। यह सभी प्रशासनिक अभिकरणों को नेतृत्व प्रदान करती है विविध इकाईयों के मध्य समन्वय भी स्थापित करती है। प्रशासनिक कार्यकुशलता एवं मितव्ययिता इस पर ही निर्भर करती है।

संसदीय प्रणाली वाले देशों में नीति-निर्माण एवं प्रशासन एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े होते हैं। वस्तुतः विधायिका के सदस्य ही कार्यपालिका का निर्माण करते हैं और कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इन्हीं कारणों से नीति-निर्माण एवं प्रशासन के मध्य एक अटूट रिश्ता हो जाता है। इस सन्दर्भ में पीटर ओडेगार्ड का कथन बिल्कुल सही है कि नीति और प्रशासन राजनीति के जुड़वा बच्चे हैं जो एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते हैं। उपरोक्त कथन न केवल संसदीय प्रणाली वाले देशों के लिए सही है बल्कि अध्यक्षीय प्रणाली

वाले देशों के सन्दर्भ में भी बहुत हद तक सही है, जहाँ शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त लागू होता है।

भारत में संसदीय शासन व्यवस्था होने के कारण लोक नीति-निर्माण की केन्द्रीय धुरी मंत्रीमंडल है, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है। वस्तुतः प्रधानमंत्री केन्द्रीय कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होता है। राष्ट्रपति मंत्रीमंडल की सलाह से कार्य करता है तथा उसकी भूमिका नाममात्र के प्रधान की होती है। समय के उभरते प्रतिमानों के फलस्वरूप संसदीय प्रणाली मंत्रीमंडलीय प्रणाली के बाद अब प्रधानमंत्रीय प्रणाली में परिवर्तित हो चुकी है। वास्तविकताओं के आधार पर ही सर्वप्रथम आइवर जेंनिंग्स ने संसदीय प्रणाली को कैबिनेट या मंत्रीमंडलीय प्रणाली की संज्ञा दी थी। तत्पश्चात् आर.एच.एस.क्रॉस्मैन ने प्रधानमंत्री पद की महत्ता को देखते हुए संसदीय प्रणाली को प्रधानमंत्रीय प्रणाली कहा। स्पष्ट रूप से जमीनी हकीकत प्रधानमंत्री एवं उसके मंत्रीमंडल की निर्णायक भूमिका को इंगित करते हैं। राज्यों का संघ भारत एक संपूर्ण प्रभुतासंपन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य है जिसमें संसदीय प्रणाली की सरकार है। गणराज्य उस संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार प्रशासित होता है जो 26 नवंबर, 1949 को संविधान सभा द्वारा स्वीकृत किया गया और 26 जनवरी, 1950 को लागू हुआ।

भारत के राष्ट्रपति संघ की कार्यपालिका के संवैधानिक प्रमुख होते हैं। संविधान का अनुच्छेद 74(1) यह निर्दिष्ट करता है कि कार्य संचालन में राष्ट्रपति की सहायता करने तथा उन्हें परामर्श देने के लिए प्रधानमंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रीपरिषद होगी तथा राष्ट्रपति उसके परामर्श से ही कार्य करेंगे। इस प्रकार कार्यपालिका की वास्तविक शक्ति प्रधानमंत्री के नेतृत्व में गठित मंत्रीपरिषद् में निहित होती है। मंत्रीपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। संविधान मंत्रियों की श्रेणी निर्धारित नहीं करता है। मंत्रीपरिषद एक संयुक्त निकाय है जिसमें सामान्यतः तीन प्रकार के मंत्री होते हैं। यह देश का सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्णय लेने वाला निकाय है। इस के द्वारा स्वीकृत निर्णय अपने आप मंत्रीपरिषद द्वारा स्वीकृत निर्णय मान लिये जाते हैं। राजनीतिक कद एवं प्रशासनिक अनुभव के आधार पर कैबिनेट मंत्री सर्वाधिक वरिष्ठ मंत्री होते हैं, उनकी सहायता हेतु राज्य मंत्री तथा उपमंत्री होते हैं। कैबिनेट मंत्री को कैबिनेट बैठक में बैठने का अधिकार होता है। संविधान का अनुच्छेद-52 उन्हें यह मान्यता प्रदान करता है। राज्य मंत्री द्वितीय स्तर के मंत्री होते हैं। सामान्यत: उन्हें मंत्रालय का स्वतंत्र प्रभार नहीं मिलता परन्तु प्रधानमंत्री राजनीतिक कद के अनुसार चाहे तो यह कर सकता है। सामान्यतः उन्हें कैबिनेट बैठक मे आने का अधिकार नही होता। उपमंत्री कनिष्ठतम मंत्री है। उनका पद सृजन कैबिनेट या राज्य मंत्री को सहायता देने हेतु किया जाता है।

भारत सरकार (कार्य आबंटन) नियम, 1961 भारत सरकार के कार्य के आबंटन के लिए संविधान की धारा-77 के तहत राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए हैं। सरकार के मंत्रालय/विभाग राष्ट्रपति द्वारा इन नियमों के तहत प्रधानमंत्री की सलाह पर सृजित किए जाते हैं। सरकार के कार्य मंत्रालयों/विभागों, सचिवालयों तथा कार्यालयों (जिन्हें 'विभाग' कहा जाता है) में इन नियमों के तहत निर्दिष्ट विषयों के वितरण के अनुसार किए जाते हैं। राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री

की सलाह पर प्रत्येक मंत्रालय का कार्य एक मंत्री को सौंपा जाता है। आम तौर पर प्रत्येक विभाग नीतिगत मुद्दों और सामान्य प्रशासन पर मंत्री को सहायता देने के लिए एक सचिव के प्रभार में कार्य करता है।

5.3.1 मंत्रीमंडल एवं प्रधानमंत्री की भूमिका

भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में कार्यपालिका की वास्तविक शक्तियॉ मंत्रीमंडल में निहित होती है। समस्त नीति गत निर्णय सामूहिक रूप से मंत्रीमंडल लेता है। संविधान की व्यवस्था के अनुसार संसदीय शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति नाममात्र का कार्यकारी प्राधिकारी एवं प्रधानमंत्री वास्तविक कार्यकारी प्राधिकारी होता है। अर्थात् राष्ट्रपति देश का प्रमुख होता है और प्रधानमंत्री सरकार का। राज्य प्रमुख, सरकार प्रमुख न होकर मात्र संवैधानिक प्रमुख ही होता है। केंद्र स्तर पर राष्ट्रपति को मंत्रणा देने हेतु प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रीपरिषद भी कार्य करता है, जिसकी सलाह के अनुसार ही राष्ट्रपति कार्य करता है। राष्ट्रपति मंत्रीगण की नियुक्ति उस की सलाह से ही करता है तथा मंत्रीपरिषद के विभाग का निर्धारण भी वही करता है।

भारत जैसे संसदीय प्रजातंत्र में मंत्रीमंडल प्रशासनिक पदसोपान का शीर्षस्थ अंग है। यह सरकार की सामान्य नीतियों का निर्माण करती है तथा विविध मंत्रालयों एवं विभागों के मध्य सहयोग एवं समन्वय भी स्थापित करती है। प्रशासनिक सुधार आयोग (1966-70)के शब्दों में "मंत्रीमंडल नीतियों के अंतिम निर्धारण के लिए उत्तरदायी है और साथ ही साथ यह सरकार के समस्त कार्यों, प्रशासनिक संगठन के सामान्य निर्देशन, समन्वय और निरिक्षण के लिए भी उत्तरदायी है"। इस सन्दर्भ में "रसोई मंत्रीमंडल " (किचेन कैबिनेट) का जिक्र भी उचित प्रतीत होता है। यह राजनीतिक प्रमुख के गैर-सरकारी सलाहकारों का वह समूह है जो सरकारी मंत्रीमंडल से अधिक प्रभावशाली होता है। रसोई मंत्रीमंडल का प्रयोग सलाहकारों के उस अनौपचारिक समूह के लिए मौलिक रूप से किया गया था जिससे अमेरिकी राष्ट्रपति परामर्श लिया करते थे। भारत में भी श्रीमती इंदिरा गाँधी के कार्यकाल में ऐसे मंत्रीमंडल की मौजूदगी कही जाती है।

प्रधानमंत्री को देश का सबसे महत्वपूर्ण राजनैतिक व्यक्तित्व माना जाता है। प्रधानमंत्री की दशा समानों मे प्रधान की तरह है । वह कैबिनेट का मुख्य स्तंभ है तथा सभी नीतिगत निर्णय वही लेता है। राष्ट्रपति तथा मंत्री परिषद के मध्य संपर्क सूत्र भी वही है। प्रधानमंत्री समस्त नियुक्तियों एवं पदस्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। हालाकि प्रधानमंत्री समस्त नीतियों के निर्माण में सीधे तौर से जुड़ा नहीं होता है फिर भी उसकी छाप हरेक नीति पर दिखाई देती है। संसद में बहुमत दल के नेता होने ने नाते संसदीय कार्य प्रणाली में उसकी महत्वपूर्ण दखल होती है । संसदीय प्रजातंत्र में मंत्रीमंडल के प्रमुख के रूप में वास्तव में प्रधानमंत्री देश का सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति प्रतीत होता है। समस्त राजनीतिक निर्णयों में उसकी भूमिका को देखते हुए ही उसे "मंत्रीमंडलीय गुम्बद की आधारशिला" कहा गया है।

5.3.2 मंत्रीमंडलीय सचिवालय की भूमिका

समस्त प्रशासकीय कार्यों की जिम्मेदारी मंत्रीमंडल पर होती है, जिसके सहायतार्थ मंत्रीमंडलीय सचिव एवं मंत्रीमंडलीय सचिवालय की स्थापना की गयी है। मंत्रीमंडलीय सचिवालय प्रधानमंत्री के प्रभार के अधीन है। मंत्रीमंडलीय सचिव इस सचिवालय का प्रशासनिक प्रमुख है जो सिविल सेवा बोर्ड का भी पदेन अध्यक्ष होता है। भारत सरकार (कार्य आबंटन) नियम, 1961 में ''मंत्रीमंडलीय सचिवालय'' को नियमों की प्रथम अनुसूची में स्थान दिया गया है। इस सचिवालय को आबंटित विषय हैं, पहला-मंत्रीमंडल तथा मंत्रीमंडलीय समितियों को सचिवीय सहायता; और दूसरा- कार्य के नियम।

मंत्रीमंडलीय सचिवालय भारत सरकार (कार्यकरण) नियम, 1961 तथा भारत सरकार (कार्य आबंटन) नियम 1961 के प्रबंधन के लिए उत्तरदायी है। इन नियमों का पालन सुनिश्चित करते हुए मंत्रालयों/विभागों में कार्य का सुचारु रूप से संचालन में आसानी होती है। सचिवालय सरकार के लिए अंतर-मंत्रालय सहयोग सुनिश्चित करता है तथा मंत्रालयों एवं विभागों के बीच मतभेद भी दूर करने का प्रयास करता है। मंत्रीमंडलीय सचिवालय सचिवों की स्थायी तथा तदर्थ समितियों को युक्तिपूर्ण रूप से उपयोग कर सरकार को सहायता प्रदान करता है। इस प्रक्रिया के द्वारा नई नीतिगत पहलों को भी प्रोत्साहन दिया जाता है।

मंत्रीमंडलीय सचिवालय यह सुनिश्चित करता है कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और मंत्रियों को उनकी गतिविधियों के मासिक सारांश के माध्यम से सभी मंत्रालयों एवं विभागों की प्रमुख गतिविधियों के बारे में सूचना दी जाए। देश में प्रमुख संकट की परिस्थितियों के प्रबंधन और इन परिस्थितियों में विभिन्न मंत्रालयों के समन्वय की गतिविधियां भी मंत्रीमंडलीय सचिवालय के कार्यों में से एक है।

मंत्रीमंडलीय सचिवालय को अंतर-मंत्रालय समन्वय को प्रोत्साहन देने के लिए विभाग द्वारा एक उपयोगी प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है, क्योंकि मंत्रीमंडलीय सचिव नागरिक सेवाओं के प्रमुख भी हैं। सचिवों द्वारा मंत्रीमंडलीय सचिव को समय समय पर विकासों की जानकारी देना अनिवार्य समझा जाता है। कार्य नियमों के निर्वहन के लिए भी उन्हें अनौपचारिक रूप से मंत्रीमंडलीय सचिव को जानकारी देनी होती है, विशेष रूप से यदि वे इनमें से किसी नियम से परे जा रहे हों। इसके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी करता है, यथा निगरानी, समन्वय तथा नयी नीतिगत पहलों को प्रोत्साहित करना आदि। मंत्रीमंडल की बैठकें बुलाना, कार्यसूची का निर्माण एवं परिचालन, विचार-विमर्श के अभिलेखों का परिचालन तथा निर्णयों के कार्यान्वयन पर निगरानी रखना भी मंत्रीमंडलीय सचिवालय का प्रमुख कार्य है।

5.3.3 मंत्रीमंडलीय समितियों की भूमिका

मंत्रीमंडल की भूमिका नीति-निर्माण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। मंत्रीमंडल अपना कार्य विभिन्न समितियों के माध्यम से करता है। मंत्रीमंडलीय समितियां एक महत्वपूर्ण लेकिन अनौपचारिक निर्माण हैं जो बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में ग्रेट ब्रिटेन में स्थापित किये गए थे, अनंतर इनका अस्तित्व बना रहा। यह भारत में मंत्रीमंडल के आवश्यक सहयोगी के रूप में

कार्य करता रहा है। भारत में मंत्रीमंडलीय समितियां दो प्रकार की हैं- स्थायी और अस्थायी। सामान्य तौर पर स्थायी समितियों की संख्या दस से अधिक होती है जबकि अस्थायी समितियां आवश्यकता पड़ने पर गठित की जाती रही है। सामान्यतः मंत्रीमंडल के पास अत्यधिक कार्य होता है और उसके पास उन्हें निपटाने के लिए सीमित समय होता है। इस प्रकार प्रत्येक मामले पर विस्तृत और सुव्यवस्थित ढंग से जाँच कर पाना और उन पर विचार किया जाना असंभव हो जाता है। इसलिए मंत्रीमंडल के कतिपय कार्यों को समितियों को सौंपा जाना एक सामान्य परिपाटी बन गई है। यह इस बात से और भी आवश्यक हो गया है कि समिति के पास उसे भेजे गए किसी मामले के संबंध में विशेषज्ञता होती है। किसी समिति में मामले पर पेशेवर ढंग से और अपेक्षाकृत शांत माहौल में विस्तार से सोच-विचार किया जाता है, मुक्त रूप से विचार व्यक्त किए जाते हैं और मामले पर गहराई से विचार किया जाता है। समितियाँ संसदीय प्रणाली में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ये संसद, कार्यपालिका और आम जनता के बीच की मजबूत कड़ी का भी कार्य करती हैं।

स्थायी समितियों में सबसे शक्तिशाली निस्संदेह सार्वजनिक मामलों की मंत्रीमंडलीय समिति (सी.सी.पी.ए.) है। यह समिति सरकार में संकट प्रबंधन एवं निर्णय निर्माण की सर्वोच्च संस्था है। समिति वरिष्ठ मंत्रियों का एक ऐसा समूह है जो महामंत्रीमंडल की भांति कार्य करता है। अधिकांश महत्वपूर्ण निर्णय इसी समिति द्वारा लिए जाते हैं तथा तत्पश्चात ही उसे मंत्रीमंडल की स्वीकृति भी मिल जाती है। सार्वजनिक मामलों की मंत्रीमंडलीय समिति प्रधानमंत्री द्वारा गठित की जाती है और सामान्यतया सप्ताह में इसकी एक बैठक भी बुलाई जाती है। आवश्यकता पड़ने पर इसकी बैठक कभी भी बुलाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त नियुक्ति समिति, संसदीय मामलों की समिति, आर्थिक मामलों की समिति आदि समितियां मंत्रीमंडल का सहयोग कर शीघ्र निर्णय करने में सहायक होती है। इनके साथ-साथ एक महाशक्तिशाली समूह जिसे संकट प्रबंधन टीम कहा जाता है, नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इसके सदस्य वरिष्ठ मंत्री तथा प्रधानमंत्री के व्यक्तिगत विश्वास पात्र बाहरी लोग भी होते हैं।

5.3.4 प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका

भारत सरकार में उच्च स्तर पर नीति-निर्माण प्रक्रिया में प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका अति महत्वपूर्ण है। देश की राजनीतिक व्यवस्था के शीर्षस्थ पद- प्रधानमंत्री से निकटता के कारण इस कार्यालय की भूमिका में निरंतर बदलाव होता रहा है। सरकारी कार्य विभाजन नियमावली, 1961 के अनुसार प्रधानमंत्री कार्यालय को भारत सरकार के एक विभाग के रूप में दर्जा प्राप्त है। इसके अधीन कोई सम्बद्ध या अधीनस्थ कार्यालय नहीं है। महत्वपूर्ण होने के बाबजूद यह संविधान की परिधि के बाहर की संस्था है।

प्रधानमंत्री कार्यालय का अस्तित्व सितम्बर 1946 में गवर्नर-जेनरल (कार्मिक) के सचिव के रूप में आया। जून 1977 तक इस कार्यालय को प्रधानमंत्री सचिवालय कहा जाता था।

प्रधानमंत्री कार्यालय का राजनीतिक प्रमुख प्रधानमंत्री एवं प्रशासनिक प्रमुख प्रधान सचिव होता है। प्रधानमंत्री कार्यालय का प्रधान सचिव नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता

है। वह समस्त महत्वपूर्ण विषयों को अनुमोदनार्थ एवं आदेशार्थ प्रधानमंत्री के सम्मुख रखता है। वह समस्त क्रियाकलापों में समन्वय एवं महत्वपूर्ण मामलों में प्रधानमंत्री को सलाह भी प्रदान करता है।

प्रधानमंत्री कार्यालय के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

1. सरकार के प्रमुख के रूप में प्रधानमंत्री को समस्त कार्यों में सहायता प्रदान करना;
2. योजना आयोग के अध्यक्ष तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् की जिम्मेदारियों के मद्देनजर प्रधानमंत्री की सहायता करना;
3. प्रधानमंत्री के जनसंपर्क सम्बन्धी समस्त कार्यों में मदद करना;
4. राष्ट्रपति , राज्यपालों एवं विदेशी राजनयिकों से संपर्क बनाये रखना;
5. प्रधानमंत्री के लिए 'विचार केंद्र' के रूप में कार्य करना;
6. उन सभी सन्दर्भों का निपटारा करना जो सरकारी कार्य विभाजन से सम्बंधित नियमावली के अंतर्गत प्रधानमंत्री के सम्मुख लाये गए हों।

सामान्यतः प्रधानमंत्री कार्यालय कार्य विभाजन के सन्दर्भ में दो बातों का ध्यान रखता है- प्रथमतः, यह कार्यालय उन सभी विषयों का निपटारा करता है जो विषय किसी मंत्रालय या विभाग को नहीं सौंपे गए है तथा द्वितीय, इस कार्यालय का केंद्रीय मंत्रीमंडल के अध्यक्ष के रूप में प्रधानमंत्री के उत्तरदायित्वों से कोई सम्बन्ध नहीं है। मंत्रीमंडल से जुड़े समस्त मामलों का निपटारा मंत्रीमंडलीय सचिवालय करता है जो प्रधानमंत्री के निर्देशन में कार्य करता है।

5.3.5 मंत्रीमंडलीय सचिवालय एवं प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका

भारत में मंत्रीमंडल सचिवालय अक्टूबर 1945 तथा प्रधानमंत्री कार्यालय की सितम्बर 1946 में स्थापित हुए अर्थात् स्वतंत्रता से पूर्व ही ये संस्थाऐं अस्तित्व में आई। भले ही उद्देश्य अलग-अलग थे लेकिन स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में इनके कार्यों में विभेद करना आसान नहीं था। "भारत सरकार के अंतर्गत नीति-निर्माण सम्बन्धी सभी संगठनों में सचिवालय एक असाधारण उच्च मंच पर खड़ा है"। चूँकि यह भारत सरकार की शक्ति का केंद्र-बिन्दु है, निस्संदेह इसे नीति-निर्माण संगठन के रूप में ही तैयार किया गया। संरचनात्मक रूप से इसे कार्यान्वयन से भिन्न समझा गया है, किन्तु कर्मियों की भर्ती के माध्यम से कार्यान्वयन से सम्बन्ध रखने वाले अभिकरणों से जोड़ा गया है। सचिवालय में उच्च एवं मध्यम स्तर के पदों पर अखिल भारतीय सेवाओं एवं केन्द्रीय सेवाओं से अधिकारी पदावधि व्यवस्था के अंतर्गत प्रतिनियुक्त होते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में यह धारणा है कि जो नीति-सम्बन्धी विषयों पर मंत्रियों को परामर्श देने या नीति-निर्माण कार्य में लगें है, उन्हें भारत जैसे विभिन्नता वाले देश में उन सभी व्यवहारिक कठिनाईयों और समस्याओं का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होना चाहिए जिनका सामना सामान्यतः लोक सेवकों को क्षेत्र में कार्य करते हुए करना पड़ता है। इसी प्रकार, अपने कार्यकाल में सचिवालय में कार्य करने के अनुभव के बाद अधिकारियों को सीधे उन लक्ष्यों से परिचय हो जाता है जो उन कार्यक्रमों एवं नीतियों के आधारभूत होते हैं।

भारतीय शासन व्यवस्था में मंत्रीमंडलीय सचिवालय एवं प्रधानमंत्री सचिवालय जुड़वाँ राजनीतिक कार्यालय के रूप कार्य करते है। ये प्रधानमंत्री के नेतृत्व, निर्देशन, निरीक्षण एवं नियंत्रण में कार्य करते हैं। प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका प्रधानमंत्री के राजनीतिक कद एवं अनुभव के अनुसार बदलती रही है । हाँ यह पंडित नेहरु के कार्यकाल में सीमित भूमिका में था, वहीं लाल बहादुर शास्त्री के कार्यकाल से इसकी भूमिका में भारी बदलाव दृष्टिगोचर हुआ। श्रीमती गाँधी के कार्यकाल में यह काफी शक्तिशाली बनकर उभरा। अनंतर प्रधानमंत्रियों ने इसे अपने अनुरूप ढालने का प्रयास किया। वर्तमान प्रधानमंत्री के कार्यकाल में भी यह काफी सशक्त भूमिका में है। समानांतर सरकार के रूप में यह कार्यालय कार्य करता प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रधानमंत्री कार्यालय आधिकारिक स्तर पर शक्ति के प्रतिद्वंदी केंद्र के रूप में उभरा है जिससे मंत्रीमंडलीय सचिवालय एवं मंत्रीमंडलीय सचिव की वैध भूमिका, महत्ता, प्राधिकार एवं पद स्थिति में निरतर ह्रास हुआ है। प्रधानमंत्री से निकटता के कारण इसने मंत्रीमंडलीय सचिवालय को न्यून कर दिया है। आलोचकों ने इसे भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से संबोधित किया है। यथा सुपर कैबिनेट, सुपर मिनिस्ट्री, माइक्रो कैबिनेट, द वर्चुअल गवर्नमेंट आदि-आदि।

5.4 नीतिगत मुद्दों का चयन

नीति का सामान्यतः अर्थ यह निर्णय करना है कि क्या किया जाए, कब किया जाए और कहाँ किया जाए। डिमौक के शब्दों में नीतियाँ व्यवहार के वे नियम हैं जिन्हें सचेत रूप से मान्यता प्राप्त है और जो प्रशासनिक निर्णयों का मार्गदर्शन करते हैं। सामान्य तौर पर नीति-निर्माण को निर्णय करने की प्रक्रिया से जोड़ा जाता है। यद्यपि इन दोनों में निकट का सम्बन्ध है तथापि ये दोनों एक नहीं हैं। प्रत्येक नीति-निर्माण में निर्णय करने की प्रक्रिया होती है, परन्तु प्रत्येक निर्णय नीति नहीं होता।

ऑस्टिन रैन्नी के अनुसार लोकनीति के पाँच तत्व हैं: पहला- एक विशेष लक्ष्य या लक्ष्य-समूह, दूसरा- घटनाओं का वांछित मार्ग, तीसरा- कार्य करने की शैली का चयन, चौथा- संकल्प या उद्देश्य की घोषणा तथा पाँचवां- उद्देश्यों का क्रियान्वयन।

सामान्यतः नीति-निर्माण के पाँच चरण होते हैं। प्रथम चरण में समस्या की पहचान की जाती है जो नीति का विषय बनना चाहिए। दूसरा चरण यह है की समस्या से निपटने का विकल्प ढूँढा जाए। तीसरा चरण ऐसे विकल्प चुने जाने पर बल देता है जो निश्चित और अधिक उपयुक्त हो तथा उसे प्रस्ताव, आदेश, नियम अथवा विधि का रूप दिया जा सके। चतुर्थ चरण उसका क्रियान्वयन है तथा अंतिम और पाँचवा चरण नीति का मूल्यांकन करना होता है ताकि उसकी सफलता या असफलता या पूरा प्रभाव देखा जा सके।

माइकल हौलेट एवं एम. सुरेश इसे नीति-चक्र के पाँच चरण कहते हैं। उनके अनुसार कार्य सूची निश्चित करना उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा समस्याऐं सरकार के समक्ष या संज्ञान में आती हैं। नीति-निर्माण उस प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा सरकार के अन्दर नीति के विकल्पों को तैयार किया जाता है। निर्णय करना उस प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा सरकारें एक विशेष मार्ग अपनाती या नहीं अपनाती हैं तथा नीति कार्यान्वयन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सरकारें

नीतियों को कार्यरूप देती हैं। नीति मूल्यांकन के द्वारा राज्य एवं सामाजिक कार्यकर्ता नीतियों के परिणाम पर निगाह रखते हैं जिसके परिणामस्वरूप हो सकता है कि नीति की समस्याओं तथा उपचारों को पुनः संकल्पित करना पड़े।

नीति का निर्माण शून्यता में नहीं होता। जिन पर नीति-निर्माण का उत्तरदायित्व होता है उन्हें विभिन्न तत्वों द्वारा प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। एक नीति सदा ही व्यक्तियों, अनेक समूहों, शासकीय एवं गैर-शासकीय अधिकारीयों के सहकारी प्रयासों का परिणाम होती है।

नीतिगत मुद्दे समाज की मांगों पर आधारित होते हैं जो संगठित रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। हालांकि कभी-कभी आम लोग भी सरकार का ध्यान आकर्षित करने में सफल हो जाते हैं। वर्तमान लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के उदय के साथ सरकार के कार्यों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। जिसके फलस्वरूप सरकारों को न केवल सामाजिक-आर्थिक तनाव दूर करने की जिम्मेदारी है अपितु शांति एवं सुरक्षा के लिए व्यक्तिगत एवं सामूहिक मांगों का तुष्टिकरण करना भी है। नीतिगत मुद्दों व्यक्ति या समूहों द्वारा उठाये जा सकते हैं। सामान्यतः व्यक्तिगत मुद्दों पर सरकार ध्यान नहीं देती है लेकिन व्यक्ति के राजनीतिक एवं आर्थिक कद को देखते हुए सरकार अक्सर बाध्य भी हो जाती है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि संगठित रूप से प्रस्तुत मुद्दें सरकार का ध्यान आकर्षित करती हैं।

इसके अतिरिक्त नीतिगत मुद्दे राजनीतिक दल के सदस्यों द्वारा भी प्रस्तुत किये जाते हैं। सत्ता पक्ष या विपक्ष, दोनों इस सन्दर्भ में समान रूप से प्रभावी हो सकते हैं। साथ ही दबाब समूह भी इसमे सक्रिय भूमिका निभाते हैं। नौकरशाही प्रशासनिक आवश्यकताओं के आधार पर नीतिगत मुद्दों की ओर ध्यान दिला सकती है। जनमत भी विविध माध्यमों यथा समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविज़न आदि के माध्यम से इसमे सहायक होता हैं।

5.4.1 नीतिगत मुद्दें एवं जनमत

नीति निर्धारण में जनता की राय जानने में और नीति निर्धारकों तक जनता की बात पहुँचाने में जनमत एक सेतु की तरह काम करता है। जनमत वह संगठित शक्ति है जो समाज के स्वीकृत परंपरागत आदर्शों और अनुभूतियों का प्रतिरूप होती है एवं उस समाज की तात्कालिक भावनाओं का भी प्रतिनिधित्व करती है। जनमत गतिशील और स्थैतिक दो प्रकार का होता है। गतिशील जनमत परंपरागत रूढ़ियों तथा आदर्श और व्यवहार पर आधारित होता है, स्थैतिक जनमत स्थायी भावना उद्-गारों एवं उनके विज्ञापन से संबंधित होता है। इसलिए प्रतिदिन निरंतर नया रूप धारण करता रहता है, लोकतंत्र में वोट की ताकत महत्वपूर्ण मानी जाती है और जब इस ताकत का सही दिशा में इस्तेमाल होता है तो इससे एक ऐसा जनमत तैयार होता है, जिससे नए राजनीतिक हालात अक्सर देखने को मिलते हैं। यह भूमिका किसी एक देश अथवा क्षेत्र तक सीमित नहीं है, विश्व के तमाम प्रगतिशील विचारों वाले देशों में जनमत की महती भूमिका से कोई इंकार नहीं कर सकता। मीडिया में और विशेष तौर पर प्रिंट मीडिया में जनमत बनाने की अद्-भुत शक्ति होती है। आज मीडिया अखबारों तक सीमित नहीं है परंतु

इलेक्ट्रानिक मीडिया और वेब मीडिया की तुलना में प्रिंट मीडिया की पहुँच और विश्वसनीयता कहीं अधिक है। प्रिंट मीडिया का महत्व इस बात से और बढ़ जाता है कि आप छपी हुई बातों को संदर्भ के रूप में इस्तेमाल कर सकते हैं और उनका अध्ययन भी कर सकते हैं। एक सफल लोकतंत्र वही होता है जहां जनता जागरुक होती है।

सरकारी क्रियाकलापों को प्रभावित करने में जनमत की भूमिका अति महत्वपूर्ण है। किसी समस्या के नीतिगत मुद्दे के रूप में परिवर्तन जनमत की भूमिका पर निर्भर करता है। निश्चित रूप से नीति निर्माताओं के लिए जनमत एक प्रभावी माध्यम के रूप कार्य करता है। हालाँकि प्रभाव की गहराई अलग-अलग हो सकती है।

5.5 नीतिगत कार्यवृत्त की पहचान

नीति वह माध्यम या साधन है जिसके सहारे लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। किसी भी राष्ट्र के समक्ष उपस्थित समस्याओं से निबटने के लिए समस्याग्रस्त क्षेत्रों से सम्बद्ध नीतियाँ बनानी पड़ती है। नीतियों के अभाव में न तो वर्तमान समस्याओं से निबटा जा सकता है और न ही भावी संकट को चिन्हित कर उसका समाधान किया जा सकता है। नीतियों का अभाव अंततः अराजकता को ही आमंत्रित करता है ।

नीति-निर्माण की प्रक्रिया किसी संगठन में उच्चतम, मध्य या निम्न, किसी भी स्तर से आरम्भ की जा सकती है। लेकिन शुरुआत जहाँ से भी हो पूरा संगठन ही उसमे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शामिल हो जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि नीति-निर्माण की प्रक्रिया हमेशा ऊपर से नीचे की ओर हो। यह नीचे से ऊपर की ओर भी हो सकती है।

कार्यवृत्त या एजेंडा विचार-विमर्श एवं निर्णय तक पहुँचने की एक प्रक्रिया है। यह महत्वपूर्ण है कि कितने विचारणीय विन्दु कार्यवृत्त का रूप ले पाते हैं। लोक कल्याणकारी राज्य में व्यक्ति की उम्मीदें राज्य से अत्यधिक होती है। जाहिर है कि राज्य सभी मुद्दों एवं मांगों की ओर ध्यान नहीं दे सकता है। स्पष्ट रूप से मांग या समस्या ही कार्यवृत्त का आधार बनते हैं। अभिजन या समाज के संभ्रांत लोग अक्सर कार्यवृत्त में अपनी समस्याओं को शामिल कराने में सफल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त सरकार गंभीर प्रकृति के मुद्दों को शामिल करती है। राजनीतिक दल एवं विपक्ष के सशक्त राजनीतिज्ञ भी अपने-अपने मुद्दों को कार्यवृत्त में शामिल करा पाते हैं।

5.6 नीतिगत प्रस्ताव की पहचान: कुछ तकनीक

मांग या समस्या जो अंततः कार्यवृत्त में शामिल हो पाते हैं, नीतिगत प्रस्ताव कहे जाते हैं। हालाँकि सभी प्रस्ताव नीति का रूप नहीं ले पाते हैं क्योंकि अंतिम निर्णय राजनीतिक कार्यपालिका ही करती है। राजनीतिक कार्यपालिका कभी-कभी दबाब के कारण इन्हे कार्यवृत्त में शामिल तो कर लेती है परन्तु विविध कारणवश इन्हे प्रस्ताव का रूप नहीं दे पाती। संगठन एवं संस्था में भी अलग-अलग विचार प्रायः टकराव की स्थिति पैदा कर देते हैं। इन परिस्थितियों में प्रायः अलग-अलग शैलियों का प्रयोग नीति निर्माता करते हैं। ये नीतिगत प्रस्तावों के नीतियों में परिवर्तन की तकनीक भी कहे जाते हैं। ये हैं- सौदेबाजी, प्रतिस्पर्धा, नियंत्रण, संघर्ष और सहयोग। नीति-निर्माण में प्रायः सभी को तुष्ट कर पाना राजनीतिक

कार्यपालिका के लिए असंभव होता है। अतः वह एक सर्वमान्य निर्णय हेतु सौदेबाजी का प्रयोग करता है। राजनीतिक निर्णय एवं प्रशासनिक नीति-निर्माण में प्रायः यह तकनीक प्रयुक्त होती है। राजनीति एवं प्रशासन में परस्पर लेन-देन नीति-निर्माण में साधक सिद्ध होती है। प्रतिस्पर्धा भी नीति-निर्माण का एक महत्वपूर्ण चरण है। परस्पर विरोधी विचारधाराओं एवं प्रतिमान बेहतर नीति-निर्माण में सहायक होते हैं। साथ ही राजनीतिक कार्यपालिका अपने नेतृत्व, करिश्मा एवं दिशा निर्देशों से नियंत्रण कर नीति को एक रूप देती है। संसदीय प्रजातंत्र में प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व एवं राजनीतिक दल का बहुमत नियंत्रण का माध्यम है। यही स्थिति राष्ट्रपति की अध्यक्षात्मक व्यवस्था में होती है। इनके अतिरिक्त संघर्ष एवं सहयोग शैलियों का भी प्रयोग नीति निर्माता करते हैं। सामान्यतः संघर्ष एवं सहयोग, दोनों बेहतर नीतियों को जन्म देती है। राजनीतिक उठापटक में ये दोनों आवश्यक हो जाते हैं।

इन तकनीकों में किसी एक का प्रयोग नीति के निर्माण के लिए नाकाफी है। सामान्यतया राजनीतिक नेतृत्व एक साथ ही दो या दो से अधिक तकनीकों का प्रयोग देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार करता है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में जनता का सहयोग एवं समर्थन नीतियों की स्वीकार्यता को बढाता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. सर्वप्रथम किस विचारक ने संसदीय प्रणाली को कैबिनेट या मंत्रीमंडलीय प्रणाली की संज्ञा दी थी?
2. संसदीय शासन प्रणाली में मंत्रीमंडल की धुरी कौन होता है?
3. कौन संघ की कार्यपालिका के संवैधानिक प्रमुख होते हैं?
4. सिविल सेवा बोर्ड का पदेन अध्यक्ष कौन होता है?
5. "मंत्रीमंडलीय गुम्बद की आधारशिला" किसे कहा गया है?

5.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके होंगे कि नीति- निर्माण को लोक प्रशासन का केंद्रीय तत्व माना गया है। नीति-निर्माण प्रक्रिया में सरकार के तीनो अंग- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होते हैं। किसी देश की राजनीतिक कार्यपालिका का स्वरुप एवं संगठन वहां की संवैधानिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित किया जाता है। विश्व में राजनीतिक कार्यपालिका के विविध स्वरुप हैं। भारत में संसदीय शासन व्यवस्था होने के कारण लोक नीति-निर्माण की केंद्रीय धुरी मंत्रीमंडल है, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है। वस्तुतः प्रधानमंत्री केंद्रीय कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होता है। समस्त प्रशासकीय कार्यों की जिम्मेदारी मंत्रीमंडल पर होती है, जिसके सहायतार्थ मंत्रीमंडलीय सचिव एवं मंत्रीमंडलीय सचिवालय की स्थापना की गयी है। इसके साथ-साथ ही सामान्यतः मंत्रीमंडल के पास अत्यधिक कार्य होता है और उसके पास उन्हें निपटाने के लिए सीमित समय होता है। इस प्रकार प्रत्येक मामले पर विस्तृत और सुव्यवस्थित ढंग से जाँच कर पाना और उन पर विचार किया जाना असंभव हो जाता है। इसलिए मंत्रीमंडल के कतिपय कार्यों को समितियों

को सौंपा जाना एक सामान्य परिपाटी बन गई है। इसके साथ हीं भारतीय शासन व्यवस्था में मंत्रीमंडलीय सचिवालय एवं प्रधानमंत्री सचिवालय जुड़वाँ राजनीतिक कार्यालय के रूप कार्य करते हैं। ये प्रधानमंत्री के नेतृत्व, निर्देशन, निरीक्षण एवं नियंत्रण में कार्य करते हैं। प्रधानमंत्री कार्यालय आधिकारिक स्तर पर शक्ति के प्रतिद्वंदी केंद्र के रूप में उभरा है जिससे मंत्रीमंडलीय सचिवालय एवं मंत्रीमंडलीय सचिव की वैध भूमिका, महत्ता, प्राधिकार एवं पद स्थिति में निरतर ह्रास हुआ है। आपको इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात दोनों की भूमिका का ज्ञान हुआ होगा। इसके साथ ही नीतिगत मुद्दे, नीतिगत कार्यवृत्त तथा प्रस्ताव के सम्बन्ध में भी जानकारी मिली होगी। नीतिगत मुद्दे समाज की मांगों पर आधारित होते हैं जो संगठित रू में प्रस्तुत किये जाते हैं। नीति निर्धारण में जनता की राय जानने में और नीति निर्धारकों तक जनता की बात पहुंचाने में जनमत एक सेतु की तरह काम करता है। राज्य सभी मुद्दों एवं मांगों की ओर ध्यान नहीं दे सकता है। स्पष्ट रूप से मांग या समस्या ही कार्यवृत्त का आधार बनते हैं। सभी प्रस्ताव नीति का रूप नहीं ले पाते हैं क्योंकि अंतिम निर्णय राजनीतिक कार्यपालिका ही करती है। राजनीतिक कार्यपालिका नीति-निर्माण में नौकरशाही की राय से भी प्रभावित होती है।

5.8 शब्दावली

मंत्रीमंडल- मंत्रीपरिषद का लघु रूप जो लोक नीति-निर्माण की केंद्रीय धुरी होती है।

किचेन कैबिनेट- राजनीतिक प्रमुख के गैर-सरकारी सलाहकारों का वह अनौपचारिक समूह जो सरकारी मंत्रीमंडल से अधिक प्रभावशाली होता है।

मंत्रिपरिषद- नीति-निर्माण हेतु सर्वोच्च संस्था जिसका प्रधान प्रधानमंत्री /मुख्यमंत्री होता है।

विभाग- नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु मंत्रालय का एक भाग।

मानदंड- नियम या आधार।

5.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. आइवर जेंनिंग्स, **2.** प्रधानमंत्री , **3.** राष्ट्रपति, **4.** मंत्रीमंडलीय सचिव, **5.** प्रधानमंत्री

5.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. सुरेन्द्र कटारिया, 2009, प्रशासन एवं लोकनीति, मयूर पेपरबैक्स, नयी दिल्ली।
2. श्रीराम माहेश्वरी, 2009, भारतीय प्रशासन, ओरिऐंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली।
3. चार्ल्स ई0 लिंडब्लौम, 1968, द पौलिसी मेकिंग प्रोसेस, इंगलवुड क्लिप्स, एन0 जे0 प्रेन्टिस हॉल, आई0एन 0सी0।
4. पॉल एच0 एपेल्बी , 1949, पालिसी ऐंड एडमिनिस्ट्रेशन, अलबामा यूनिवर्सिटी प्रेस।

5.11 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. आर0 बी0 जैन, 2009, भारतीय प्रशासन में समकालीन मुद्दे, विवेक प्रकाशन, नयी दिल्ली।
2. सुषमा यादव एवं राम अवतार शर्मा, 1997, भारतीय राजनीति ज्वलंत प्रश्न, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय,दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

3. मनोज सिन्हा , 2010, प्रशासन एवं लोकनीति, ओरिऐंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली।
4. एम0 लक्ष्मीकांत, 2014, भारतीय शासन, टाटा मैकग्राव हिल , नयी दिल्ली.

5.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक कार्यपालिका के कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. नीति-निर्माण में मंत्रीमंडल एवं मंत्रीमंडलीय सचिवालय की भूमिका की विवेचना कीजिए।
3. नीति-निर्माण में प्रधानमंत्री कार्यालय की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
4. नीतिगत प्रस्ताव की पहचान के तकनीकों का वर्णन कीजिए ।
5. नीतिगत कार्यवृत्त क्या है? प्रकाश डालिए।

इकाई-6 नीति-निर्माण में अधिकारी तन्त्र की भूमिका

इकाई की संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 अधिकारी तन्त्र का अर्थ
6.3 अधिकारी तन्त्र का बदलता स्वरुप
6.4 नीति-निर्माण में अधिकारी तन्त्र की भूमिका
6.5 प्रदत्त विधायन एवं अधिकारी तन्त्र
6.6 अधिकारी तन्त्र की बढ़ती उपयोगिता
6.7 सारांश
6.8 शब्दावली
6.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
6.11 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
6.12 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

राजनीतिक समाज के शासन हेतु औपचारिक उत्तरदायित्व निभाने वाली संस्थागत व्यवस्था राजनीतिक कार्यपालिका होती है। पिछली इकाई के अध्ययन के पश्चात आपको इस सम्बन्ध में विस्तार से ज्ञान प्राप्त हुआ होगा। प्रशासन अनिवार्यतः कार्यपालिका से जुड़ा होता है इसलिए कार्यपालिका नीति-निर्माण से सम्बन्धित जो भी काम करती है उसका आधार अधिकारी तंत्र ही होता है। पहले के पुलिस राज्य के स्थान पर कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के उदय, इसके परिणामस्वरूप सरकार की गतिविधियों और दायित्वों में अप्रत्याशित वृद्धि तथा सरकार के कार्यों की तकनीकी प्रकृति ने अधिकारी तन्त्र अर्थात् नौकरशाही को प्रशासन का भी अपरिहार्य तत्व बना दिया है। प्रस्तुत इकाई में नीति-निर्माण में अधिकारी तन्त्र की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त इस इकाई में आप अधिकारी तन्त्र के अर्थ, इसकी विशेषताऐं, बदलती भूमिका एवं महत्व के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। साथ ही इस इकाई में प्रदत्त विधायन में अधिकारी तन्त्र की भूमिका के बारे में भी चर्चा होगी।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- अधिकारी तन्त्र अर्थात् नौकरशाही की अवधारणा को जान सकेंगे।
- आप नौकरशाही के अर्थ एवं बदलते स्वरुप को भी समझ पाऐं गे।
- नीति-निर्माण में अधिकारी तन्त्र अर्थात् नौकरशाही की भूमिका के बारे में आपको ज्ञान प्राप्त होगा।

- प्रदत्त विधायन में नौकरशाही की भूमिका के सम्बन्ध में भी आप जानकारी जुटाने में सक्षम होंगे तथा
- अधिकारी तन्त्र अर्थात नौकरशाही की बदलती भूमिका का भी ज्ञान होगा।

6.2 अधिकारी तन्त्र का अर्थ

नीति-निर्माण हेतु राजनीतिक कार्यपालिका बहुत हद तक अधिकारी तन्त्र अर्थात नौकरशाही पर ही निर्भर होती है। वास्तव में देखा जाए तो मंत्री या मंत्रीमंडल जिस नीति को प्रस्तावित करता है उसकी रुपरेखा तो नौकरशाही ही तैयार करता है। सूचना, परामर्श तथा विश्लेषण के माध्यम से यह राजनीतिक कार्यपालिका के साथ नीति-निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ है। किसी बड़ी संस्था या प्रशासनिक तंत्र के परिचालन के लिये निर्धारित की गयी संरचनाओं एवं नियमों को समग्र रूप से अधिकारी तन्त्र या ब्यूरोक्रैसी कहते हैं। तदर्थशाही के विपरीत इस तंत्र में सभी प्रक्रियाओं के लिये मानक विधियाँ निर्धारित की गयी होती हैं और उसी के अनुसार कार्यों का निष्पादन अपेक्षित होता है। शक्ति का औपचारिक रूप से विभाजन एवं पदसोपान इसके अन्य लक्षण है।

नौकरशाही सामाजिक विज्ञान की एक प्रमुख संकल्पना है। लोक प्रशासन के साहित्य में नौकरशाही शब्द जितना सुपरिचित है उतना अप्रिय भी है। नौकरशाही शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द ब्यूरोक्रेसी(Bureaucracy) का हिन्दी रूपान्तरण है। ब्यूरोक्रेसी शब्द की उत्पत्ति फ्रांसीसी भाषा के ब्यूरो नामक शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है, डेस्क या लिखने वाली मेज। फ्रांस में इस शब्द का प्रयोग ड्राअर(मेज में सामान रखने का बंद स्थान) वाली मेज अथवा लिखने की डेस्क के लिए हुआ करता था। इस डेस्क पर ढके कपड़े को ब्यूरल कहा जाता था तथा इसी के आधार पर निर्मित 'ब्यूरो' शब्द सरकारी कार्यों का परिचायक माना जाने लगा। आगे चलकर इसका प्रयोग विशेष प्रकार की सरकार को चलाने के लिए हुआ।

नौकरशाही शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन 1745 मे फ्रांसीसी अर्थशास्त्री विन्सेन्ट दि गुर्नी ने किया। ऐतिहासिक तौर पर नौकरशाही संस्था के रुप मे 186 ई० पू० से चीन में विद्यमान थी जिसमें कार्मिकों का चयन प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा होता था। फिर भी जब नौकरशाही पर बात होती है तो सबसे महत्वपूर्ण नाम मैक्स वेबर का ही आता है। नौकरशाही का व्यापक तथा सुस्पष्ट सिद्धान्त विकसित करने का श्रेय वेबर को दिया जाता है। वेबर ने कभी नौकर शाही को परिभाषित तो नही किया, सिर्फ इसकी विशेषताओं का वर्णन किया है। वे पहले चिन्तक थे जिन्होने नौकरशाही का विश्लेषण व्यवस्थित ढंग से किया। मैक्स वेबर के विचारों ने आने वाली कई पीढ़ियों के विचारकों को प्रभावित किया है। वेबर के विचार आधुनिक नौकरशाही के रूह को प्रतिबिम्बित करता है। नौकरशाही के विश्लेषण हेतु सैध्यांतिक ढांचा और आधार मैक्स वेबर ने ही प्रदान किया।

विभिन्न विद्वानों ने नौकरशाही की अलग-अलग परिभाषाऐं दी हैं। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार, यह शब्द "ब्यूरो या विभागों में प्रशासकीय शक्ति के केन्द्रित होने तथा

राज्य के क्षेत्राधिकार से बाहर के विषयों में भी अधिकारियों के अनुचित हस्तक्षेप को व्यक्त करता है।"

रॉबर्ट सी. स्टोन के शब्दों में "इस पद का शाब्दिक अर्थ कार्यालय या अधिकारियों का शासन है।"

प्रो. एपलबी के अनुसार "नौकरशाही तकनीकी दृष्टि से कुशल कर्मचारियों का एक व्यवसायिक वर्ग है जिसका संगठन पदसोपान के अनुसार किया जाता है और जो निष्पक्ष होकर राज्य का कार्य करते हैं।"

ई.एन.ग्लैडेन के शब्दों में "नौकरशाही एक ऐसी विनियमित प्रणाली है जो अन्तःसम्बन्धीय पदों की श्रृंखला के रूप में संगठित होती है।"

कार्ल फ्रेडरिक ने कहा है कि "नौकरशाही उन लोगों के पदसोपान, कार्यों के विशेषीकरण तथा उच्च स्तरीय क्षमता से युक्त संगठन है जिन्हें उन पदों पर कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया गया है।"

इस प्रकार विद्वानों के विभिन्न मतों के आधार पर सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नौकरशाही शब्द पर्याप्त अस्पष्ट और अनेक अर्थों को इंगित करता है। व्यापक दृष्टिकोण के अनुसार नौकरशाही से एक ऐसी व्यवस्था का बोध होता है जहां कर्मचारियों को अनुभाग, प्रभाग, ब्यूरो एवं विभाग आदि श्रेणी श्रृंखला में विभक्त कर दिया गया है। इसमें प्रशासकीय सत्ता का लक्ष्य व्यापक जनहित में होता है । किन्तु संकुचित दृष्टिकोण में जनहित गौण स्थान प्राप्त कर लेता है तथा नौकरशाही औपचारिकता एकरूपता तथा नियमबद्धता का पर्याय बन जाती है।

एफ.एम. मार्क्स के अनुसार 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग मुख्यतः चार रूपों में किया जाता है-

1. नौकरशाही एक विशेष प्रकार का संगठन है, विशेषतः यह लोक प्रशासन के कार्य करने की एक संरचना है।
2. नौकरशाही संगठन की एक ऐसी बीमारी है जो अच्छे प्रबन्ध में अवरोध पैदा करती है।
3. नौकरशाही एक 'बड़ी सरकार' है। यह अच्छे-बुरे कार्यों के लिए सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था से जुड़ा एक विशाल संस्थान है।
4. नौकरशाही बुराई पैदा करने वाला अभिशाप है जो स्वतंत्रता के लिए हानिकारक है।

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में नौकरशाही का महत्व निर्विवाद है। यह आधुनिक राज्य का अपरिहार्य तत्व है। इसकी विशेषताओं के सम्बन्ध में विचारकों के मत अलग-अलग है। कार्ल फ्रेडरिक ने जहाँ इसकी छह विशेषताओं का जिक्र किया है वहीं फेरेल हिडी ने तीन विशेषताऐं बताई हैं। मोटे तौर पर नौकरशाही के निम्नलिखित प्रमुख विशेषताऐं निम्न हैं-

1. कर्मचारियों एवं अधिकारियों के मध्य परिभाषित प्रशासनिक कार्य का विभाजन,
2. कर्मियों की भर्ती एवं उनके सेवा की सुव्यवस्थित एवं तर्कसंगत तंत्र,
3. अधिकारियों में पदानुक्रम, ताकि शक्ति एवं अधिकार का समुचित वितरण हो, तथा

4. संस्था के घटकों को आपस में जोड़ने के लिये औपचारिक एवं अनौपचारिक तंत्र की व्यवस्था, ताकि सूचना एवं सहयोग का सुचारु रूप से बहाव सुनिश्चित हो सके।

प्रशासकीय पदसोपान अधिकारी तंत्र की प्रमुख विशेषता है जिसमें आदेश ऊपर से नीचे की ओर चलता है तथा उत्तरदायित्व नीचे से ऊपर की ओर चलता है। प्रत्येक अधीनस्थ कर्मचारी अपने उच्च पदस्थ अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होता है। पूरा संगठन एक पिरामिड की भांति कार्य करता है जिससे एक उचित मार्ग प्रक्रिया का निर्माण भी संभव हो पाता है। निर्धारित कार्यक्षेत्र एवं विशेषज्ञता इसकी अन्य विशेषता है। अधिकारी तंत्र में कार्य एवं उत्तरदायित्व का निर्धारण होता है जिसे कठोरता के साथ पालन किया जाता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक नौकरशाही में व्यक्ति एक ही कार्य करते-करते विशेषज्ञ हो जाता है तथा उसे संगठन की समस्याओं एवं हरेक पहलू का ज्ञान भी हो जाता है। अधिकारी तंत्र में नियम एवं कानूनों को सर्वोच्च वरीयता दी जाती है तथा अधिलेखों के व्यवस्थित होने पर विशेष बल दिया जाता है।

6.3 अधिकारी तन्त्र का बदलता स्वरुप

किसी भी देश की शासन व्यवस्था उसके राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग होती है। यह राज्य की नीतियों को लागू कर उसके लक्ष्यों को साकार बनाती है तथा उसे सार्थकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। अधिकारी तन्त्र सभी प्रशासनिक अभिकरणों को नेतृत्व प्रदान करती है तथा विविध इकाईयों के मध्य समन्वय भी स्थापित करती है। प्रशासनिक कार्यकुशलता एवं मितव्ययिता इस पर ही निर्भर करती है। संसदीय प्रणाली वाले देशों में नीति-निर्माण एवं प्रशासन एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े होते है। नीति-निर्माण एवं प्रशासन के मध्य एक अटूट रिश्ता हो जाता है। इस सन्दर्भ में पीटर ओडेगार्ड का कथन बिल्कुल सही है कि नीति और प्रशासन राजनीति के जुड़वाँ बच्चे हैं जो एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते हैं।

प्रायः नौकरशाही शब्द का प्रयोग व्यंग्यात्मक अर्थों में किया जाता है और अधिकारी तंत्र या लोकसेवकों को नौकरशाह कह कर संबोधित किया जाता है। नौकरशाही पर स्वार्थसिद्धि के लिए अपनी सत्ता के दुरुपयोग का आरोप लगाया जाता है। विद्वान जॉन वीग के शब्दों में विकृति एवं परिहास के कारण नौकरशाही शब्द का अर्थ काम में घपला, मनमानी, अति व्यय कार्यालयों और अति अनुशासन माना है। विद्वानों के अनुसार, नौकरशाही विधि निर्माण एवं क्रियान्वयन का उल्लंघन होने पर दंड देने का अधिकार अपने पास रखकर तानाशाह की भूमिका ग्रहण कर लेती है। राजतंत्र में सुल्तानों, राजा-महाराजाओं एवं बादशाहों के शासन में राज्य का काम केवल कानून व्यवस्था कायम रखना, राज्य की सुरक्षा तथा अन्य राज्यों पर आक्रमण करना होता था, जिसे राज्य की सेना द्वारा किया जाता था। किन्तु आधुनिक युग में लोक सेवकों द्वारा अनेक प्रकार की सेवाओं का निष्पादन किया जाता है जिनमे जन्म से मृत्यु तक जीवन के प्रत्येक चरण और प्रत्येक स्तर पर ये सेवाऐं व्याप्त हैं। ये सेवाऐं सरकार द्वारा निर्मित कानूनों को लागू करती हैं और कार्यक्रमों को क्रियान्वित करती हैं। एफ.एम. मार्क्स के शब्दों में ''करोडों लोगों ने नौकरशाही शब्द नहीं सुना है किंतु जिस किसी से सुना है वह या तो

इसके प्रति शंकालु है अथवा वह समझता है कि नौकरशाही शब्द किसी न किसी बुरी बात से सम्बंधित है, यद्यपि पूछे जाने पर वह इसका सही अर्थ बताने से कताराएगा परन्तु वह यह अवश्य कह देगा कि इसका मतलब कोई बुरी बात है।''

19वीं शताब्दी में नौकरशाही का अर्थ वैसा ही लिया जाता था जैसा ऊपर बताया गया है। किन्तु 20वीं शताब्दी में ऐसी धारणाऐं उभरकर आने लगी, जिन्होंने स्वीकार किया कि अधिकारियों के समूहों तथा संगठन की पद्धतियों के बीच शक्ति और आकार के अतिरिक्त अन्य अंतर भी पाये जाते हैं। इन धारणाओं में एक धारणा अधिकारियों के एक सामाजिक समूह से ध्यान हटाकर जिन संस्थाओं के लिए वे काम करते हैं, उनके संगठन के तरीकों पर केन्द्रित करती हैं। 20वीं तथा 21वीं शताब्दी में नौकरशाही का इस प्रकार का प्रयोग महत्व रखता है क्योंकि अब 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग संस्थानों के लिए किया जाने लगा है, न कि उनमें काम करने वाले अधिकारियों के लिए। ये अधिकारी इसलिए नौकरशाह कहलाने लगे कि वे न केवल एक सामाजिक समूह के सदस्य हैं बल्कि इसलिए भी कि वे संस्थानों में कार्य करते हैं। आधुनिक युग में नीति-निर्माण के पश्चात नौकरशाही द्वारा अनेक प्रकार की सेवाओं का निष्पादन किया जाता है जिनमें जन्म से मृत्यु तक जीवन के प्रत्येक चरण और प्रत्येक स्तर पर ये सेवाऐं व्याप्त हैं। एक बार नीतियों का जब निर्माण कार्यपालिका द्वारा हो जाता है तो उसके बाद यह नौकरशाही की जबाबदेही हो जाती हो जाती है कि उसे वह उसी रूप में क्रियान्वित करे भले वह उससे सहमत हो या नहीं। नौकरशाही सरकार द्वारा निर्मित कानूनों को लागू करती हैं और कार्यक्रमों को क्रियान्वित भी करती है। निष्पक्षता एवं सच्चरित्रता के साथ नौकरशाही इन क्रियाकलापों को सम्पादित करती है। लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के पश्चात इसके कार्यों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है तथा इसकी भूमिका का विस्तार हुआ है। निष्पक्षता की जगह वचनबद्ध नौकरशाही अर्थात सत्तारूढ़ दल के कार्यक्रमों के प्रति समर्पित नौकरशाही ने जगह बनाई है। इसके साथ ही नौकरशाही की सक्रियता राजनीतिक मामलों में भी बढ़ी है।

नौकरशाही का अध्ययन बदलती हुई अवधारणा के अनुसार दो दृष्टिकोण से किया जाता है-

संरचनात्मक- संरचनात्मक दृष्टि से नौकरशाही एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था है जिसमें पदसोपान, विश्लेषण, योग्यता जैसी अनेक विशेषताऐं पाई जाती है। कार्ल फ्रेडरिक के शब्दों में "नौकरशाही उन लोगों के पदसोपान, कार्यों के विशेषीकरण तथा उच्च स्तरीय क्षमता से युक्त संगठन है जिन्हें उन पदों पर कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया गया है।"

कार्यात्मक- कार्यात्मक दृष्टि से नौकरशाही का अध्ययन सामान्य सामाजिक व्यवस्था का अन्य उपव्यवस्थाओं पर पड़ने वाले नौकरशाही के प्रभाव का अध्ययन है। हेराल्ड लास्की के अनुसार नौकरशाही प्रशासन में नियमों के प्रति अत्यधिक लगाव, नियमों के कठोर पालन, निर्णय लेने में विलम्ब तथा नये परीक्षणों के निषेध का प्रतिनिधित्व करती है।

के. डे. बाटा ने नौकरशाही के उस दृष्टिकोण को आगे बढाया है जो तीन आयामों पर आधारित हैं। उनके अनुसार संरचनात्मक दृष्टि से, यह मूल्यों से परे है, न यह नायक है और न खलनायक, इसको एक ऐसी घटना समझा जा सकता है जो किसी भी बड़े तथा जटिल संगठन के साथ

जुड़ी होती है। व्यवहार की दृष्टि से नौकरशाही एक ऐसा संगठन समझा जाता है जिसके कुछ कार्यात्मक अथवा विकृत वैज्ञानिक चित्र प्रकट होते हैं। लक्ष्य की पूर्ति अथवा उपलब्धियों की दृष्टि से इसको ऐसा संगठन समझा जाता है जो प्रशासन में कार्यकुशलता को अधिक से अधिक बढ़ाता है अथवा प्रशासनिक कुशलता के हितों में संगठित सामाजिक व्यवहार का एक संस्थागत तरीका है।

6.4 नीति-निर्माण में अधिकारी तन्त्र की भूमिका

आधुनिक युग में अधिकारी तंत्र अर्थात नौकरशाही प्रशासन का अनिवार्य एवं अभिन्न अंग है। शासन व्यवस्था चाहे कैसी हो, इसकी अनिवार्यता हरेक प्रणाली में है। हैंस रोजेन्बर्ग ने इसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि नौकरशाही अच्छी है या बुरी, शासन की आधुनिक संरचना का एक अनिवार्य अंग, व्यवसायिक प्रशासन की फैली हुई व्यवस्था और उसमें नियुक्त अधिकारियों का पदसोपान है जिनके ऊपर समाज पूर्णतया आश्रित है। चाहे हम उस प्रकार की सर्वसत्तात्मक तानाशाही के अधीन रहते हों या एक सर्वथा उदार लोकतंत्र के अधीन, हम अधिक सीमा तक किसी न किसी प्रकार की नौकरशाही के द्वारा शासित हैं। मैक्स वेबर ने जहाँ इसे आधुनिक राज्य का एक अपरिहार्य तत्व मन है वहीं हर्बर्ट मौरीसन ने इसे संसदीय प्रजातंत्र का मूल्य माना है। एस.के. लाल के शब्दों में "विधायी और न्यायिक कार्यों की प्रकृति अस्थायी होती है लेकिन नौकरशाही सदैव अविरल रूप से कार्यरत रहती है, क्योंकि इसका कार्यकाल स्थायी होता है ये लोकनीति के विशिष्ट क्षेत्रों में विशेष तकनिकी योग्यता प्राप्त होते हैं और जनता से सदैव इनका संपर्क रहता है। अतः इनके पास ऐसी सूचनाऐं होती हैं जो लोकनीति के निर्माण और उसे लागू करने के लिए अत्यंत आवश्यक है।"

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका, लोकतंत्र के तीन स्तंभ अवश्य हैं, परन्तु इन स्तंभों की स्थिति नौकरशाही द्वारा सम्पादित क्रियाकलापों पर ही टिकी होती है जो इसे प्रारंभिक सूचना, परामर्श एवं विश्लेषण प्रस्तुत करता है। नौकरशाही अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न करती है यथा-

1. नौकरशाही का संवैधानिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है।
2. नौकरशाह सरकारी तंत्र के परिचालन की व्यवस्था करते हैं।
3. नौकरशाह हीं प्रभारी मंत्री के लिए विस्तृत भुजा का कार्य करते हैं तथा वरिष्ठ लोकसेवक मंत्री के सरकारी भाषण का मसौदा तैयार करते हैं तथा आवश्यक पथ प्रदर्शन करते हैं।
4. नौकरशाही विभिन्न सेवाओं के प्रबंधन का कार्य करते हैं।
5. समस्याओं की पहचान कर निदान का भी हर संभव प्रयास करते हैं।
6. आधुनिकीकरण एवं आर्थिक विकास की पूरा जिम्मा नौकरशाही पर ही होता है तथा
7. राज्य के अनिवार्य साधन के रूप में यह समस्त कार्यों के प्रति उत्तरदायी भी है।

अर्थात नौकरशाही अपरिहार्य हो गयी है। पीटर एम. बाल्वो के शब्दों में "नौकरशाही प्रशासन को अधिक कुशल, विवेकशील, निष्पक्ष तथा तर्क संगत बनाती है। नौकरशाही के बिना

प्रशासन शून्य बन जायेगा।" मैक्स बेबर के नौकरशाही को आदर्श प्रकार माना है। उनका तर्क है कि इसके माध्यम से प्रशासन में उच्च कार्य कुशलता को लाया जा सकता है। मोटे तौर पर नौकरशाही की भूमिका को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, पहला- सूचनात्मक, दूसरा- सलाहकारी तथा तीसरा- विश्लेशणात्मक।

राजनीतिक कार्यपालिका एवं विधायिका नीति-निर्माण में नौकरशाही की राय से भी प्रभावित होती है। नीतियों के निर्माण की सारी शुरुआती सूचना नौकरशाही ही उपलब्ध कराती है। जनता से शुरुआती जानकारी, उनकी स्वीकार्यता आदि पहलुओं की जानकारी नौकरशाही जुटाती है। सलाह भी प्रदान करना नौकरशाही की जिम्मेदारी है। विविध पहलुओं का विश्लेषण नौकरशाही करती है तथा राजनीतिक कार्यपालिका के दोस्त, दार्शनिक एवं मार्गदर्शक का कार्य बखूबी निभाती है।

भारतीय सरकार की स्थायी नौकरशाही भारतीय सिविल सेवा है। भारत के संसदीय लोकतंत्र में जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के साथ वे प्रशासन को चलाने के लिए उत्तरदायी हैं। मंत्रीगण परोक्ष रूप से लोगों के लिए भी जिम्मेदार हैं। लेकिन आधुनिक प्रशासन की कई समस्याओं के साथ मंत्रीगण द्वारा व्यक्तिगत रूप से उनसे निपटने की उम्मीद नहीं की जा सकती है। इस प्रकार मंत्री, नीतियों का निर्धारण करते हैं और नीतियों के निर्वाह के लिए सिविल सेवकों की नियुक्ति की जाती है। कार्यकारी निर्णय भारतीय सिविल सेवकों द्वारा कार्यान्वित किया जाता है। सिविल सेवक, भारतीय संसद के बजाए भारत सरकार के कर्मचारी हैं। सिविल सेवकों के पास कुछ पारंपरिक और सांविधिक दायित्व भी होते हैं जो कि कुछ हद तक सत्ता में पार्टी के राजनैतिक शक्ति के लाभ का इस्तेमाल करने से बचाता है। वरिष्ठ सिविल सेवक संसद के स्पष्टीकरण के लिए जिम्मेवार हो सकते हैं। सिविल सेवाओं की जिम्मेदारी भारत के प्रशासन को प्रभावी ढंग से और कुशलतापूर्वक चलाने की है। यह माना जाता है कि भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश के प्रशासन को अपनी प्राकृतिक, आर्थिक और मानव संसाधनों के कुशल प्रबंधन की आवश्यकता है। मंत्रालय के निर्देशानुसार नीतियों के तहत कई केंद्रीय एजेंसियो के माध्यम से देश को प्रबंधित किया जाता है। सिविल सेवाओं के सदस्य केन्द्र सरकार और राज्य सरकार में प्रशासक के रूप में, विदेशी दूतावासों/मिशनों में दूतों; कर संग्राहक और राजस्व आयुक्त के रूप में, सिविल सेवा कमीशन पुलिस अधिकारियों के रूप में, आयोगों और सार्वजनिक कंपनियों में कार्यकारी के रूप में और स्थायी रूप से संयुक्त राज्य के प्रतिनिधित्व और इसके अभिकरणों के रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं।

6.5 प्रदत्त विधायन एवं अधिकारी तन्त्र

कार्यपालिका का एक महत्वपूर्ण कार्य कानून का निर्माण है। हालांकि उसका यही एक मात्र कार्य नहीं है। कानून शब्द के अन्तर्गत कोई भी ऐसा नियम, विनिमय, उपविधि या उप-नियम भी आता है जो किसी अधीनस्थ प्राधिकारी ने अधिनियम के उपबन्धों के अनुसरण में में स्पष्ट रूप से दी गई शक्तियों के अधीन तथा अधिनियम में निर्दिष्ट सीमाओं के भीतर रहते हुए बनाये हों। विधि अथवा अधिनियम अथवा कानून का मसौदा अथवा प्रारूप विधेयक के रूप में सभा

के समक्ष लाया जाता है। विधेयक चाहे सरकार द्वारा पेश किया गया हो अथवा गैर-सरकारी सदस्य द्वारा, तभी कानून बन सकता है जब उसे विधायिका की स्वीकृति प्राप्त हो जाय तथा राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हो जाय। संविधान के उपबंधों के अनुसार या संसदीय अधिनियम के अन्तर्गत किसी अधीनस्थ प्राधिकरण को प्रत्यायोजित शक्तियों के अधीन बनाये गए प्रत्येक विनियम, नियम, उप-नियम, उप-विधि इत्यादि को उसके राजपत्र में प्रकाशन के पन्द्रह दिन की अवधि के अंदर लोकसभा के पटल पर रखना आवश्यक है। आधुनिक युग में कार्यपालिका को न केवल विभिन्न और जटिल प्रकार का, बल्कि मात्रा में भी अत्यधिक कार्य करना पड़ता है। कार्यपालिका के पास इस कार्य को निपटाने के लिए सीमित समय होता है। इसलिए कार्यपालिका उन सभी कार्यकारी, विधायी तथा अन्य मामलों पर, जो उसके समक्ष आते हैं, गहराई के साथ विचार नहीं कर सकती। अत: कार्यपालिका का बहुत सा काम नौकरशाही द्वारा निपटाया जाता है।

प्रदत्त विधायन द्वारा राजनीतिक कार्यपालिका अपने ढेर सारे क्रियाकलापों को नौकरशाही को सौंप देती है। यह प्रवृति लगातार बढती ही जा रही है। लोक कल्याणकारी राज्य के विकास के बाद नौकरशाही के कार्यों में व्यापक परिवर्तन हुए है। इसके कारण निम्नवत हैं: पहला- कार्यपालिका के कार्यों में अतिशय वृद्धि, दूसरा- समय की कमी, तीसरा- विषय-वस्तु की वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रकृति, चौथा- आकस्मिक कारण आदि।

6.6 अधिकारी तन्त्र की बढ़ती उपयोगिता

आधुनिक युग में राज्य का शायद कोई ऐसा क्षेत्र है जहाँ अधिकारी तंत्र या नौकरशाही का प्रभाव या संबंध नहीं हो। पूर्व की अपेक्षा अब संगठन का आकर बहुत बड़ा होने लगा है जिससे नौकरशाही का विकास होना स्वाभाविक है और भी प्रशासनिक तंत्र के नए-नए आयामों ने इसे विस्तारित किया है। आज कोई भी शासकीय प्रणाली इससे अछूता नहीं है। नौकरशाही की बढ़ती उपयोगिता के कारण निम्नलिखित हैं:

1. बौद्धिकता एवं विशेषीकरण;
2. संगठनात्मक कानूनी स्रोत;
3. मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक वातावरण;
4. तकनीकी आवश्यकताऐं ;
5. लोकतंत्र का उद्-भव एवं विकास; तथा
6. आर्थिक प्रगति।

इसके साथ ही इसकी आवश्यकताओं ने इसे नकारात्मक स्वरुप भी प्रदान कर दिया है। आज नौकरशाही जनविमुख और भ्रष्ट होती जा रही है, जिसके अनेक कारण हैं। सबसे अहम कारण है- नौकरशाही का राजनीतिक रुझान और नौकरशाहों पर राजनीतिक दबाव। नौकरशाही में भ्रष्टाचार एक सच्चाई है। इसके अलावा नौकरशाही संरचना भी लगातार विकृत होती जा रही है। कहीं न कहीं नौकरशाहों की चयन प्रक्रिया में दोष है। यही वजह है कि विभिन्न प्रशासनिक सुधार आयोगों द्वारा समय-समय पर चयन प्रक्रिया में सुधार लाने हेतु सिफारिश की जाती रही

है। इसका एकमात्र मकसद है कि बदलती घरेलू और वैश्विक संरचना में भारतीय प्रशासकों की भूमिका भी बदल रही है जिसके अनुकूल चयन प्रणाली होनी चाहिए। आज देश में काफी बदलाव हो चुके हैं। देश में अब वैसी शासन व्यवस्था कायम नहीं रह सकती है जिसे लालफीताशाही कहते हैं। इसके लिए हमें जनकेन्द्रित और कुशल सामाजिक प्रशासकों की जरूरत है। बदलती जरूरतों के अनुकूल हमारे हर साधन और साध्य बदलें, तभी हम टिकाऊ और समावेशी विकास की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में गिरावट का ही नतीजा है कि देश में तमाम कल्याणकारी योजनाओं के बावजूद गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, अशिक्षा और अपराध को खत्म नहीं किया जा सका है। आज देश को अप्रत्यक्ष रूप से चला रहे सिविल सेवकों की चयन प्रक्रिया, प्रशिक्षण और नियोजन की संरचना में मूलभूत सुधार की तत्काल आवश्यकता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. ब्यूरोक्रेसी शब्द की उत्पत्ति फ्रांसीसी भाषा के किस शब्द से हुई है?
2. नौकरशाही शब्द अंग्रेजी भाषा के किस शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है?
3. नौकरशाही शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किसने किया?
4. नौकरशाही का व्यापक तथा सुस्पष्ट सिद्धांत विकसित करने का श्रेय किसे दिया जाता है?
5. किसने नौकरशाही को संसदीय प्रजातंत्र का मूल्य माना है?

6.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके होंगे कि नौकरशाही शब्द पर्याप्त अस्पष्ट और अनेक अर्थों को इंगित करता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में नौकरशाही का महत्व निर्विवाद है। यह आधुनिक राज्य का अपरिहार्य तत्व है। प्रशासकीय पदसोपान अधिकारी तंत्र की प्रमुख विशेषता है जिसमे आदेश ऊपर से नीचे की ओर चलता है तथा उत्तरदायित्व नीचे से ऊपर की ओर चलता है। प्रत्येक अधीनस्थ कर्मचारी अपने उच्च पदस्थ अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होता है। पूरा संगठन एक पिरामिड की भांति कार्य करता है जिससे एक उचित मार्ग प्रक्रिया का निर्माण भी संभव हो पाता है। प्रदत्त विधायन के फलस्वरूप राजनीतिक कार्यपालिका अपने ढेर सारे क्रियाकलापों को नौकरशाही को सौंप देती है। यह प्रवृति लगातार बढती ही जा रही है। लोक कल्याणकारी राज्य के विकास के बाद नौकरशाही के कार्यों में व्यापक परिवर्तन हुए है। असल में भारतीय शासन व्यवस्था में नौकरशाही की अहम भूमिका है, मगर जो व्यवस्था अपनाई गई, उसमें नौकरशाहों के लिए स्वतंत्र रूप से काम करने की गुंजाइश लगातार कम होती गई है। हालत यहां तक हो गई कि सरकारों के बदलने के साथ ही पूरा प्रशासनिक ढांचा ही उलटपुलट जाता है।

6.8 शब्दावली

पदसोपान- पदसोपान का अर्थ है, निम्नतर पर उच्चतर का शासन अथवा नियंत्रण। व्यवहार में इस शब्द का अभिप्राय एक ऐसे संगठन से होता है जो पदों के उत्तरोत्तर क्रम के अनुसार सीढ़ी की भांति संगठित किया गया हो।

वचनबद्ध नौकरशाही- सत्तारूढ़ दल के कार्यक्रमों के प्रति समर्पित नौकरशाही।

सरकारिया आयोग- केंद्र-राज्य संबंधों पर न्यायमूर्ति रणजीत सिंह सरकारिया के नेतृत्व में जून 1983 में गठित एक आयोग।

समूह- कर्मचारियों का एक ऐसा वर्ग जो निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करता है ।

6.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ब्यूरो, **2.** ब्यूरोक्रेसी (Bureaucracy), **3.** फ्रांसीसी अर्थशास्त्री विन्सेन्ट दि गुर्नी ने, **4.** मैक्स वेबर **5.** हर्बर्ट मौरीसन

6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. ए0 अवस्थी एवं एस0आर0माहेश्वरी, 2012,लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. पॉल एच0 एपेल्बी, 1949, पालिसी एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, अलबामा यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. आर0बी0 जैन, 2009, भारतीय प्रशासन में समकालीन मुद्दे, विशाल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
4. श्रीराम माहेश्वरी, 2009 , भारतीय प्रशासन, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली।

6.11 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. मनोज सिन्हा, 2010, प्रशासन एवं लोकनीति, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली।
2. सी0बी0 गेना,2010, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाऐं, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
3. सुषमा यादव एवं राम अवतार शर्मा, 1997, भारतीय राजनीति ज्वलंत प्रश्न, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

6.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. अधिकारी तंत्र या नौकरशाही का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. नौकरशाही की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. नीति-निर्माण में अधिकारी तंत्र या नौकरशाही की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
4. प्रदत्त विधायन में अधिकारी तंत्र या नौकरशाही की भूमिका का वर्णन कीजिए।
5. नौकरशाही की बढ़ती उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

इकाई-7 नीति-निर्माण में विधान मंडल की भूमिका

इकाई की संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 विधान मंडल का अर्थ
7.3 भारतीय विधान मंडल
7.4 विधायी प्रक्रिया
7.5 संसदीय समितियों की भूमिका
7.6 नीति-निर्माण में विधान मंडल की बदलती भूमिका
7.7 सारांश
7.8 शब्दावली
7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
7.11 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
7.12 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

समाज के व्यवस्थित संचालन में नियमों की भूमिका अत्यन्त महत्व रखती है। आधुनिक समय में नियम-निर्माण का कार्य करनेवाली संस्थाओं को विधानमंडल या विधायिका कहा जाता है। इसके साथ-साथ नीति-निर्माण प्रक्रिया में सरकार के तीनों अंग- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होते हैं। इनमें व्यवस्थापिका या विधान मंडल की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। नीति-निर्माण प्रधानतः विधानमंडल का काम है क्योंकि नीति का आधार एवं प्रारूप विधान मंडल द्वारा ही निर्धारित एवं निश्चित होता है। विधानमंडल अपने समक्ष प्रस्तुत प्रत्येक नीतिगत प्रस्तावों पर चर्चा एवं विश्लेषण करती है तथा इन्हें अंतिम रूप देती है। प्रस्तुत इकाई में नीति-निर्माण में विधानमंडल की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त इस इकाई में विधायी प्रक्रिया एवं संसदीय समितियों की भूमिका के बारे में भी आप ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- विधानमंडल के अर्थ एवं कार्य के बारे में जान पायेंगे।
- नीति-निर्माण में विधानमंडल की भूमिका के बारे में भी आप जान सकेंगे।
- विधायी प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी आप जानकारी जुटाने में सक्षम होंगे।
- संसदीय समितियों की भूमिका एवं कार्य के बारे में भी आप जान पायेंगे।
- विधानमंडल की बदलती भूमिका का भी ज्ञान होगा।

7.2 विधान मंडल का अर्थ

नीति-निर्माण सरकार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं में से एक है। किसी देश के सामाजिक-आर्थिक रुपान्तरण में लोकनीति की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। नीति वह साधन या माध्यम है, जिसके सहारे लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका-लोकतंत्र के तीन स्तम्भ हैं। कार्यों की प्रकृति एवं सार्वजनिक उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से विधायिका या विधानमंडल तीनों अंगों में सर्वोच्च है। विधायिका शब्द विधि बनाने वाली सरकारी इकाई के लिये प्रयोग में आता है। भारतीय संविधान में विधायिका की परिभाषा की जगह विधायिका की शक्तियों का तथा उसके अधिकार तथा कर्तव्यों का वर्णन किया गया है, जिसके अंतर्गत विधायिका को विधि बनाने का अधिकार है।

सामान्यतः विधायिका या विधान मंडल सरकार का वह अंग है जिसका कार्य विधि निर्माण है। विश्व में प्राकृतिक और भौगोलिक विविधता के साथ-साथ राजनैतिक संरचना में भी भिन्नता है। राजतंत्र, तानाशाही सत्ता में केन्द्रीकरण के उदाहरण हैं जबकि प्रजातंत्र और लोकतंत्र में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन किया जाता है। किसी देश की विधान मंडल या विधायिका का स्वरुप एवं संगठन वहाँ की संवैधानिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित किया जाता है। विधायिका शब्द, विधि बनाने वाली सरकारी इकाई के लिये प्रयोग में आता है। विधानमंडलों का विकास लोकतंत्र की स्थापना के साथ ही हुआ है परन्तु इसका व्यापक अर्थ लें तो ये काफी प्राचीन प्रतीत होती है। व्यापक अर्थ में व्यक्तियों का वह समूह जो कोई प्रतिनिध्यात्मक आधार नहीं रखते हुए भी शासक को सलाह, सहायता या प्रेरणा देने का कार्य करता है, विधानमंडल कहा जाता है। सामान्य अर्थ में विधानमंडल व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो कानून बनाने के अधिकार से युक्त होता है। यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रतिनिधियात्मक ही हो। ग्रेट ब्रिटेन की संसद, जिसे 'संसदों की जननी' भी कहा जाता है, वह आज भी सही अर्थों में प्रतिनिधियात्मक नहीं है।

विधायिका का कार्य है विधान बनाना, नीति निर्धारण करना, शासन पर संसदीय निगरानी रखना तथा वित्तीय नियंत्रण करना। दूसरी ओर कार्यपालिका का कार्य है विधायिका द्वारा बनायी गयी विधियों और नीतियों को लागू करना एवं शासन चलाना। कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जिसका कार्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों का क्रियान्वयन करना है। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका लोकतंत्र के तीन स्तंभ अवश्य हैं, संसद की सर्वोच्चता भारतीय शासन की प्रमुख विशेषता है। संसद को विधायिका अथवा व्यवस्थापिका नाम से भी जाना जाता है।

किसी देश के विधानमंडल का स्वरुप एवं संगठन वहाँ की संवैधानिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित किया जाता है। अलग-अलग देशों में इसके संगठन के लिए अलग-अलग आधार अपनाया गया है। कुछ देशों में विधानमंडल का संगठन प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है तो कुछ देशों में इसका आधार अप्रत्यक्ष रूप से होता है। आम तौर से द्वितीय सदन के संगठन का आधार अप्रत्यक्ष होता है। विश्व में विधानमंडल के विविध स्वरुप हैं, यथा-

एकसदनात्मक, द्विसदनात्मक, प्रतिनिध्यात्मक, मनोनीत आदि-आदि। विधानमंडल का संगठन प्रतिनिधित्व एवं राजनीतिक दलों द्वारा भी प्रभावित होता है। सदनों की संख्या, सदन का आकार, कार्यकाल, समिति व्यवस्था एवं अधिकार अलग-अलग देशों में अलग-अलग आधार पर निर्धारित किए गए हैं। विधानमंडल के किसी रूप की उपयोगिता एवं सार्थकता उस देश की परिस्थितियों एवं जनसंख्या के चरित्र पर निर्भर करती है। राजनीतिक शासन व्यवस्था के विभाजन का एक प्रमुख आधार कार्यपालिका का स्वरूप है। कार्यपालिका एवं विधायिका के परस्पर संबंधों के आधार पर शासन दो रूपों में बाँटा जा सकता है- संसदीय एवं अध्यक्षात्मक। आधुनिक लोकतन्त्र के युग में सरकार का विभाजन का प्रमुख आधार पर यही है। संसदीय शासन प्रणाली में शासन की व्यवस्था के तीनों आधार स्तंभ क्रमश: कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका स्वतंत्र होते हैं।

7.3 भारतीय विधान मंडल

किसी भी देश की शासन व्यवस्था उसके राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग होती है। यह राज्य की नीतियों को लागू कर उसके लक्ष्यों को साकार बनाती है तथा उसे सार्थकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। भारतीय संविधान में विधायिका की परिभाषा की जगह विधायिका की शक्तियों का तथा उसके अधिकार तथा कर्तव्यों का वर्णन किया गया है जिसके अंतर्गत विधायिका को विधि बनाने का अधिकार है।

भारत एक संपूर्ण प्रभुतासम्पन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष एवं लोकतांत्रिक गणराज्य है। भारतीय संविधान में संसदीय प्रणाली को अपनाया गया है जिसके अनुसार शासन के दो प्रधान, संवैधानिक एवं वास्तविक होते हैं तथा कार्यपालिका एवं विधायिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। संसदीय प्रणाली वाले देशों में नीति-निर्माण एवं प्रशासन एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े होते है। वस्तुतः विधायिका के सदस्य ही कार्यपालिका का निर्माण करते हैं और कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इन्हीं कारणों से नीति-निर्माण एवं प्रशासन के मध्य एक अटूट रिश्ता हो जाता है। इस सन्दर्भ में पीटर ओडेगार्ड का कथन बिल्कुल सही है कि नीति और प्रशासन राजनीति के जुड़वाँ बच्चे हैं जो एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते हैं। उपरोक्त कथन न केवल संसदीय प्रणाली वाले देशों के लिए सही है बल्कि अध्यक्षीय प्रणाली वाले देशों के सन्दर्भ में भी बहुत हद तक सही है, जहाँ शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त लागू होता है।

'संसदीय' शब्द का अर्थ ही ऐसी लोकतंत्रात्मक राजनीतिक व्यवस्था है जहाँ सर्वोच्च शक्ति जनता के प्रतिनिधियों के उस निकाय में निहित है जिसे 'संसद' कहते हैं। भारतीय लोकतंत्र में संसद, जनता की सर्वोच्च प्रतिनिधि संस्था है। इसी माध्यम से आम लोगों की संप्रभुता को अभिव्यक्ति मिलती है। संसद ही इस बात का प्रमाण है कि हमारी राजनीतिक व्यवस्था में जनता सबसे ऊपर है अर्थात जनमत सर्वोपरि है। संसद वह धुरी है जो देश के शासन की नींव है। संविधान में विधायी शक्तियां संसद एवं राज्य विधानसभाओं में विभाजित की गई हैं तथा शेष शक्तियां संसद को प्राप्त हैं। संविधान में संशोधन का अधिकार भी संसद को ही प्राप्त

है। भारत के संविधान में संघीय सरकार और राज्यों की शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया है। इस दृष्टि से समस्त कार्यों को तीन सूचियों में बाँट दिया गया है। संघीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। संघ सूची में आये हुए समस्त कार्यों को संघीय सरकार सम्पन्न करती है और राज्य सूची में आए हुए कार्य राज्य सरकार के होते हैं। समवर्ती सूची में आए हुए विषयों पर संघीय और राज्य दोनों ही सरकारें कानून बना सकती है। परन्तु संघीय कानूनों को प्राथमिकता दी जाती है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 79 द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि "संघ के लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दो सदनों से मिलकर बनेगी, जिसके नाम क्रमशः लोकसभा और राज्यसभा होंगे।" भारत का राष्ट्रपति संसद का अंग होता है। संसद द्वारा पारित विधेयक तब तक अधिनियम नहीं बनता जब तक कि राष्ट्रपति उस पर अपनी स्वीकृति नहीं देता है। यद्यपि राष्ट्रपति संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं होता। उसे संसद का अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने तथा लोक सभा को भंग करने का अधिकार है। इतना ही नहीं, जब संसद के दोनों सदनों का अधिवेशन न चल रहा हो और राष्ट्रपति को महसूस हो कि इन परिस्थितियों में तुरन्त कार्यवाही जरूरी है तो वह अध्यादेश जारी कर सकता है। इस अध्यादेश की शक्ति एवं प्रभाव वही होता है जो संसद द्वारा पास की गई विधि का होता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति लोकसभा के लिए प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात अधिवेशन के शुरू में और हर साल के पहले अधिवेशन के प्रारम्भ में राष्ट्रपति एक साथ संसद के दोनों सदनों के सामने अभिभाषण करता है। लोक सभा संसद का प्रथम एवं निम्न सदन है। इसे लोकप्रिय सदन भी कहा जाता है। लोक सभा का गठन वयस्क मतदान के आधार पर निर्वाचित सदस्यों से होता है। सदन के सदस्यों की अधिकतम संख्या 552 निर्धारित की गयी है, जिसमे 530 सदस्य राज्यों का प्रतिनिधित्व तथा 20 केंद्र शासित प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अधिक से अधिक आंग्ल-भारतीय समुदाय के दो सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जा सकते हैं। यदि उसके विचार से उस समुदाय का सदन में पर्याप्त नेतृत्व नहीं है तो लोक सभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या का राज्यों के बीच इस तरह वितरण किया जाता है कि प्रत्येक राज्य को आबंटित सीटों की संख्या और राज्य की जनसंख्या के बीच का अनुपात जहाँ तक व्यवाहारिक हो ,सभी राज्यों के लिए बराबर होता है।

वर्तमान में लोक सभा में 545 सदस्य हैं। इनमें से 530 सदस्य प्रत्यक्ष रूप राज्यों से चुने गए हैं और 13 संघ राज्य क्षेत्रों से, जब कि दो सदस्यों का मनोनयन आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व करने के लिए राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है। भारतीय संविधान के तहत प्रथम आम चुनाव वर्ष 1951-52 में आयोजित किए गए थे तथा प्रथम निर्वाचित संसद अप्रैल 1952 में अस्तित्व में आयी। दूसरी लोकसभा अप्रैल 1957 में, तीसरी लोकसभा अप्रैल 1962 में, चौथी लोक सभा मार्च 1967 में, पाँचवीं लोकसभा मार्च 1971 में, छठी लोकसभा मार्च 1977 में, सातवीं लोकसभा जनवरी 1980 में, आठवीं लोकसभा दिसम्बर 1984 में, नौंवी लोकसभा दिसम्बर 1989 में, दसवीं लोकसभा जून 1991 में, ग्यारहवीं लोकसभा मई 1996 में, बारहवीं

लोकसभा मार्च 1998 में, तेरहवीं लोकसभा अक्तूबर 1999 में, चौदहवीं लोकसभा मई 2004 में, पन्द्रहवीं लोकसभा अप्रैल 2009 तथा सोलहवीं लोकसभा मई 2014 में अस्तित्व में आयी।

वहीं दूसरी ओर, राज्य सभा एक स्थायी सदन है तथा इसे भंग नहीं किया जा सकता। इसके एक तिहाई सदस्य प्रत्येक दूसरे वर्ष सेवानिवृत्त होते हैं तथा उन्हें नए निर्वाचित सदस्यों द्वारा प्रतिस्थापित किया जाता है। प्रत्येक सदस्य छ: वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित होते हैं। राज्य सभा में अधिक से अधिक 250 सदस्य होते हैं, 238 सदस्य राज्यों तथा संघ राज्य क्षेत्रों के प्रतिनिधि होंगे तथा 12 सदस्यों को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाएगा। भारत का उपराष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति है। यह सदन अपने सदस्यों में से एक उप-सभापति का चुनाव भी करता है। इसके अतिरिक्त, राज्य सभा में उप-सभापतियों का एक पैनल होता है। सामान्यतया प्रधानमंत्री द्वारा वरिष्ठतम मंत्री, जो राज्य सभा का सदस्य होता है, को सदन के नेता के रूप में नियुक्त किया जाता है।

7.4 विधायी प्रक्रिया

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका लोकतंत्र के तीन स्तंभ अवश्य हैं, परन्तु इन स्तंभों की स्थिति और स्वरूप एक समान नहीं है। तीनों का स्थान समानांतर धरातल पर नहीं है। कानून बनाना संसद का प्रमुख काम माना जाता है। इसके लिए पहल अधिकांशतया कार्यपालिका द्वारा की जाती है। सरकार विधायी प्रस्ताव पेश करती है। उस पर चर्चा तथा वाद-विवाद के पश्चात संसद उस पर अनुमोदन की अपनी मुहर लगाती है।

संसद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य देश के लिए कानून का निर्माण है। संसद को संघ सूची, समवर्ती सूची तथा विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार है। हालाँकि समवर्ती सूची पर संसद एवं राज्य विधानमंडल दोनों को ही कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है, विरोधाभास की स्थिति में संसद द्वारा बनाये गए कानून ही मान्य होते हैं। राज्य विधानमंडल द्वारा बनाया गया कानून इस सन्दर्भ में स्वतः ही समाप्त माना जाता है। संविधान के अनुच्छेद 107 से 122 तक कानून बनाने की प्रक्रिया का उल्लेख है। सभी कानूनी प्रस्ताव विधेयक के रूप में संसद में पेश किए जाते हैं। विधेयक विधायी प्रस्ताव का मसौदा होता है। विधेयक संसद के किसी एक सदन में सरकार द्वारा या किसी गैर-सरकारी सदस्य द्वारा पेश किया जा सकता है। इस प्रकार मोटे तौर पर, प्रस्तुतकर्ता के आधार पर विधेयक दो प्रकार के होते हैं, पहला- सरकारी विधेयक और दूसरा- गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयक। विधि का रूप लेने वाले अधिकांश विधेयक सरकारी विधेयक होते हैं। वैसे तो गैर-सरकारी सदस्यों के बहुत कम विधेयक विधि का रूप लेते हैं। फिर भी उनके द्वारा यह बात सरकार और लोगों के ध्यान में लाई जाती है कि मौजूदा कानून में संशोधन करने या कोई आवश्यक विधान बनाने की आवश्यकता है।

प्रकृति के आधार पर सामान्यतः विधेयक दो प्रकार के होते हैं, पहला- साधारण विधेयक, दूसरा- वित्त विधेयक। विधेयक का मसौदा उस विषय से संबंधित सरकार का मंत्रालय, विधि-

मंत्रालय की सहायता से तैयार करता है। मंत्रीमंडल के अनुमोदन के बाद इसे संसद के सामने लाया जाता है। संबंधित मंत्री द्वारा उसे संसद के दोनों सदनों में से किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है। केवल धन विधेयक के मामले में यह पाबंदी है कि वह राज्यसभा में पेश नहीं किया जा सकता।

साधारण विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। अधिनियम का रूप लेने से पूर्व विधेयक को संसद में पाँच अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। प्रत्येक विधेयक के प्रत्येक सदन में तीन वाचन होते हैं अर्थात पहला वाचन, दूसरा वाचन और तीसरा वाचन। विधेयक का प्रस्तुतीकरण विधेयक का पहला वाचन है। कुछ विषयों से सम्बन्धित विधेयकों को सदन में प्रस्तावित करने से पूर्व राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति आवश्यक होती है, यथा, राज्य की सीमाओं में परिवर्तन आदि। यदि संसद का कोई गैर-सरकारी सदस्य किसी विधेयक को सदन में प्रस्तुत करना चाहता है तो उसे अध्यक्ष को एक माह पूर्व इसकी सूचना देनी पड़ती है लेकिन सरकारी विधेयकों को प्रस्तुत करने के लिए किसी प्रकार की सूचना की आवश्यकता नहीं होती। आज्ञा मिल जाने के पश्चात प्रथम वाचन के रूप में विधेयक के शीर्षक को प्रस्तुतकर्ता द्वारा पढ़कर सुना दिया जाता है। परम्परा के अनुसार इस अवस्था में चर्चा नहीं की जाती है। परन्तु एक सामान्य सी बहस इसकी वैधता पर हो सकती है। विधेयक के प्रस्तुतीकरण के पश्चात इसे भारत सरकार के गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है।

विधेयक का दूसरा वाचन सबसे अधिक विस्तृत एवं महत्वपूर्ण अवस्था है क्योंकि इसी अवस्था में इसकी विस्तार एवं बारीकी से जांच की जाती है। द्वितीय वाचन के प्रारंभ में विधेयक की प्रतियां सदन के सम्मुख सदस्यों में वितरित कर दी जाती हैं। सामान्यतया विधेयक के प्रथम वाचन एवं द्वितीय वाचन के मध्य दो दिनों का अंतर रखा जाता है किन्तु अध्यक्ष या सभापति आवश्यक समझे तो द्वितीय वाचन भी उसी दिन कराया जा सकता है। प्रायः सरकारी विधेयकों का द्वितीय वाचन उसी दिन करा लिया जाता है। इस स्तर पर विधेयक के प्रत्येक अनुच्छेद पर विस्तार से चर्चा नहीं होती, केवल मूल सिद्धान्तों पर ही विचार होता है। इस स्तर पर कोई संशोधन भी प्रस्तुत नहीं किया जाता है। यदि आवश्यक होता है तो विधेयक को संयुक्त प्रवर समिति के विचारार्थ सौंप दिया जाता है।

समिति द्वारा विधेयक के प्रत्येक प्रावधान पर बारीकी से विचार किया जाता है। इस दौरान समिति सम्बंधित विषय विशेषज्ञों से भी परामर्श ले लेती है। सामान्यतः समिति को विधेयक में संशोधन करने का भी अधिकार है। विधेयक के सभी पहलुओं की समीक्षा के पश्चात निर्धारित अवधि या तीन माह, जैसी भी स्थिति हो, अपना प्रतिवेदन समिति का संयोजक या सभापति सदन में प्रस्तुत करता है।

प्रतिवेदन अवस्था में समिति द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन एवं संशोधन, यदि कोई हो तो, की प्रतियाँ सदन के समस्त सदस्यों में वितरित कर दी जाती है। यदि प्रवर समिति द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन सहित विधेयक सदन द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है तो सदन में उक्त संशोधनों सहित विधेयक के हर एक बिन्दु पर विस्तार से चर्चा होती है। इस दौरान सदस्यों द्वारा भी संशोधन

पेश किये जा सकते हैं। चर्चा के पश्चात सदन में मतदान कराया जाता है। यदि मतदान द्वारा विधेयक को स्वीकार कर लिया जाता है तो इसके साथ ही प्रतिवेदन अवस्था पूर्ण हो जाती है। विधेयक के पारित होने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवस्था यही होती है।

विधेयक पारित होने की अंतिम अवस्था तीसरा वाचन है। विधेयक के सभी खंडो पर और अनुसूचियों पर, यदि कोई हों, सदन के विचार करने तथा स्वीकृति पश्चात मंत्री यह प्रस्ताव कर सकता है कि विधेयक को पास किया जाए। यह तीसरा वाचन कहलाता है। इस स्तर पर विधेयक की प्रत्येक धारा पर चर्चा तथा मतदान नहीं होता है बल्कि मूल सिद्धान्तों पर ही वाद-विवाद होता है। जिस सदन में विधेयक पेश किया गया हो उसमें पास किए जाने के बाद उसे सहमति के लिए दूसरे सदन में भेजा जाता है। वहां विधेयक फिर इन तीनों अवस्थाओं में से गुजरता है।

किसी विधेयक पर दोनों के बीच असहमति के कारण गतिरोध होने पर एक असाधारण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जिसका समाधान दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में होता है। जब दोनों सदनों द्वारा कोई विधेयक अलग-अलग या संयुक्त बैठक में पास कर दिया जाता है तो उसे राष्ट्रपति के पास भेजा जाता है। राष्ट्रपति के अनुमति मिलते ही, अनुमति की तिथि से विधेयक अधिनियम बन जाता है। इसके पश्चात कानून को सरकारी गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है।

दूसरी ओर, वित्त विधेयक संविधान के अनुसार केवल लोक सभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। कोई भी विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं, इसका निर्धारण लोक सभा अध्यक्ष करता है। लोक सभा द्वारा पारित वित्त विधेयक को राज्य सभा में भेजा जाता है। राज्य सभा को 14 दिनों के अन्दर अपनी सुझावों के साथ विधेयक को वापस करना पड़ता है। सुझावों को मानना या न मानना लोक सभा पर निर्भर है। यदि 14 दिनों के अन्दर वित्त विधेयक राज्य सभा से वापस नहीं आता तो उसे उसी रूप में पारित मान लिया जाता है जिस रूप में लोक सभा ने उसे भेजा था। तत्पश्चात राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलते ही उसे कानून का रूप मिल जाता है ।

7.5 संसदीय समितियों की भूमिका

भारतीय राजव्यवस्था में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त प्रभावी है जिसके तहत संविधान में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र की लक्ष्मण रेखा साफ-साफ खींच दी गई है। इसके अनुसार कानून बनाना विधायिका का काम है, इसे लागू करना कार्यपालिका का और विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों के संविधान सम्मत होने की जांच करना न्यायपालिका काम है। संविधान समय की मांग के मुताबिक बदला जा सके, इसके लिए उसमें संशोधन जैसा बेहद महत्वपूर्ण अधिकार विधायिका के पास है। संसद के कार्यों में विविधता तो है, साथ ही उसके पास काम की अधिकता भी रहती है। चूंकि उसके पास समय बहुत सीमित होता है, इसीलिए उसके समक्ष प्रस्तुत सभी विधायी या अन्य मामलों पर गहन विचार नहीं हो सकता है। अत: इसका बहुत सा कार्य समितियों द्वारा किया जाता है।

संसद के दोनों सदनों की समितियों की संरचना कुछ अपवादों को छोड़कर एक जैसी होती है। इन समितियों में नियुक्ति, कार्यकाल, कार्य एवं कार्य संचालन की प्रक्रिया कुल मिलाकर करीब एक जैसी ही है और यह संविधान के अनुच्छेद 118 (1) के अंतर्गत दोनों सदनों द्वारा निर्मित नियमों के तहत होती है।

सामान्यत: ये समितियां दो प्रकार की होती हैं, स्थायी समितियां और तदर्थ समितियां। स्थायी समितियां प्रतिवर्ष या समय-समय पर निर्वाचित या नियुक्त की जाती हैं और इनका कार्य कमोबेश निरंतर चलता रहा है। तदर्थ समितियों की नियुक्ति जरूरत पड़ने पर की जाती है तथा अपना काम पूरा कर लेने और अपनी रिपोर्ट पेश कर देने के बाद वे समाप्त हो जाती हैं। स्थायी समितियां लोकसभा की स्थायी समितियों में तीन वित्तीय समितियों, यानी लोक लेखा समिति, प्राकक्लन समिति तथा सरकारी उपक्रम समिति का विशिष्ट स्थान है और ये सरकारी खर्च और निष्पादन पर लगातार नजर रखती हैं। लोक लेखा समिति तथा सरकारी उपक्रम समिति में राज्य सभा के सदस्य भी होते हैं, लेकिन प्राक्कलन समिति के सभी सदस्य लोकसभा से होते हैं।

लोक लेखा समिति भारत सरकार के विनियोग तथा वित्त लेखा और लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट की जांच करती है। यह सुनिश्चित करती है कि सरकारी धन संसद के निर्णयों के अनुरूप ही खर्च हो। यह अपव्यय, हानि और निरर्थक व्यय के मामलों की ओर ध्यान दिलाती है। प्राक्कलन समिति यह निर्धारित करती है कि प्राक्कलनों में निहित नीति के अनुरूप मितव्ययिता बरती जा सकती है या नहीं तथा संगठन, कार्य कुशलता और प्रशासन में सुधार किस सीमा तक किए जा सकते हैं। यह इस बात की भी जांच करती है कि धन प्राक्कलनों में निहित नीति के अनुरूप ही व्यय किया जा सकता है या नहीं। समिति इस बारे में भी सुझाव देती है कि प्राक्कलन को संसद में किस रूप में पेश किया जाए। सरकारी उपक्रम समिति नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की, यदि कोई रिपोर्ट हो, तो उसकी जांच करती है। वह इस बात की भी जांच करती है कि ये सरकारी उपक्रम कुशलतापूर्वक चलाए जा रहे हैं या नहीं इनका प्रबन्धन ठोस व्यापारिक सिद्धान्तों और विवेकपूर्ण वाणिज्यिक प्रक्रियाओं के अनुसार किया जा रहा है या नहीं।

इन तीन वित्तीय समितियों के अलावा, लोकसभा की समिति ने विभागों से संबंधित 17 स्थायी समितियां गठित करने की सिफारिश की थी। इसके अनुसार 8 अप्रैल, 1993 को इन 17 समितियों का गठन किया गया। जुलाई 2004 में नियमों में संशोधन किया गया, ताकि ऐसी ही सात और समितियां गठित की जा सकें। इस प्रकार से इन समितियों की संख्या 24 हो गई है। इन समितियों के निम्नलिखित कार्य हैं-

1. भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों एवं विभागों के अनुदानों की मांग पर विचार करना और उनके बारे में संसद को सूचित करना;
2. लोकसभा के अध्यक्ष या राज्यसभा के सभापति द्वारा समिति के पास भेजे गए ऐसे विधेयकों की जांच और जैसा भी मामला हो, उसके बारे में रिपोर्ट तैयार करना;

3. मंत्रालयों और विभागों की वार्षिक रिपोर्टों पर विचार करना तथा उसकी रिपोर्ट तैयार करना; और
4. सदन में प्रस्तुत नीति संबंधी दस्तावेज, यदि लोकसभा के अध्यक्ष अथवा राज्य सभा के सभापति द्वारा समिति के पास भेजे गए हैं, उन पर विचार करना और जैसा भी हो, उसके बारे में रिपोर्ट तैयार करना।

इसके अतिरिक्त दोनों सदनों में अन्य स्थायी समितियां भी गठित है, जिनका विवरण निम्न है:

क. जांच समितियां- याचिका समिति विधेयकों और जनहित संबंधी मामलों पर प्रस्तुत याचिकाओं की जांच करती है और केन्द्रीय विषयों पर प्राप्त प्रतिवेदनों पर विचार करती और विशेषाधिकार समिति सदन या अध्यक्ष या सभापति द्वारा भेजे गये विशेषाधिकार के किसी भी मामले की जाँच करती है।

ख. आश्वासन समितियां- सरकारी आश्वासनों से संबंधी समिति मंत्रियों द्वारा सदन में दिए गए आश्वासनों, वादों एवं संकल्पों पर उनके कार्यान्वित होने तक नजर रखती है। अधीनस्थ विधि निर्माण समिति इस बात की जांच करती है कि क्या संविधान द्वारा प्रदत्त विनियमों, नियमों, उप-नियमों तथा प्रदत शक्तियों का प्राधिकारियों द्वारा उचित उपयोग किया जा रहा है।

ग. सदन के दैनिक कार्य से संबंधित समितियां- कार्य मंत्रणा समिति सदन में पेश किए जाने वाले सरकारी एवं अन्य कार्य के लिए समय-निर्धारण की शिफारिश करती है। इसके अलावा राज्य सभा की कार्य मंत्रणा समिति बहस के लिए समय के निर्धारण की सिफारिश करती है। नियम समिति सदन में कार्यविधि और कार्यवाही के संचालन से संबंधित मामलों पर विचार करती है और नियमों में संशोधन या संयोजन की सिफारिश करती है और सदन की बैठकों में अनुपस्थित सदस्यों संबंधी लोकसभा की समिति सदन के सदस्यों की बैठकों से अनुपस्थिति या छुट्टी के आवेदनों पर विचार करती है। राज्य सभा में इस प्रकार की कोई समिति नहीं है। सदस्यों की छुट्टी या अनुपस्थिति के आवेदनों पर सदन स्वयं विचार करता है।

घ. अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के कल्याण की समिति इसमें दोनों सदनों के सदस्य होते हैं। यह केंद्र सरकार के कार्यक्षेत्र में आने वाली अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण संबंधी मामलों पर विचार करती है और इस बात पर नजर रखती है कि उन्हें जो संवैधानिक संरक्षण दिए गए हैं, वे ठीक से कार्यान्वित हो रहे हैं या नहीं।

ड़. सदस्यों को सुविधाऐं प्रदान करने संबंधी समितियां- सामान्य प्रयोजन संबंधी समितियाँ सदन से संबंधित ऐसे मामलों पर विचार करती है जो किसी अन्य संसदीय समिति के अधिकार क्षेत्र में नहीं आते तथा अध्यक्ष सभापति को इस बारे में सलाह देती है, और आवास समिति सदस्यों के लिए आवास तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था करती है। संसद सदस्यों के वेतन और भत्तों संबंधी संयुक्त समिति इस संसद सदस्यों के वेतन, भत्ते एवं पेंशन अधिनियम 1954 के अंतर्गत गठित की गई है। संसद सदस्यों के वेतन, भत्ते एवं पेंशन संबंधी नियम बनाने के अतिरिक्त, यह उनके चिकित्सा, आवास, टेलीफोन, डाक, निर्वाचन क्षेत्र एवं सचिवालय संबंधी सुविधाओं के संबंध में नियम बनाती है।

इसके अतिरिक्त अन्य समितियां भी लोक सभा एवं राज्य सभा में क्रियाशील हैं, जिनमें पुस्तकालय समिति, महिला अधिकारिता समिति, आचार संहिता समिति आदि समितियां शामिल हैं।

7.6 नीति-निर्माण में विधानमंडल की बदलती भूमिका

विधानमंडल का गठन मूलतः विधि निर्माण के लिए होता है परन्तु विधि निर्माण के अतिरिक्त विधान मंडल के अनेक कार्य हैं तथा इसकी शक्तियां भी व्यापक हैं। आधुनिक युग में राज्य का शायद कोई ऐसा क्षेत्र है जहाँ विधानमंडल या विधायिका का प्रभाव या संबंध नहीं हो। विधायिका के प्रमुख कार्यों में प्रशासन की देखरेख, बजट पारित करना, लोक शिकायतों की सुनवाई तथा विभिन्न विषयों यथा विकास योजनाओं, अंतर्राष्ट्रीय संबंध एवं राष्ट्रीय नीतियों पर चर्चा करना शामिल है। कतिपय परिस्थितियों में संसद अनन्य रूप से राज्यों के लिए आरक्षित इसकी परिधि के अंतर्गत आने वाले किसी विषय के संबंध में विधायी शक्ति को ग्रहण कर सकती है। संसद में राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने, उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को संविधान में निर्धारित प्रक्रिया विधि के अनुसार महाभियोग द्वारा हटाने की शक्तियां भी विहित हैं। सभी विधानों के लिए संसद के दोनों सदनों की सहमति आवश्यक है। संविधान में संशोधन आरम्भ करने की शक्ति निहित है।

जैसा अन्य संसदीय लोकतंत्रों में होता है, भारत की संसद के विधायिका के मौलिक कार्य, प्रशासन की देखभाल, बजट पारित करना, लोक शिकायतों की सुनवाई और विभिन्न मुद्दों पर चर्चा करनी होती है जैसे विकास योजनाएं, राष्ट्रीय नीतियां, और अन्तर्राष्ट्रीय संबंध। केन्द्र और राज्यों के बीच अधिकारों का वितरण, जो संविधान में बताए गए हैं, अनेक प्रकार से संसद का सामान्य प्रभुत्व विधायी क्षेत्र पर है। विषयों की एक बड़ी श्रृंखला के अलावा, सामान्य समय में भी संसद कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के तहत उस कार्यक्षेत्र के अंदर आने वाले विषयों के संदर्भ में विधायी अधिकार ले सकती है, जो विशिष्ट रूप से राज्यों के लिए आरक्षित है। संसद को, राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने के अधिकार और उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को हटाने का अधिकार प्राप्त है। इसे संविधान में बताई गई प्रक्रियाविधि के अनुसार उपरोक्त के साथ मुख्य चुनाव आयुक्त और नियंत्रक एवं महालेखाकार को निष्कासित करने का अधिकार प्राप्त है। सभी कानूनों को संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है। वित्त विधेयकों के संदर्भ में यद्यपि लोकसभा की इच्छा मानी जाती है। प्रदत्त विधायन की भी समीक्षा की जाती है और यह संसद के द्वारा नियंत्रित है।

संसदीय लोकतंत्र की परम्पराओं के पालन और उनके संरक्षण के प्रति प्रारंभिक भारतीय सरकारें बेहद गंभीर थी। 1952 से लेकर 1970 के बीच विपक्ष ने भी संसदीय कामकाज को बहुत गंभीरता से लिया गया और भारतीय संसद की विशिष्ट कार्यशैली विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया। शून्यकाल और प्रश्न काल को सरकार की जवाबदेही सुनिश्चित करने के हथियार के रूप में विकसित करने और उसका कारगर इस्तेमाल करने के काम में मधु

लिमये, जॉर्ज फर्नांडिस और ज्योतिर्मय बसु जैसे सांसदों ने विशेष रूप से ख्याति अर्जित की। लेकिन इन दिनों सदन में बढ़ रहे लगातार गतिरोधों से जनता की बुनियादी समस्याओं और देश की राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय नीतियों पर सार्थक चर्चा नहीं हो पाती। लेकिन अब संसद में महत्वपूर्ण और ज्ञानवर्धक चर्चाऐं बहुत कम देखने में आती हैं। इस कारण जनता की निगाह में संसद और सांसदों की प्रतिष्ठा गिरी है। सरकार और उसके विभागों में व्याप्त भ्रष्टाचार संसद में भी प्रवेश कर गया है। कुछ साल पहले 'नोट के बदले वोट' वाले मामले में कई सांसदों की सदस्यता समाप्त की गयी। इसीलिए आज देश में सम्पूर्ण राजनीतिक वर्ग को संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा है।

संसदीय लोकतंत्र में बहुमत का शासन है। संसद के सत्रों में चर्चा का प्रावधान इसीलिए किया गया है ताकि सरकार द्वारा लाये गए विधेयकों पर सार्थक चर्चा द्वारा विपक्ष उनमें संशोधन सुझा सके और तर्कपूर्ण ढंग से सरकार के सामने अपना दृष्टिकोण रखकर उसके नजरिए में बदलाव लाने की कोशिश कर सके।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में संघीय विधान मंडल को किस नाम से जाना जाता है?
2. भारतीय संसद में कितने सदन होते हैं?
3. वर्तमान में कौन सी लोक सभा क्रियाशील है?
4. कोई भी विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं, इसका निर्धारण कौन करता है?
5. भारत सरकार के विनियोग तथा वित्त लेखा और लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट की जांच कौन करती है?

7.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके होंगे कि विधायिका शब्द विधि बनाने वाली सरकारी इकाई के लिये प्रयोग में आता है। नीति-निर्माण प्रक्रिया में सरकार के तीनों अंग- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका, किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होते हैं। कार्यों की प्रकृति एवं सार्वजनिक उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से विधायिका या विधानमंडल तीनों अंगों में सर्वोच्च है। भारतीय संविधान में संसदीय प्रणाली को अपनाया गया है जिसके अनुसार कार्यपालिका एवं विधायिका एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े होते हैं। वस्तुतः विधायिका के सदस्य ही कार्यपालिका का निर्माण करते हैं और कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इन्हीं कारणों से नीति-निर्माण एवं प्रशासन के मध्य एक अटूट रिश्ता हो जाता है। भारतीय संसद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य देश के लिए कानून का निर्माण है। संसद को संघ सूची, समवर्ती सूची तथा विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार है। भारत का राष्ट्रपति संसद का अंग होता है। संसद द्वारा पारित विधेयक तब तक अधिनियम नहीं बनता जब तक कि राष्ट्रपति उस पर अपनी स्वीकृति नहीं देता है। यद्यपि राष्ट्रपति संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं होता, उसे संसद का अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने तथा लोक सभा को भंग करने का अधिकार है। संसद के कार्यों में विविधता तो है साथ ही

उसके पास काम की अधिकता भी रहती है। चूंकि उसके पास समय बहुत सीमित होता है, इसीलिए उसके समक्ष प्रस्तुत सभी विधायी या अन्य मामलों पर गहन विचार नहीं हो सकता है। अत: इसका बहुत सा कार्य समितियों द्वारा किया जाता है। संसद के कार्यों में निरंतर हो रहे परिवर्तन के कारण आप इसकी भूमिका में भी बदलाव पायेंगे।

7.8 शब्दावली

संविधान- कानूनों का संग्रह एवं देश का सर्वोच्च कानून, संविधान संशोधन- संविधान के उपबंधों में आंशिक या पूर्ण परिवर्तन, संवैधानिक प्रधान- शासन व्यवस्था में नाम मात्र का प्रधान, अधिनियम- कानून, प्रावधान- कानूनी व्यवस्था ।

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. संसद, **2.** दो- लोक सभा एवं राज्य सभा, **3.** 16 वीं, **4.** लोक सभा अध्यक्ष **5.** लोक लेखा समिति

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. श्रीराम माहेश्वरी, 2009, भारतीय प्रशासन, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।
2. चार्ल्स ई0 लिंडब्लौम, 1968, द पौलिसी मेकिंग प्रोसेस, इंगलवुड क्लिप्स, एन0 जे0 प्रेन्टिस हॉल, आई0एन0सी0।
3. पॉल एच0 एपेल्बी, 1949, पालिसी एंड एडमिनिस्ट्रेशन, अलबामा यूनिवर्सिटी प्रेस।
4. सुरेन्द्र कटारिया, 2009, प्रशासन एवं लोकनीति, मयूर पेपरबैक्स, नयी दिल्ली।
5. मनोज सिन्हा, 2010, प्रशासन एवं लोकनीति, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली।

7.11 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. आर0 बी0 जैन, 2009, भारतीय प्रशासन में समकालीन मुद्दे, विवेक प्रकाशन, नयी दिल्ली।
2. सी0 बी0 गेना, 2010, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाऐं, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
3. सुषमा यादव एवं राम अवतार शर्मा, 1997, भारतीय राजनीति ज्वलंत प्रश्न, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय,दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

7.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. विधान मंडल के संबंध में विस्तार से समझाइये।
2. नीति-निर्माण में विधानमंडल की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
3. भारत में विधायी प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
4. संसदीय समितियों की उपयोगिता एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।
5. विधायिका की निरंतर बदलती भूमिका पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 8 नीति-निर्माण में न्यायपालिका की भूमिका

इकाई की संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 न्यायपालिका का अर्थ
8.3 भारत में न्यायपालिका एवं उसका स्वरुप
8.4 न्यायपालिका के कार्य
8.5 नीति-निर्माण में न्यायपालिका का प्रभाव
8.6 नीति-निर्माण में न्यायपालिका का महत्व
8.7 न्यायिक समीक्षा
8.8 सारांश
8.9 शब्दावली
8.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.11 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
8.12 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
8.13 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

सामाजिक जीवन को नियंत्रित करने के लिए विधि अर्थात् कानून सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है और इन कानूनों के अनुसार न्याय करने का कार्य न्यायपालिका का है। न्यायपालिका केवल नागरिकों के बीच के विवादों का ही निर्णय नहीं करती अपितु यह उन विवादों पर भी फैसला करती है जो नागरिकों एवं राज्य के मध्य विवादों से उत्पन्न होते हैं। वास्तव में न्यायपालिका का प्रमुख कार्य कानूनों एवं नीतियों के क्रियान्वयन की प्रक्रिया एवं उनके औचित्य को निर्धारित करना है। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था मूलतः निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका पर ही टिकी होती है। प्रस्तुत इकाई में नीति-निर्माण में न्यायपालिका की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त इस इकाई में न्यायपालिका के कार्य, प्रभाव एवं महत्व के बारे में भी आप ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। साथ ही न्यायिक समीक्षा से भी आप परिचित होंगे।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- न्यायपालिका के अर्थ एवं कार्य के बारे में ज्ञान प्राप्त कर पाओगे।
- नीति-निर्माण में न्यायपालिका की भूमिका के बारे में भी जान सकेंगे।
- न्यायपालिका के कार्य, प्रभाव एवं महत्व के बारे में भी आपको ज्ञान प्राप्त होगा।
- न्यायिक समीक्षा के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त करने में सक्षम होंगे।

8.2 न्यायपालिका का अर्थ

न्यायपालिका किसी भी लोकतंत्र के तीन प्रमुख अंगों में से एक है। अन्य दो अंग हैं- कार्यपालिका और व्यवस्थापिका। व्यवस्थापिका राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति कानूनों के रूप में करती है तथा कार्यपालिका इनको कार्य रूप देती है वहीं न्यायपालिका इन कानूनों की व्याख्या करने और इनका उल्लंघन करने वालों को दण्डित करने का कार्य करती है। इस प्रकार सरकार के अंगों में न्यायपालिका का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्थाऐं वास्तव में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका पर ही टिकी होती हैं। नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा करने वाली एक मात्र संरचना होने के कारण जनसाधारण के लिए इसका महत्व अत्यधिक है। लार्ड ब्राइस ने ठीक ही लिखा है "न्यायपालिका राज्य के लिए एक आवश्यकता ही नहीं है, अपितु उसकी क्षमता से बढ़कर सरकार की उत्तमता की कोई कसौटी ही नहीं है।" सबको समान न्याय सुनिश्चित करना है न्यायपालिका का असली काम है।

साधारण अर्थ में कानूनों की व्याख्या करने एवं उनका उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने की संस्थागत व्यवस्था को न्यायपालिका कहा जाता है। यह उन व्यक्तियों का समूह है जिन्हें कानून के अनुसार समाज के विवादों को हल करने का अधिकार प्राप्त होता है। इस अर्थ में न्यायपालिका सरकार का एक विशिष्ट अंग है जिसको कानूनों का पालन कराने के लिए विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। हेरोल्ड लास्की के शब्दों में "एक राज्य की न्यायपालिका अधिकारियों के ऐसे समूह के रूप में परिभाषित की जा सकती है जिसका कार्य राज्य के किसी कानून विशेष के उल्लंघन या तोड़ने सम्बन्धी शिकायत, जो विभिन्न लोगों के मध्य या नागरिकों एवं राज्य के मध्य एक दूसरे के विरुद्ध होती है, का समाधान एवं फैसला करना है।" इस प्रकार न्यायपालिका न्यायिक प्रक्रिया की संरचनात्मक व्यवस्था है। वाल्टन हैमिल्टन के अनुसार "न्यायिक प्रक्रिया न्यायाधीशों के द्वारा मुकदमों का निर्णय करने की मानसिक प्राविधि है।" यह व्यवस्थित कानूनी लड़ाई के लिए की गयी व्यवस्था के अंतर्गत जाँच करने का तरीका है। यह हमेशा मुकदमें के फैसले के बिंदु की तरफ संकेंद्रित होने की प्रवृति रखती है। इस प्रकार न्यायपालिका न्यायिक प्रक्रिया की संरचित व्यवस्था के रूप में समाज के स्थापित कानून को लेकर उठने वाले विवादों के समाधान करने का एक संस्थागत यन्त्र है।

8.3 भारत में न्यायपालिका एवं उसका स्वरुप

विधायिका तथा कार्यपालिका के साथ, न्यायपालिका राज्य के तीन आधारभूत अंगों में से एक है। राज्य के कार्य संचालन में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। यह बात विधि के शासन पर आधारित लोकतंत्र पर और भी अधिक लागू होती है। इसके साथ-साथ संसदीय शासन प्रणाली में शासन की व्यवस्था के तीनों आधार स्तंभ क्रमश: कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका स्वतंत्र होते हैं। 'शक्तियों के पृथक्करण सिद्धान्त' के अनुरूप न्यायपालिका स्वयं कोई नियम नहीं बनाती और न ही यह कानून का क्रियान्वयन कराती है।

किसी भी देश की न्याय व्यवस्था उसके सामाजिक-राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग होती है। न्यायपालिका राज्य की आकांक्षाओं के अनुरूप उसके लक्ष्यों को साकार बनाने में सहायक

होती है तथा उसे सार्थकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। न्यायपालिका की उपयोगिता एवं सार्थकता उस देश की परिस्थितियों एवं जनसंख्या के चरित्र पर निर्भर करती है। आधुनिक न्यायपालिकाओं का संगठन राजनीतिक संस्कृतियों की भिन्नता, ऐतिहासिक परम्परा, राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति आदि कारणों से हरेक देश में भिन्न होता होता है। उदाहरण के तौर पर संघात्मक व्यवस्था की न्यायपालिका अपने संगठनात्मक तौर पर एकात्मक व्यवस्था की न्यायपालिका से अवश्य भिन्न होती है। इसी प्रकार न्यायिक व्यवस्था का संगठन साम्यवादी तथा स्वेच्छाचारी राजनीतिक व्यवस्थाओं में भिन्न होता है। संविधान की प्रकृति भी न्यायिक व्यवस्था के स्वरुप को निर्धारित करती है। सामान्य तौर पर न्यायपालिका का संगठन पिरामिड की भांति होता है जिसके शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय स्थित होता है। अलग सामान्य एवं प्रशासकीय न्यायालय व्यवस्था का अस्तित्व, पीठ व्यवस्था, विशेषीकृत न्यायालय व्यवस्था इसकी अन्य विशेषताऐं हैं।

भारत में संविधान द्वारा संवैधानिक प्रजातंत्र की स्थापना की गयी है, जिसमें शक्तियों का विभाजन न केवल कार्यात्मक दृष्टि से बल्कि भौगोलिक दृष्टि से भी किया गया है। संविधान द्वारा परिकल्पित सामाजिक कल्याणकारी राज्य में, राज्य को जनता के कल्याण के लिए अनेक दायित्वों का निर्वाह करना होता है। राज्य की भूमिका के इस विस्तार के कारण विविध क्षेत्रों में कानून निर्माण की आवश्यकता पड़ी है जिससे न्यायपालिका की भूमिका में भी तदनुरूप(के अनुसार) वृद्धि हो गई है। आज न्यायपालिका केवल नागरिकों के आपसी विवाद ही नहीं अपितु नागरिक और राज्य के बीच के विवादों का भी निपटारा करती है। जिन विवादों का निर्णय करना अपेक्षित है, उनके बदलते स्वरूप के कारण ही विशेष न्यायालयों और अधिकरणों की स्थापना करनी पड़ी है। आज पारिवारिक विवाद, कराधान दुर्घटनाजन्य दावे, श्रम विवाद, सरकारी कर्मचारी, उपभोक्ता संरक्षण, एकाधिकार और अवरोधक व्यवहार आदि से संबंधित प्रश्नों के लिए देश में कई ऐसे विशेष न्यायालय एवं अधिकरण कार्यरत हैं। न्यायपालिका के अन्तर्गत एक सर्वोच्च न्यायालय स्थापित है एवं उसके अधीन विभिन्न न्यायालय होते हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल से विधि और न्यायपालिका ने भारत की राज्य व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों में इसके महत्त्व को स्वीकार किया गया है। हमारे संविधान में विधायी तथा प्रशासनिक कार्यवाही की न्यायिक समीक्षा करने की शक्ति न्यायपालिका को प्रदान की गई है। संविधान में प्रत्याभूत मूल अधिकारों के प्रवर्तन का कार्य न्यायपालिका को सौंप कर न्यायपालिका को एक गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। भारत की स्वतंत्र न्यायपालिका का शीर्ष सर्वोच्च न्यायालय है जिसका प्रधान, प्रधान न्यायाधीश होता है। सर्वोच्च न्यायालय को अपने नये मामलों तथा उच्च न्यायालयों के विवादों, दोनों को देखने का अधिकार है। भारत में 22 उच्च न्यायालय हैं, जिनके अधिकार और उत्तरदायित्व सर्वोच्च न्यायालय की अपेक्षा सीमित हैं। सर्वोच्च न्यायालय को अन्तिम न्याय-निर्णयन का अधिकार प्राप्त है। प्रत्येक राज्य या कुछ समूह पर उच्च न्यायालय गठित हैं।

उच्च न्यायालय के तहत श्रेणीबद्ध अधीनस्थ न्यायालय हैं। कुछ राज्यों में पंचायत न्यायालय का भी गठन किया गया है। ये न्यायालय अलग-अलग नामों यथा- न्याय पंचायत, पंचायत अदालत, ग्राम कचहरी आदि से काम करते हैं। प्रत्येक राज्य में जिला स्तरों पर जिला न्यायालय स्थापित किये गये हैं। इसके अध्यक्ष जिला एवं सत्र न्यायाधीश होते हैं, जो जिले का सर्वोच्च न्यायिक अधिकारी होता है। जिला न्यायालय मूल अधिकार क्षेत्र के प्रमुख दीवानी न्यायालय होते हैं। इन न्यायालयों में मृत्युदण्ड दिये जा सकने वाले अपराधों तक की सुनवाई होती है। इसके अधीन दीवानी न्यायालय होता हैं, जिसे विभिन्न राज्यों में मुंसिफ न्यायालय कहा जाता है। फौजदारी न्यायालयों में मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट होते हैं। इन सबके अतिरिक्त देश में विभिन्न अधिकरण तथा आयोग भी स्थापित किये गये हैं, जो कि पारम्परिक न्यायालय भले ही न हों, परन्तु वे विधिक प्रक्रिया द्वारा अनेक विवादों को हल करने में सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

संविधान के भाग-3 में व्यक्तियों तथा नागरिकों को कुछ मूल अधिकार सौंपे गये हैं। विधायिका एवं कार्यपालिका पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि वे ऐसा कानून न बनायें, जो मूल अधिकारों का उल्लंघन करें। स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना करके यह दायित्व उस पर सौंपा गया कि यदि राज्यों द्वारा मूल अधिकारों का उल्लंघन किया जाता है, तो वह मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराये। इस प्रकार न्यायपालिका मूल अधिकारों की रक्षक भी है।

इसके साथ ही भारत में स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना भी की गयी है। भारत का संविधान लिखित है जिसके अनुसार केन्द्र तथा राज्य सरकारों के मध्य शक्तियों का स्पष्ट विभाजन हुआ है। इस विभाजन को स्पष्ट करना स्वाभाविक है, जिसके लिए स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना करके संविधान की व्याख्या करने का अधिकार उसे दिया गया है। संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया है लेकिन इन दोनों के मध्य विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। इन विवादों को न्यायिक ढंग से निबटाने के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका की आवश्यकता थी। भारत में न्यायपालिका को स्वतंत्र रूप से कार्य करने का अवसर प्रदान करने के लिए संविधान में कुछ ऐसे प्रावधान किये गये हैं, जिससे न्यायाधीशों को विधानमण्डलों या कार्यपालिका के प्रत्यक्ष प्रभाव से मुक्त रखा जा सके। संविधान में न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए निम्नलिखित प्रावधान किये गये हैं-

1. सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को नियुक्त करने का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है, लेकिन न्यायाधीशों को पद से हटाने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त नहीं है। संविधान के अनुसार इन न्यायालयों के किसी भी न्यायाधीश को राष्ट्रपति तब तक पदमुक्त नहीं कर सकता है, जब तक संसद के दोनों सदन अपने सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से किसी न्यायाधीश को पदमुक्त करने का प्रस्ताव पारित कर दें। पदमुक्त करने की इस प्रक्रिया के कारण यह सम्भावना कम हो जाती है कि किसी

न्यायाधीश को राजनीतिक कारणों या दलीय आधार पर आसानी से पदमुक्त किया जा सके।

2. यद्यपि उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को राष्ट्रपति मंत्रीपरिषद की सलाह से नियुक्त करता है, लेकिन इन न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति को राजनीति के क्षेत्र से अलग करके यह अपेक्षा की गयी है कि राष्ट्रपति न्यायाधीशों को नियुक्त करते समय भारत के मुख्य न्यायाधीश से सम्पर्क करें। 16 अक्टूबर, 1993 को उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयों के अनुसार न्यायाधीशों को नियुक्त करते समय राष्ट्रपति को भारत के मुख्य न्यायाधीश की राय को वरीयता देना चाहिए और यदि किसी कारण से भारत के मुख्य न्यायाधीश की राय को वरीयता न दी जाए, तो उस कारण की सूचना मुख्य न्यायाधीश को दी जानी चाहिए।
3. संविधान के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पदमुक्त होने के बाद सरकार के अधीन किसी पद को ग्रहण नहीं कर सकते हैं, या अधीनस्थ न्यायालयों में वकालत नहीं कर सकते हैं। पदमुक्त होने के बाद इस प्रकार के नियोजन की आशा से अप्रत्यक्ष रूप से न्यायाधीश की स्वतंत्रता कम होती है और वह कार्यपालिका के असर में आ जाता है।
4. न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुरक्षित करने के लिए संविधान में यह प्रावधान करके न्यायाधीशों को आर्थिक संरक्षण प्रदान किया गया है कि न्यायाधीशों के वेतन तथा सेवा शर्तों आदि का निर्धारण संसद द्वारा किया जाएगा, लेकिन किसी भी न्यायाधीश के वेतन तथा सेवा शर्तों आदि में उसके पदावधि के दौरान कोई ऐसा परिवर्तन नहीं किया जाएगा, जिससे उसे हानि हो। इसका तात्पर्य यह है कि न्यायाधीशों के वेतन तथा सेवा शर्तों आदि में परिवर्तन करने की धमकी देकर उनसे कोई इच्छित कार्य नहीं कराया जा सकता।
5. सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय का अपना संगठन पृथक होता है, जिसके लिए कर्मचारियों की नियुक्ति तथा उनकी सेवा शर्तें आदि को निर्धारित करने का अधिकार सम्बन्धित न्यायालयों को होता है। इस स्वतंत्रता के कारण सरकार या संसद न्यायालयों के स्थापना के सम्बन्ध में हस्तक्षेप नहीं कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त इन न्यायालयों को अपनी आन्तरिक प्रक्रिया को भी विनियमित करने का अधिकार है।
6. सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को राजनीतिक प्रभाव से मुक्त रखने के लिए संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि इन न्यायालयों के न्यायाधीशों के आचरण के विषय में संसद में कोई चर्चा उस न्यायाधीश को हटाने के समावेदन को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करने के प्रस्ताव पर ही होगी और अन्यथा नहीं।

7. न्यायालयों की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने के लिए संविधान में यह प्रावधान भी किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय के प्रशासनिक व्यय और इन न्यायालयों में कार्यरत न्यायाधीशों और अन्य कर्मचारियों को वेतन, भत्ते आदि भारत की संचित निधि से दिये जायेंगे और संसद उन पर मतदान नहीं कर सकती।

सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने के लिए संविधान में अनुच्छेद 124(4) में 'महाभियोग' का प्रावधान किया गया है। इसके अनुसार किसी न्यायाधीश को उसके पद से तब तक नहीं हटाया जाएगा, जब तक कदाचार या असमर्थता के आधार पर ऐसे हटाए जाने के लिए संसद के प्रत्येक सदन द्वारा अपनी कुल संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा तथा समर्थित प्रस्ताव राष्ट्रपति के समक्ष उसी सत्र में रखे जाने पर राष्ट्रपति ने आदेश नहीं दे दिया है। संविधान के द्वारा संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी न्यायाधीश के विरुद्ध संसद के समक्ष प्रस्ताव के रखे जाने की तथा न्यायाधीश के कदाचार या असमर्थता की जाँच और साबित करने की प्रक्रिया का विधि द्वारा विनियमन कर सकती है। संसद ने इस अधिकार का प्रयोग करके न्यायाधीश (जाँच) अधिनियम 1968 को अधिनियमित किया है। इस अधिनियम की धारा 3 में न्यायाधीशों के विरुद्ध प्रस्ताव रखने की प्रक्रिया वर्णित की गयी है।

8.4 न्यायपालिका के कार्य

न्यायपालिका के कार्य विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में अलग-अलग होते हैं। संविधान की प्रकृति, राज व्यवस्था का स्वरुप, राजनीतिक सत्ता की संरचनात्मकता एवं स्वयं न्यायपालिका का संगठन, शक्तियों एवं कार्य प्रणाली से न्यायपालिका के कार्यों का निरूपण होता है। संविधान का लिखित या अलिखित होना एवं उसकी कठोरता एवं लचीलापन भी न्यायपालिका के कार्यों का निर्धारक बन जाता है। न्यायपालिका सम्प्रभु राज्य की ओर से कानून की व्याख्या करता है एवं कानून के अनुसार न चलने वालों को दण्डित करती है। इस प्रकार न्यायपालिका विवादों को सुलझाने एवं अपराध कम करने का काम करती है जो अप्रत्यक्ष रूप से समाज के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है।

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका लोकतंत्र के तीन स्तम्भ अवश्य हैं, परन्तु इन स्तम्भों की स्थिति और स्वरूप एक समान नहीं है। तीनों का स्थान समानांतर धरातल पर नहीं है। कानून बनाना संसद का प्रमुख काम माना जाता है। इसके लिए पहल अधिकांशतया कार्यपालिका द्वारा की जाती है। सरकार विधायी प्रस्ताव पेश करती है। उस पर चर्चा तथा वाद-विवाद के पश्चात संसद उस पर अनुमोदन की अपनी मुहर लगाती है। यद्यपि भारत में इंग्लैंण्ड की संसदीय शासन प्रणाली के आधार पर संसदीय सरकार की स्थापना की गयी है। लेकिन इंग्लैंण्ड, जहाँ संसदीय सर्वोच्चता को मान्यता दी गयी है, के विपरीत भारत में संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। भारत में संविधान को देश की मौलिक विधि माना जाता है और यह केन्द्र तथा राज्य सरकारों की राजनीतिक सत्ता का स्रोत तथा नागरिकों

के अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्धारक है। सर्वोच्च न्यायालय संविधान का रक्षक है और यह सरकार द्वारा या किसी अन्य शक्ति द्वारा संविधान के प्रावधानों के उल्लंघन को रोकता है। भारत के संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार प्रदान किया गया है, जिसके द्वारा ये न्यायालय केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा बनाये गये कानूनों की संवैधानिकता का परीक्षण करते हैं। यदि इस परीक्षण के परिणामस्वरूप कोई कानून जो विधायिका के द्वारा और कार्यपालिका द्वारा निर्मित हो, संविधान के किसी प्रावधान के विरुद्ध पाया जाता है तो न्यायालय उसे अमान्य कर सकते हैं। इस प्रकार भारत में विधायिका या कार्यपालिका केवल उन्हीं विषयों पर कानून बना सकती है जो कि संविधान द्वारा उन्हें सौंपे गये हैं और यदि वे इसके विपरीत कानून का निर्माण करते हैं तो न्यायालय ऐसे कानून को असंवैधानिक करार कर उसको लागू किये जाने से रोक सकती है। इस प्रकार मोटे तौर पर न्यायपालिका के कार्यों को दो भागों में बांटा जा सकता है: पहला- राजनीतिक पद्धति सम्बन्धी कार्य एवं दूसरा- न्यायिक पद्धति सम्बन्धी कार्य।

आम लोगों में अपने अधिकारों के प्रति बढ़ती जागरूकता के कारण मुकदमों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई है और उसके फलस्वरूप न्यायालयों द्वारा न्याय प्रदान करने में विलम्ब होता है। इसने विवादों के त्वरित अधिनिर्णयन के लिए वैकल्पिक साधन ढूंढ़ने की आवश्यकता को जन्म दिया है। ऐसा ही एक साधन लोक अदालतों का है जिसमें विवादी पक्ष न्यायालयों में लंबित मामलों को परस्पर सहमति से सुलझा सकते हैं। यह साधन काफी सफल सिद्ध हुआ है।

8.5 नीति-निर्माण में न्यायपालिका का प्रभाव

नीति का निर्माण या निर्धारण एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। गतिशीलता एवं लचीलापन दोनों, नीतियों के प्राण तत्व हैं। नीति निर्धारण भी निरंतर चलने वाला दायित्व है जिसमें पूरी राजनीतिक व्यवस्था शामिल होती है। नीति-निर्माण के एक जटिल प्रक्रिया होने के कारण शासन या सरकार के सभी अंग इसमें सक्रिय भूमिका निभाते हैं। समय-समय पर न्यायपालिका द्वारा किये गए फैसले नीति-निर्माण में मार्गदर्शक सिद्ध होते हैं। विभिन्न मसलों पर न्यायपालिका का सुझाव भी लोक नीतियों को प्रभावित करते हैं। संवैधानिक नीतियों की व्याख्या करने का अधिकार न्यायपालिका को है तथा उसे अंतिम माना जाता है। न्यायालय किसी नीति का उचित क्रियान्वयन नहीं होने पर क्रियान्वयन के लिए आवश्यक आदेश दे सकता है। वर्तमान युग न्यायिक सक्रियता का युग है जिसमे नीति-निर्माण एवं क्रियान्वयन में न्यायपालिका की भूमिका में निरंतर वृद्धि हो रही है।

अक्सर गरीबी, निरक्षरता अथवा सामाजिक एवं आर्थिक विपन्नता के कारण अनेक लोग न्याय के लिए न्यायालयों तक नहीं पहुँच पाते थे। ऐसे लोगों को राहत प्रदान करने के विचार से न्यायालयों ने प्रक्रिया के सामान्य नियमों को शिथिल करके स्वैच्छिक संगठनों या सामाजिक कार्यवाही समूहों या व्यक्तिगत सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी इन लोगों की ओर से न्यायालय में गुहार करने और उन्हें राहत दिलाने की अनुमति प्रदान की है। वाद की यह शाखा, जिसे

लोक हित वाद कहा जाता है, समाज के दुर्बल असंगिठत, एवं शोषित वर्गों को न्याय दिलाने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई है।

कई बार न्यायालय के फैसले के पक्ष में नीतियाँ बनती हैं तो कई बार न्यायालय के फैसले को निरस्त एवं निष्प्रभावी बनाने के लिए भी नीतियाँ बनती हैं। फैसलों को निरस्त करने के लिए संविधान में संशोधन भी किया जा सकता है। 'शाहबानो मामला' इस तरह के संशोधन का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। हालाँकि संविधान में हुए संशोधन को भी वैध या अवैध करार ठहराने का अंतिम अधिकार सर्वोच्च न्यायालय के पास ही है।

8.6 नीति-निर्माण में न्यायपालिका का महत्व

भारतीय राजव्यवस्था में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त प्रभावी है जिसके तहत संविधान में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र की लक्ष्मण रेखा साफ-साफ खींच दी गई है। इसके अनुसार कानून बनाना विधायिका का काम है। इसे लागू करना कार्यपालिका का और विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों के संविधान सम्मत होने की जांच करना न्यायपालिका का काम है। नीति-निर्माण में न्यायपालिका की विशिष्ट महत्व है। संघात्मक शासन व्यवस्था में इसकी भूमिका अति महत्वपूर्ण हो जाती है। कानून की व्याख्या, संविधान की रक्षा, कानून निर्माण, विवादों पर निर्णय, परामर्श एवं प्रशासकीय कार्य इसकी भूमिका को इंगित करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय संविधान का रक्षक है और यह सरकार द्वारा या किसी अन्य शक्ति द्वारा संविधान के प्रावधानों के उल्लंघन को रोकता है। भारत में विधायिका या कार्यपालिका केवल उन्हीं विषयों पर क़ानून बना सकती हैं जो कि संविधान द्वारा उन्हें सौंपे गये हैं और यदि वे इसके विपरीत कानून का निर्माण करते हैं, तो न्यायालय ऐसे कानून को असंवैधानिक करार कर उसको लागू किये जाने से रोक सकती है। संविधान में विधायी तथा प्रशासनिक कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा करने की शक्ति न्यायपालिका को प्रदान की गई है। संविधान में प्रत्याभूत मूल अधिकारों के प्रवर्तन का कार्य न्यायपालिका को सौंप कर न्यायपालिका को एक गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

इस प्रकार सरकार के अंगों में न्यायपालिका का महत्वपूर्ण स्थान है। लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्थाऐं वास्तव में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका के भरोसे ही टिकी होती हैं। नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा करने में एक मात्र संरचना होने के कारण जनसाधारण के लिए इसका महत्व अत्यधिक है। स्पष्ट रूप से न्यायपालिका का महत्व बढ़ जाता है। संघीय व्यवस्था का सफल संचालन न्यायपालिका की कार्य क्षमता पर टिकी है।

8.7 न्यायिक समीक्षा

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में शासन व्यक्ति विशेष या व्यक्ति समूह की इच्छाओं के अनुसार नहीं चलकर विधि के अनुसार निष्पादित होती है। विधानमंडल का गठन मूलतः विधि निर्माण के लिए होता है परन्तु विधि निर्माण के अतिरिक्त विधान मंडल के अनेक कार्य हैं तथा इसकी शक्तियां भी व्यापक हैं। परन्तु संविधान के संरक्षक होने के नाते न्यायपालिका का यह कर्तव्य है कि विधान मंडल का कोई भी कानून देश के मौलिक एवं सर्वोच्च कानून संविधान की मूल

भावना के विपरीत न हो। न्यायिक समीक्षा या न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालय की वह शक्ति है जिसके द्वारा न्यायालय कानूनों की संवैधानिकता की जांच कर सकता है। मैक्रीडिस एवं ब्राउन के अनुसार "न्यायिक पुनर्विलोकन का आशय न्यायाधीशों की उस शक्ति से है जिसके अधीन वे उच्चतर कानून के नाम पर संविधियों तथा आदेशों की व्याख्या कर सकें तथा संविधान के विरुद्ध पाने पर उसे अमान्य ठहरा सकें।" इनसाइक्लोपिडिया ब्रिटानिका ने इसे और स्पष्ट किया है । इसके अनुसार "न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालयों की वह शक्ति है जिसके द्वारा न्यायालय किसी देश की सरकार की विधायी, कार्यकारी और प्रशासकीय अंगों के कार्यों का परीक्षण करता है तथा यह देखता है कि वे संविधान के प्रावधानों के अनुकूल हैं।" एच.जे. अब्राहम के शब्दों में "न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालय की वह शक्ति है जो किसी भी कानून या सरकारी कार्य को असंवैधानिक घोषित कर सकती है तथा उसके प्रयोग को रोक सकती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि न्यायपालिका को विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों की जांच की शक्ति प्राप्त है। यह संविधान का संरक्षक भी है। अमेरिका में सर्वप्रथम 1803 ई. में मारबरी बनाम मैडिसन मुकदमें में मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने न्यायिक समीक्षा या न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। न्यायाधीश मार्शल के अनुसार न्यायालय कानून की वैधानिकता की जांच कर सकता है। न्यायिक समीक्षा के लिए कुछ पूर्व शर्ते आवश्यक हैं:

1. लिखित एवं दुष्परिवर्तनशील संविधान।
2. स्वतंत्र एवं सर्वोच्च न्यायपालिका।
3. पृथक निकाय के रूप में न्यायपालिका की स्थापना।
4. न्याय योग्य मौलिक अधिकारों की व्यवस्था तथा सरकार की सत्ता पर युक्तिमूलक सीमायें लगाये जाने का प्रावधान।

यह आवश्यक नहीं है कि उपरोक्त शर्तें पूर्णरूपेण विद्यमान हों किन्तु कम या अधिक मात्र में इनकी व्यवस्था अनिवार्य है अन्यथा न्यायिक समीक्षा की व्यवस्था सैद्धान्तिक बनकर रह जाएगी।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत न्यायिक समीक्षा शब्दावली का प्रयोग कहीं भी नहीं मिलता है फिर भी अनुच्छेद 13 के प्रावधानों के अनुसार इसका अस्तित्व उजागर होता है। संविधान के भारत में लागू होते ही न्यायिक समीक्षा और संसदीय सम्प्रभुता के विवाद सामने आने शुरू हो गए थे। भिन्न-भिन्न सरकारों में यह संकट चलता रहा, फलस्वरूप मूल अधिकार बनाम राज्य के नीति निर्देशक तत्व की प्राथमिकता का बिन्दु लगातार सुर्खियों में रहा। भारतीय संविधान में न्यायालयों को न्यायिक समीक्षा का अधिकार इस प्रकार से दिया गया है जिससे इससे होने वाले लाभों की प्राप्ति हो सके किन्तु अमेरिका में इसकी व्यवस्था से जो कठिनाइयां उत्पन्न होती है उससे बचा जा सके। भारत में 'कानून की उचित प्रक्रिया' के स्थान पर 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' को स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट है कि भारत के संविधान निर्माता एक ओर तो न्यायालयों को स्पष्ट रूप से न्यायिक समीक्षा का अधिकार प्रदान करते हैं वहीं दूसरी

ओर उनके अधिकार को सीमित रखते हैं जिससे न्यायलय केवल कानून की शाब्दिक व्याख्या कर सके और कानून की अच्छाई-बुराई के पक्ष में नहीं आ सकें। संपत्ति के मूल अधिकार के अर्थ एवं सीमाओं के निर्धारण से शुरू हुआ न्यायपालिका बनाम विधायिका विवाद लगातार राजनीति से प्रभावित होता रहा है। श्रीमती गाँधी के कार्यकाल में 24वां संविधान संशोधन न्यायपालिका के इस अधिकार को न्यून(कम) करने का एक प्रयास था। केशवानंद भारती मुकदमें एवं मिनर्वा मिल्स मुकदमे में न्यायपालिका ने अपने अधिकार को बनाये रखने का प्रयास किया।

इस सन्दर्भ में सर्वोच्च न्यायालय ने एक महत्वपूर्ण निर्णय में यह कहा है कि संसद और विधानसभा के अध्यक्ष के निर्णय की न्यायिक समीक्षा की जा सकती है। निर्णय में स्पष्ट किया गया कि उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय संसद और विधानसभा सदस्यों की अयोग्यता से संबंधित अध्यक्ष के आदेश की न्यायिक समीक्षा कर सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय में दिए गए कारणों में बताया कि संसद और विधानसभा के अध्यक्ष संविधान की दसवीं अनुसूची में सदस्यों की अयोग्यता के बारे में अर्ध न्यायिक प्राधिकरण की तरह फैसला करते हैं। ऐसे में उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय उसके अंतिम आदेश की न्यायिक समीक्षा कर सकते हैं। न्यायाधीशों की राय में कानूनन यह तय है कि अध्यक्ष का अंतिम आदेश संविधान में उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय को मिले अधिकार पर रोक नहीं लगाता है। उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय अनुच्छेद 32 एवं 136 तथा उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 के तहत अध्यक्ष के आदेश की न्यायिक समीक्षा कर सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय को इन अनुच्छेदों में विशेष सन्निहित शक्तियां दी गई हैं। शीर्ष अदालत ने इसके साथ ही कहा है कि उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय संसद और विधानसभा सदस्यों की अयोग्यता के बारे में स्पीकर के आदेश की न्यायिक समीक्षा कर सकते हैं। अदालत ने इस आदेश से विधायिका व न्यायपालिका के बीच अधिकारों की नयी बहस छेड़ दी है। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि लोकसभा अध्यक्ष द्वारा सदन में लिए गए फैसले की न्यायिक समीक्षा नहीं हो सकती। सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार ''सभा अध्यक्ष द्वारा सदन के कक्ष में दी गई व्यवस्था न्यायिक समीक्षा के अधीन नहीं होती।''

अभ्यास प्रश्न-

1. कानून के अनुसार न्याय करने का कार्य शासन के किस अंग का है?
2. लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था मूलतः किस पर ही टिकी होती है?
3. भारत की स्वतंत्र न्यायपालिका के शीर्ष पर कौन स्थित है?
4. संविधान का संरक्षक कौन है?
5. किस अमेरिकी न्यायाधीश ने न्यायिक समीक्षा या न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था?

8.8 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके होंगे कि नीति निर्माण प्रक्रिया में सरकार के तीनो अंग- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होते हैं। कार्यों की प्रकृति एवं उत्तरदायित्व की दृष्टि से न्यायपालिका की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। न्यायपालिका के कार्यों में निरंतर हो रहे परिवर्तन के कारण राजनीतिक व्यवस्था का यह अंग कभी सक्रिय हुआ है। भारत में स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना भी की गयी है। भारत का संविधान लिखित है जिसके अनुसार केन्द्र तथा राज्य सरकारों के मध्य शक्तियों का स्पष्ट विभाजन हुआ है। इस विभाजन को स्पष्ट करना स्वाभाविक है, जिसके लिए स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना करके संविधान की व्याख्या करने का अधिकार उसे दिया गया है। संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया है, लेकिन इन दोनों के मध्य विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। इन विवादों को न्यायिक ढंग से निबटाने के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका की आवश्यकता थी।

8.9 शब्दावली

संविधान- कानूनों का संग्रह एवं देश का सर्वोच्च कानून, न्यायिक प्रक्रिया न्यायालयों की स्थापित व्यवस्था के माध्यम से न्याय प्रशासन की विभिन्न अवस्थाऐं जिनमें शक्ति, अधिनियम और प्रशासनिक नियमों का पालन किया जाता है।, संवैधानिक प्रधान- शासन व्यवस्था में नाम मात्र का प्रधान, अधिनियम- कानून, प्रावधान- कानूनी व्यवस्था

8.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. न्यायपालिका का, **2.** निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका पर, **3.** सर्वोच्च न्यायालय, **4.** सर्वोच्च न्यायालय, **5.** न्यायाधीश मार्शल (1803 ई. में)

8.11 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. दुर्गा दास बसु ,2010 ,भारतीय संविधान का परिचय, प्रेन्टिस हॉल, नयी दिल्ली।
2. जे.सी.जौहरी, 2013, भारतीय शासन एवं राजनीति, विशाल, दिल्ली।
3. अमरजीत सिंह नारंग, 2013, भारतीय शासन एवं राजनीति, गीतांजलि, नयी दिल्ली।
4. सुषमा यादव एवं राम अवतार शर्मा, 1997, भारतीय राजनीति ज्वलंत प्रश्न, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय,दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

8.12 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. श्रीराम माहेश्वरी, 2009, भारतीय प्रशासन, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली।
2. सी.बी.गेना, 2010, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाऐं, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
3. सुरेन्द्र कटारिया, 2009, प्रशासन एवं लोकनीति, मयूर पेपरबैक्स, नयी दिल्ली।

8.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. न्यायपालिका से आप क्या समझते हैं?

2. भारत में न्यायपालिका एवं इसके स्वरुप का विश्लेषण कीजिये।
3. न्यायपालिका के कार्यों का वर्णन कीजिए।
4. नीति- निर्माण में न्यायपालिका की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
5. न्यायिक समीक्षा क्या है? इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 9 विभिन्न अंगों के बीच अन्तःक्रिया

इकाई की संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 राजनीतिक एवं स्थायी कार्यपालिका
9.3 संसद एवं स्थायी कार्यपालिका
9.4 संसद एवं राजनीतिक कार्यपालिका
9.5 संसद एवं न्यायपालिका
9.6 कार्यपालिका एवं न्यायपालिका
9.7 सारांश
9.8 शब्दावली
9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
9.11 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
9.12 निबंधात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

किसी देश के सामाजिक-आर्थिक रुपान्तरण में लोकनीतियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। लोकनीतियों का निर्माण सरकार का एक महत्वपूर्ण कार्य है। नीति-निर्माण के एक जटिल प्रक्रिया होने के कारण इसमें सरकार के विभिन्न अंग एवं अन्य गैर-सरकारी माध्यम सशक्त भूमिका अदा करते हैं। सरकार के तीनों अंग- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका किसी न किसी रूप में नीति-निर्माण प्रक्रिया में सम्बद्ध होते हैं। प्रजातंत्र की निरन्तरता के लिए आवश्यक है कि राज्य की शक्तियों का विभाजन कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका के मध्य किया जाए। साथ ही तीनों अंगों का पास्परिक सहयोग एवं समर्थन किसी भी नीति के निर्माण हेतु अत्यावश्यक है। तीनों अंग के कार्यप्रणाली में टकराव की अपेक्षा सहयोग अधिक दिखता है। यदि टकराव की आशंका उत्पन्न होती है तो उसे भी आसानी से सुलझाने के प्रयास होते हैं। प्रस्तुत इकाई में नीति-निर्माण में शासन के तीनों अंग- कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका के पास्परिक अंतःक्रिया का विश्लेषण किया गया है।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राजनीतिक कार्यपालिका एवं स्थायी कार्यपालिका के सम्बन्ध के बारे में जान पाओगे।
- नीति-निर्माण में संसद एवं स्थायी कार्यपालिका की भूमिका के बारे में भी जान सकेंगे, साथ ही इनके अन्तःसम्बन्धों का भी ज्ञान प्राप्त होगा।

- संसद एवं राजनीतिक कार्यपालिका के सम्बन्ध के बारे में भी जानकारी जुटाने में सक्षम होंगे।
- संसद एवं न्यायपालिका के परस्पर सम्बन्ध के बारे में भी ज्ञान प्राप्त होगा।
- कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के बीच अंतःक्रिया का भी ज्ञान होगा।

9.2 राजनीतिक एवं स्थायी कार्यपालिका

नीति-निर्माण को लोक प्रशासन का केंद्रीय तत्व माना गया है। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका लोकतंत्र के तीन स्तंभ हैं। इनमें कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जिसका कार्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों का क्रियान्वयन करना है। किसी भी देश की शासन व्यवस्था उसके राजनीतिक जीवन का अभिन्न अंग होती है। यह राज्य की नीतियों को लागू कर उसके लक्ष्यों को साकार बनाती है तथा उसे सार्थकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। राजनीतिक कार्यपालिका प्रत्येक देश के लोक प्रशासन का शीर्षस्थ अभिकरण है। यह प्रशासन के राजनीतिक अध्यक्ष के रूप में समस्त प्रशासन का निर्देशन, पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण करती है। यह सभी प्रशासनिक अभिकरणों को नेतृत्व प्रदान करती है। विविध इकाईयों के मध्य समन्वय भी स्थापित करती है। प्रशासनिक कार्यकुशलता एवं मितव्ययिता इस पर ही निर्भर करती है। कार्यपालिका का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है: व्यापक अर्थ में, कार्यपालिका के अंतर्गत वे सभी अधिकारी एवं कर्मचारी आते हैं जिनका सम्बन्ध प्रशासन से होता है। संकुचित अर्थ में, कार्यपालिका के अंतर्गत वे राजनीतिक अधिकारीगण आते हैं जिनका सम्बन्ध नीति-निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन से होता है। इस सन्दर्भ में व्यापक चर्चा इकाई 5 एवं 6 में की जा चुकी है। भारत में संसदीय शासन व्यवस्था होने के कारण लोक नीति-निर्माण की केन्द्रीय धुरी मंत्रीमंडल है, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है। वस्तुतः प्रधानमंत्री केंद्रीय कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होता है। राष्ट्रपति मंत्रीमंडल की सलाह से कार्य करता है तथा उसकी भूमिका नाममात्र के प्रधान की होती है। समय के उभरते प्रतिमानों के फलस्वरूप संसदीय प्रणाली मंत्रीमंडलीय प्रणाली के बाद अब प्रधानमंत्रीय प्रणाली में परिवर्तित हो चुकी है। वास्तविकताओं के आधार पर ही सर्वप्रथम आइवर जेंनिंग्स ने संसदीय प्रणाली को कैबिनेट या मंत्रीमंडलीय प्रणाली की संज्ञा दी थी। आर.एच.एस.क्रॉस्मैन ने प्रधानमंत्री पद की महत्ता को देखते हुए संसदीय प्रणाली को प्रधानमंत्रीय प्रणाली कहा। स्पष्ट रूप से जमीनी हकीकत प्रधानमंत्री एवं उसके मंत्रीमंडल की निर्णायक भूमिका को इंगित करते हैं। आपने पाया होगा कि राजनीतिक कार्यपालिका एवं स्थायी कार्यपालिका का नीति-निर्माण में सम्बन्ध गुणात्मक एवं परिमाणात्मक दोनों है। प्रशासन अनिवार्यतः कार्यपालिका से जुड़ा होता है। अतः कार्यपालिका नीति-निर्माण से सम्बन्धित जो भी काम करती है उसका आधार अधिकारी तंत्र ही होता है।

पहले के पुलिस राज्य के स्थान पर कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के उदय, इसके परिणामस्वरूप सरकार की गतिविधियों और दायित्वों में अप्रत्याशित वृद्धि तथा सरकार के कार्यों की तकनीकी प्रकृति ने अधिकारी तन्त्र अर्थात् नौकरशाही को प्रशासन का भी

अपरिहार्य तत्व बना दिया है। एक बार नीतियों का जब निर्माण कार्यपालिका द्वारा हो जाता है तो उसके बाद यह नौकरशाही की जबाबदेही हो जाती हो जाती है कि उसे वह उसी रूप में क्रियान्वित करे भले वह उससे सहमत हो या नहीं। नौकरशाही सरकार द्वारा निर्मित कानूनों को लागू करती है और कार्यक्रमों को क्रियान्वित भी करती है। निष्पक्षता एवं सच्चरित्रता के साथ नौकरशाही इन क्रियाकलापों को सम्पादित करती है। लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के पश्चात इसके कार्यों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है तथा इसकी भूमिका का विस्तार हुआ है। निष्पक्षता की जगह वचनबद्ध नौकरशाही अर्थात् सत्तारूढ़ दल के कार्यक्रमों के प्रति समर्पित नौकरशाही ने जगह बनाई है। इसके साथ ही नौकरशाही की सक्रियता राजनीतिक मामलों में भी बढ़ी है। आज के परिदृश्य में नीति-निर्माण राजनीतिक कार्यपालिका का ही एकमात्र अधिकार क्षेत्र नहीं रहा। तकनीकी एवं वैज्ञानिक प्रगति के इस काल में स्थायी कार्यपालिका नीतियों के विकल्पों एवं आयामों के चयन में महत्वपूर्ण हो गया है। साथ ही यह राज्य की नीतियों को लागू कर उसके लक्ष्यों को साकार बनाती है तथा उसे सार्थकता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। नीति-निर्माण हेतु राजनीतिक कार्यपालिका बहुत हद तक स्थायी कार्यपालिका पर ही निर्भर होती है। वास्तव में देखा जाए तो मंत्री या मंत्रीमंडल जिस नीति को प्रस्तावित करता है उसकी रुपरेखा तो नौकरशाही ही तैयार करती है। सूचना, परामर्श तथा विश्लेषण के माध्यम से यह राजनीतिक कार्यपालिका के साथ नीति-निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ है। वस्तुतः स्थायी कार्यपालिका राजनीतिक कार्यपालिका के दोस्त, दार्शनिक एवं मार्गदर्शक की भूमिका निभाती है। लक्ष्य की पूर्ति अथवा उपलब्धियों की दृष्टि से इसको ऐसा संगठन समझा जाता है जो प्रशासन में कार्यकुशलता को अधिक से अधिक बढ़ाता है अथवा प्रशासनिक कुशलता के हितों में संगठित सामाजिक व्यवहार का एक संस्थागत तरीका है।

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका लोकतंत्र के तीन स्तंभ अवश्य हैं, परन्तु इन स्तम्भों की स्थिति नौकरशाही द्वारा सम्पादित क्रियाकलापों पर ही टिकी होती है जो इसे प्रारंभिक सूचना, परामर्श एवं विश्लेषण प्रस्तुत करता है। राजनीतिक कार्यपालिका का निर्माण विधायिका से होता है। अतः वह अपने अस्तित्व एवं नीतियों के लिए विधायिका के समर्थन पर टिकी होती है। वहीं दूसरी ओर स्थायी कार्यपालिका राजनीतिक कार्यपालिका के सीधे नियंत्रण में होती है। इस तरह स्थायी कार्यपालिका विधायिका से अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ी होती है जबकि राजनीतिक कार्यपालिका से उसका सम्बन्ध सीधा होता है।

9.3 संसद एवं स्थायी कार्यपालिका

सरकार अनेक किस्म के कार्य सम्पादित करती है और प्रत्येक कार्य के पहले नीतियाँ मार्गदर्शक का काम करती हैं। नीतियों के बिना सरकार नहीं चल सकती और सरकार के बिना लोकतंत्र की धारणा व्यर्थ है। वास्तव में, नीति वह साधन या माध्यम है जिसके सहारे लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। संसद राजनीतिक एवं स्थायी कार्यपालिका के साथ मिलकर नीतियों के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। पीटर एम.बाल्वो के शब्दों में "नौकरशाही प्रशासन को अधिक कुशल, विवेकशील, निष्पक्ष तथा तर्क संगत बनाती है। नौकरशाही के बिना प्रशासन शून्य बन

जायेगा।" मैक्स बेबर के नौकरशाही को आदर्श प्रकार माना है। नौकरशाही सूचनात्मक, सलाहकारी तथा विश्लेष्णात्मक भूमिका के कारण प्रमुख स्थान रखती है। राजनीतिक कार्यपालिका एवं विधायिका नीति-निर्माण में नौकरशाही की राय से भी प्रभावित होती है। नीतियों के निर्माण की सारी शुरुआती सूचना नौकरशाही ही उपलब्ध कराती है। जनता से शुरुआती जानकारी, उनकी स्वीकार्यता आदि पहलुओं की जानकारी नौकरशाही जुटाती है। सलाह प्रदान करना भी नौकरशाही की जिम्मेदारी है।

वहीं दूसरी ओर, संसद का गठन मूलतः विधि निर्माण के लिए होता है, परन्तु विधि निर्माण के अतिरिक्त संसद के अनेक कार्य हैं तथा इसकी शक्तियां भी व्यापक हैं। आधुनिक युग में राज्य का शायद कोई ऐसा क्षेत्र है जहाँ संसद या विधायिका का प्रभाव या संबंध नहीं हो। संसद के प्रमुख कार्यों में प्रशासन की देखरेख, बजट पारित करना, लोक शिकायतों की सुनवाई तथा विभिन्न विषयों यथा विकास योजनाओं, अंतर्राष्ट्रीय संबंध एवं राष्ट्रीय नीतियों पर चर्चा करना शामिल है। कतिपय परिस्थितियों में संसद अनन्य रूप से राज्यों के लिए आरक्षित इसकी परिधि के अंतर्गत आने वाले किसी विषय के संबंध में विधायी शक्ति को अभिग्रहीत कर सकती है। संसद में राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने, उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को संविधान में निर्धारित प्रक्रिया विधि के अनुसार महाभियोग द्वारा हटाने की शक्तियां भी विहित है। सभी विधानों के लिए संसद के दोनों सदनों की सहमति आवश्यक है। संविधान में संशोधन आरम्भ करने की शक्ति निहित है।

भारतीय संविधान में संसदीय प्रणाली को अपनाया गया है जिसके अनुसार कार्यपालिका एवं विधायिका एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े होते हैं। वस्तुतः विधायिका के सदस्य ही कार्यपालिका का निर्माण करते हैं और कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इन्हीं कारणों से नीति-निर्माण एवं प्रशासन के मध्य एक अटूट रिश्ता हो जाता है। भारतीय संसद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य देश के लिए कानून का निर्माण है। संसद को संघ-सूची, समवर्ती-सूची तथा विशेष परिस्थितियों में राज्य-सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार है।

राजनीतिक कार्यपालिका के अपने कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होने के कारण स्थायी कार्यपालिका भी अप्रत्यक्ष रूप से इससे जुड़ जाती है। पूरा मंत्रीपरिषद अपने अस्तित्व के लिए संसद पर आश्रित होता है। प्रत्यायोजित विधायन की उपयोगिता स्थायी कार्यपालिका एवं संसद के आपसी सहयोग को इंगित करता है। समयाभाव, संसद पर बढ़ता दबाब, विषय वस्तु की तकनीकी एवं वैज्ञानिक प्रकृति तथा आकस्मिक स्थितियां प्रत्ययोजित विधायन को आवश्यक बनाती हैं। इसके साथ ही संसद के बदलते परिदृश्य इसे महत्वपूर्ण बना देते हैं।

9.4 संसद एवं राजनीतिक कार्यपालिका

नीति-निर्माण प्रधानतः संसद का काम है क्योंकि नीति का आधार एवं प्रारूप संसद द्वारा ही निर्धारित एवं निश्चित होता है। संसद अपने समक्ष प्रस्तुत प्रत्येक नीतिगत प्रस्तावों पर चर्चा एवं विश्लेषण करती है तथा इन्हें अंतिम रूप देती है। कार्यों की प्रकृति एवं सार्वजनिक उत्तरदायित्व

के दृष्टिकोण से संसद तीनों अंगों में सर्वोच्च है। विश्व में प्राकृतिक और भौगोलिक विविधता के साथ-साथ राजनैतिक संरचना में भी भिन्नता है। राजतंत्र, तानाशाही सत्ता में केन्द्रीकरण के उदाहरण हैं जबकि प्रजातंत्र और लोकतंत्र में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन किया जाता है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 79 के अनुसार भारत का राष्ट्रपति संसद का अंग होता है। संसद द्वारा पारित विधेयक तब तक अधिनियम नहीं बनता जब तक कि राष्ट्रपति उस पर अपनी स्वीकृति नहीं देता है। यद्यपि राष्ट्रपति संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं होता, उसे संसद का अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने तथा लोक सभा को भंग करने का अधिकार है। इतना ही नहीं, जब संसद के दोनों सदनों का अधिवेशन न चल रहा हो और राष्ट्रपति को महसूस हो कि इन परिस्थितियों में तुरन्त कार्यवाही जरूरी है तो वह अध्यादेश जारी कर सकता है। इस अध्यादेश की शक्ति एवं प्रभाव वही होता है जो संसद द्वारा पास की गई विधि का होता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति लोकसभा के लिए प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात अधिवेशन के शुरू में और हर साल के पहले अधिवेशन के प्रारम्भ में राष्ट्रपति एक साथ संसद के दोनों सदनों के सामने अभिभाषण करता है।

भारतीय राजव्यवस्था में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त प्रभावी है जिसके तहत संविधान में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र की लक्ष्मण रेखा साफ-साफ खींच दी गई है। इसके अनुसार कानून बनाना विधायिका का काम है, इसे लागू करना कार्यपालिका का और विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों के संविधान सम्मत होने की जांच करना न्यायपालिका काम है। संविधान समय की मांग के मुताबिक बदला जा सके, इसके लिए उसमें संशोधन जैसा बेहद महत्वपूर्ण अधिकार विधायिका के पास है। संसद के कार्यों में विविधता तो है, साथ ही उसके पास काम की अधिकता भी रहती है। चूंकि उसके पास समय बहुत सीमित होता है, इसीलिए उसके समक्ष प्रस्तुत सभी विधायी या अन्य मामलों पर गहन विचार नहीं हो सकता है। अत: इसका बहुत सा कार्य समितियों द्वारा किया जाता है।

संसद का कार्य है- विधान बनाना, नीति निर्धारण करना, शासन पर संसदीय निगरानी रखना तथा वित्तीय नियंत्रण करना। संसद के प्रमुख कार्यों में प्रशासन की देखरेख, बजट पारित करना, लोक शिकायतों की सुनवाई तथा विभिन्न विषयों यथा विकास योजनाओं, अंतर्राष्ट्रीय संबंध एवं राष्ट्रीय नीतियों पर चर्चा करना शामिल है। कतिपय परिस्थितियों में संसद अनन्य रूप से राज्यों के लिए आरक्षित इसकी परिधि के अंतर्गत आने वाले किसी विषय के संबंध में विधायी शक्ति को अभिग्रहीत कर सकती है।

जैसा अन्य संसदीय लोकतंत्रों में होता है, भारत की संसद के विधायिका के मौलिक कार्य, प्रशासन की देखभाल, बजट पारित करना, लोक शिकायतों की सुनवाई और विभिन्न मुद्दों पर चर्चा करनी होती है जैसे विकास योजनाऐं , राष्ट्रीय नीतियां, और अंतरराष्ट्रीय संबंध। केन्द्र और राज्यों के बीच अधिकारों का वितरण, जो संविधान में बताए गऐ हैं, अनेक प्रकार से संसद का सामान्य प्रभुत्व विधायी क्षेत्र पर है। विषयों की एक बड़ी श्रृंखला के अलावा, सामान्य

समय में भी संसद कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के तहत उस कार्यक्षेत्र के अंदर आने वाले विषयों के संदर्भ में विधायी अधिकार ले सकती है, जो विशिष्ट रूप से राज्यों के लिए आरक्षित हैं। सभी कानूनों को संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है। वित्त विधेयकों के संदर्भ में यद्यपि लोकसभा की इच्छा मानी जाती है। प्रदत्त विधायन की भी समीक्षा की जाती है और यह संसद के द्वारा नियंत्रित है।

संसद का एक महत्वपूर्ण कार्य मंत्रीपरिषद पर नियंत्रण रखना है। संसद मंत्रियों से प्रश्न पूछकर, पूरक प्रश्न पूछकर, वाद-विवाद करके, कटौती प्रस्ताव, काम-रोको, निंदा और अविश्वास प्रस्ताव रखकर तथा सरकार की नीतियों की आलोचना आदि विभिन्न साधनों का प्रयोग कर मंत्रीपरिषद पर नियंत्रण स्थापित करती है जिससे मंत्रीपरिषद संसद के प्रति उत्तरदायी बनी रहती है। इन सबके अतिरिक्त संसद को मंत्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाकर उसे पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार संसद संघ की वास्तविक अर्थात राजनीतिक कार्यपालिका पर प्रभावशाली ढंग से नियंत्रण रखती है।

दूसरी ओर राजनीतिक कार्यपालिका का कार्य है- विधायिका द्वारा बनायी गयी विधियों और नीतियों को लागू करना एवं शासन चलाना। राजनीतिक कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जिसका कार्य विधान मंडल द्वारा पारित विधेयकों का क्रियान्वयन करना है ।

9.5 संसद एवं न्यायपालिका

स्वतंत्रता के पश्चात संविधान के लागू होते ही भारत में न्याय प्रशासन का एक नया दायित्व सामने आया। राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य समाज में न्याय की स्थापना माना जाने लगा। यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के साथ अत्याचार करता है तो इसका अभिप्राय यह है कि वह सम्पूर्ण समाज के साथ द्रोह करता है तथा सम्पूर्ण समाज की भलाई के विचार से यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति को राज्य की ओर से दंड मिले। इन्हीं परिकल्पनाओं के आधार पर भारत में न्यायिक तंत्र स्थापित किया गया।

भारतीय राजव्यवस्था में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त लागू है जिसके तहत संविधान में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकार-क्षेत्र की लक्ष्मण रेखा साफ-साफ खींच दी गई है। इसके अनुसार कानून बनाना विधायिका का काम है, इसे लागू करना कार्यपालिका का और विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों के संविधान सम्मत होने की जांच करना न्यायपालिका काम है। नीति-निर्माण में न्यायपालिका की विशिष्ट महत्व है। संघात्मक शासन व्यवस्था में इसकी भूमिका अति महत्वपूर्ण हो जाती है। कानून की व्याख्या, संविधान की रक्षा, कानून निर्माण, विवादों पर निर्णय, परामर्श एवं प्रशासकीय कार्य इसकी भूमिका को इंगित करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय संविधान का रक्षक है और यह सरकार द्वारा या किसी अन्य शक्ति द्वारा संविधान के प्रावधानों के उल्लंघन को रोकता है। भारत में विधायिका या कार्यपालिका केवल उन्हीं विषयों पर कानून बना सकती है जो कि संविधान द्वारा उन्हें सौंपे गये हैं और यदि वे इसके विपरीत कानून का निर्माण करते हैं तो न्यायालय ऐसे कानून को असंवैधानिक करार कर उसको लागू किये जाने से रोक सकती है। संविधान समय की मांग के

मुताबिक बदला जा सके, इसके लिए उसमें संशोधन जैसा बेहद महत्वपूर्ण अधिकार विधायिका के पास है। छह दशकों से विभिन्न रुपों में चल रहे टकराव के मूल में यही वह अधिकार है जिसे विधायिका संसद की सर्वोच्चता का आधार मानने की गाहे-बगाहे भूल कर बैठती है। न्यायपालिका तभी से विधायिका को उसकी इस भूल का अहसास मात्र करा रही है। केशवानंद भारती मामले में 1972 में सुप्रीम कोर्ट की 13 जजों की अब तक की सबसे बड़ी संविधान पीठ ने अपने फैसले में स्पष्ट कर दिया था कि भारत में संसद नहीं बल्कि संविधान सर्वोच्च है। अदालत ने टकराव की स्थिति को खत्म करने के लिए संविधान के मौलिक ढांचे का सिद्धान्त भी पारित किया। इसमें कहा गया कि संसद ऐसा कोई संशोधन नहीं कर सकती है जो संविधान के मौलिक ढांचे को प्रतिकूलतः प्रभावित करता हो। साथ ही न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार के तहत न्यायपालिका संसद द्वारा किए गए संशोधन से संविधान का मूल ढांचा प्रभावित होने की जांच करने के लिए स्वतंत्र है। संविधान की सर्वोच्चता, सरकार की गणतन्त्रीय व्यवस्था, राष्ट्र की संप्रभुता, संविधान का संघीय तथा पन्थ निरपेक्ष स्वरूप, कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका के बीच शक्तियों का बंटवारा, मूलभूत अधिकारों से मानवीय गरिमा की सुरक्षा, भाग चार में वर्णित लोक कल्याणकारी राज्य बनाने का संकल्प तथा भारत की एकता व अखण्डता संविधान के मूल ढांचे के कुछ उदाहरण हैं। संविधान के मूल ढांचे के सिद्धान्त का जन्म उस समय हुआ था जब न्यायालय और सरकार में इस मुद्दे पर मतभेद अपने चरम पर थे कि जमीन्दारी उन्मूलन, बैंकों के राष्ट्रीयकरण और प्रिवीपर्स की समाप्ति जैसे नीतिगत मुद्दों पर अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार अपनी सभी तथाकथित कमियों के बावजूद हमारे चुने गए प्रतिनिधियों के हाथ में हो जो जनता के प्रति जवाबदेह हैं या न्यायाधीशों के हाथ में हो जो अपनी विद्वता के बावजूद या तो केवल ईश्वर के प्रति या अपनी अन्तरात्मा के प्रति जवाबदेह हैं। इस रस्साकशी के पहले भाग का पटाक्षेप तब हुआ जब 'केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य' के मुकदमे का फैसला आया। सुप्रीम कोर्ट ने इसमें अपनी मंशा स्पष्ट कर दी कि संसद में बहुमत का सहारा लेकर सरकार अपनी मनमानी नीतियों को लागू नहीं कर सकती। वह संविधान में संशोधन करते समय उसके मूल ढांचे को नष्ट नहीं कर सकती। तेरह न्यायाधीशों वाली पीठ ने यह स्वीकार किया कि यद्यपि संविधान में इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया है किन्तु फिर भी इस अधिकार पर कुछ अन्तर्निहित प्रतिबंध अवश्य होने चाहिए और इस प्रतिबंध के लिए संविधान के मूल ढांचे की सुरक्षा जैसे शब्द का निर्माण किया गया। जब इस इस मूल ढांचे को परिभाषित करने का विषय आया तो इस सिद्धान्त की अस्पष्टता और अन्तर्निहित दुरूहता स्पष्ट होने लगी। बाद के वर्षों में दिए गए निर्णयों में जहां एक ओर यह अबोधगम्य होता गया वहीं दूसरी ओर इसकी धार पैनी हो गई। बाद में आपातकाल ने राजनीतिज्ञों के मन में इतना अपराध बोध भर दिया कि न्यायपालिका के इस सिद्धान्त के गुण-दोष पर चर्चा करने की नैतिक हिम्मत भी समाप्त हो गई। बाद के फैसलों में मूलभूत ढांचे के उदाहरणों में कुछ और वृद्धि हुई।

संविधान के संरक्षक होने के नाते न्यायपालिका का यह कर्तव्य है कि विधानमंडल का कोई भी कानून देश के मौलिक एवं सर्वोच्च कानून संविधान की मूल भावना के विपरीत न हो। न्यायिक समीक्षा या न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालय की वह शक्ति है जिसके द्वारा न्यायालय कानूनों की संवैधानिकता की जांच कर सकता है। संविधान के भारत में लागू होते ही न्यायिक समीक्षा और संसदीय संप्रभुता के विवाद सामने आने शुरू हो गए थे। भिन्न-भिन्न सरकारों में यह संकट चलता रहा। फलस्वरूप मूल अधिकार बनाम राज्य के नीति-निर्देशक तत्व की प्राथमिकता का बिन्दु लगातार सुर्खियों में रहा। भारतीय संविधान में न्यायालयों को न्यायिक समीक्षा का अधिकार इस प्रकार से दिया गया है जिससे इससे होने वाले लाभों की प्राप्ति हो सके किन्तु अमेरिका में इसकी व्यवस्था से जो कठिनाइयां उत्पन्न होती है उससे बचा जा सके। भारत में 'कानून की उचित प्रक्रिया' के स्थान पर 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' को स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट है कि भारत के संविधान निर्माता एक ओर तो न्यायालयों को स्पष्ट रूप से न्यायिक समीक्षा का अधिकार प्रदान करते हैं, वहीं दूसरी ओर उनके अधिकार को सीमित रखते हैं जिससे न्यायालय केवल कानून की शाब्दिक व्याख्या कर सके और कानून की अच्छाई- बुराई के पक्ष में नहीं आ सकें।

9.6 कार्यपालिका एवं न्यायपालिका

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका लोकतंत्र के तीन स्तंभ अवश्य हैं, परन्तु इन स्तम्भों की स्थिति और स्वरूप एक समान नहीं है। तीनों का स्थान समानांतर धरातल पर नहीं है। न्यायपालिका का स्थान विधायिका और कार्यपालिका से एकदम अलग है। लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्थाऐं वास्तव में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका के भरोसे ही टिकी होती हैं। नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा करने में एक मात्र संरचना होने के कारण जनसाधारण के लिए इसका महत्व अत्यधिक है। स्पष्ट रूप से न्यायपालिका का महत्व बढ़ जाता है। संघीय व्यवस्था का सफल संचालन न्यायपालिका की कार्य क्षमता पर टिकी है। न्यायपालिका का काम विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों की न्यायिक समीक्षा कर सही और गलत को स्पष्ट करना है। प्रश्न यह उठता है कि जब न्यायपालिका का काम ही समीक्षा करना है, तब उनमें सहयोग कैसे होगा। सहयोग होने पर न्यायपालिका निष्पक्ष समीक्षा कैसे करेगी।

कार्यपालिका के कार्यों में संसदीय प्रजातंत्र के कारण अभूतपूर्व वृद्धि हुई है वहीं हाल के वर्षों के विकास इसके कार्यों को बढा ही रहे हैं। संविधान के अनुच्छेद 122 में प्रावधान है कि संसद अपने कार्य के लिए स्वतंत्र है तथा न्यायालय उसमें दखल नहीं दे सकता, परंतु यह कौन देखेगा कि सांसद तथा संसद संवैधानिक मर्यादाओं का पालन करते हुए अपने अधिकार का उपयोग कर रहे हैं या नहीं। यह अधिकार न्यायपालिका के ही पास है। संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार संवैधानिक प्रावधानों की व्याख्या का अधिकार मात्र उच्चतम न्यायालय को ही है। उच्चतम न्यायालय संवैधानिक प्रावधानों के सही या गलत के परिपालन की व्याख्या करता है। प्रशासकीय न्यायाधिकरण की स्थापना ने कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के संबंधों को नया आयाम दिया है। इसके अतिरिक्त संवैधानिक प्रावधानों से स्पष्ट है कि कार्यपालिका तथा

न्यायपालिका दोनों की स्थिति समान धरातल पर नहीं है। संवैधानिक कार्य तथा उत्तरदायित्व की व्याख्या का अधिकार मात्र न्यायपालिका को है, संसद को नहीं। अपने संवैधानिक उत्तरदायित्व के निर्वाह में न्यायालय यदि सांसद एवं संसद के नैतिकताविहीन निर्णय पर अंकुश लगाता है तो वह टकराव नहीं, वरन समाज की विधि एवं नैतिक व्यवस्थापन की दिशा में एक प्रशंसनीय कदम है। नैतिक मापदंडों के अनुरूप विधिसम्मत व्यवस्था बनाए रखने का उत्तरदायित्व न्यायालय का है।

अभ्यास प्रश्न-

1. प्रशासन अनिवार्यतः शासन के किस अंग से जुड़ा होता है?
2. संविधान का संरक्षक कौन है?
3. संसद के किस सदन के प्रति मंत्रीपरिषद उत्तरदायी होती है?
4. मंत्रिपरिषद का अध्यक्ष कौन होता है?
5. लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था मूलतः किस पर ही टिकी होती है?

9.7 सारांश

इस प्रकार आपको ज्ञात हो गया होगा कि लोकतंत्र एक ऐसी व्यवस्था है जो न्यायपालिका, विधायिका और कार्यपालिका के समन्वय से चलती है। तीनों का समन्वय इसकी अनिवार्य शर्त है। लोकतंत्र में अव्यवस्था के खतरे बहुत अधिक होते हैं। फिर भी विश्व जनमत तानाशाही से मुक्त होने के लिये छटपटा रहा है। साम्यवादी देशों ने लोकतंत्र का मार्ग पकड़ लिया है। लोकतंत्र का पहला पाठ ही व्यवस्था के तीन अंगों- न्यायपालिका, विधायिका तथा कार्यपालिका के समन्वय से शुरू होता है। हाँ कभी-कभी यह समन्वय प्रतिस्पर्धा में बदल जाता है। इस प्रतिस्पर्धा की बीमारी से बचने के लिये आवश्यकता है कि तीनों अंग अपने-अपने दायित्व भी समझते हैं और सीमाऐं भी। कानूनों में सुधार विधायिका का काम है और उसके कार्यान्वयन का कार्य कार्यपालिका का। लोकतंत्र में तीनो संस्थायें एक-दूसरे की पूरक भी होती हैं और नियंत्रक भी। लोकतंत्र का एक ही अर्थ है कि समाज सर्वोच्च है और राज्य समाज का व्यवस्थापक। लोकतंत्र में कोई इकाई अन्तिम न होकर उसकी सीमित भूमिका होनी चाहिये।

9.8 शब्दावली

मंत्रिपरिषद- नीति-निर्माण हेतु सर्वोच्च संस्था जिसका प्रधान प्रधानमंत्री /मुख्यमंत्री होता है।

अविश्वास प्रस्ताव- सरकार की नीतियों के विरुद्ध विपक्ष द्वारा लाया गया प्रस्ताव।

संवैधानिक प्रधान- शासन व्यवस्था में नाम मात्र का प्रधान।

न्यायिक समीक्षा- विधायिका एवं कार्यपालिका के आदेशों, कानूनों आदि की न्यायपालिका द्वारा वैधानिकता की जांच।

9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. कार्यपालिका से, **2.** सर्वोच्च न्यायालय, **3.** लोकसभा, **4.** प्रधानमन्त्री, **5.** निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका पर

9.10सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. दुर्गा दास बसु, 2010 ,भारतीय संविधान का परिचय, प्रेन्टिस हॉल, नयी दिल्ली।
2. जे0सी0 जौहरी, 2013,भारतीय शासन एवं राजनीति, विशाल, दिल्ली।
3. अमरजीत सिंह नारंग, 2013, भारतीय शासन एवं राजनीति, गीतांजलि, नयी दिल्ली।

9.11 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. श्रीराम माहेश्वरी, 2009, भारतीय प्रशासन, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली।
2. सी0बी0गेना, 2010, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाऐं, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
3. सुषमा यादव एवं राम अवतार शर्मा, 1997, भारतीय राजनीति ज्वलंत प्रश्न, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय,दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. संसद एवं स्थायी कार्यपालिका के संबंधों पर प्रकाश डालिए।
2. संसद एवं राजनीतिक कार्यपालिका के पास्परिक संबंधों का विश्लेषण कीजिये।
3. संसद एवं न्यायपालिका के संबंधों का मूल्यांकन कीजिए।
4. कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के पास्परिक संबंधों का विश्लेषण कीजिये।
5. शासन के विविध अंगों की पास्परिक अंतःक्रिया की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 10 भारत में नीति-निर्माण प्रक्रिया: बंधुआ मजदूरी प्रथा का उन्मूलन अधिनियम, 1976

इकाई की संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 बंधुआ मजदूरी का अर्थ
10.3 भारत में बंधुआ मजदूरी प्रथा
10.4 स्वतन्त्रता से पूर्व बंधुआ मजदूरी प्रथा के उन्मूलन के प्रयास
10.5 स्वतन्त्रता के पश्चात बंधुआ मजदूरी प्रथा के उन्मूलन के प्रमुख कदम
10.6 बंधुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1976
10.7 बंधुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1976 के प्रावधान एवं क्रियान्वयन
10.8 सारांश
10.9 शब्दावली
10.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.11 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
10.12 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
10.13 निबंधात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

भारत में बढ़ती जनसंख्या के बाद दूसरी सबसे बड़ी समस्या बंधुआ मजदूरी की है। ये ऐसे बंधुआ मजदूर हैं जो अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए गुलामी के भंवर में बुरी तरह फंस जाते हैं और इसे अपनी नियति मान लेते हैं। ये गरीब, कमजोर और लाचार बंधुआ लोग जमीदारों और साहूकारों के हाथों सालों-साल शोषण का शिकार होते रहते हैं। सरकार ने भी स्वीकार किया है कि देश में बंधुआ मजदूरी सिर्फ कागजों पर ही समाप्त हुई है जबकि सच्चाई यह है कि यह सामाजिक समस्या व्यापक पैमाने पर मौजूद है। इस समस्या से निपटने के लिए वर्ष 1976 में एक कानून बनाया गया जिसके बाद पूरे देश में बंधुआ मजदूरी प्रथा को पूरी तरह से समाप्त करने के ठोस कदम उठाए गए। इस कानून के बाद बंधुआ मजदूरी को एक दंडनीय अपराध माना जाने लगा है। अधिनियम के लागू होने पर प्रत्येक श्रमिक को जबरन श्रम करने की बाध्यता से मुक्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त यह कानून उन सभी बातों को अमान्य साबित करता है जिनके अनुसार किसी व्यक्ति को बंधुआ श्रम के रूप में अपनी सेवाऐं देने के लिए बाध्य किया जा रहा हो। प्रस्तुत इकाई में बंधुआ मजदूरी के अर्थ एवं विविध पहलुओं का विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त इस इकाई में आप स्वतन्त्रता से पूर्व एवं स्वतन्त्रता के बाद बंधुआ मजदूरी प्रथा के उन्मूलन सम्बन्धी प्रयासों के बारे में भी जान सकेंगे। साथ ही बंधुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1976 के प्रावधान एवं क्रियान्वयन पर भी विस्तार से चर्चा होगी।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- बंधुआ मजदूरी का अर्थ जान सकेंगे।
- आप बंधुआ मजदूरी के विविध स्वरुप को भी समझ पाऐंगे।
- स्वतन्त्रता से पूर्व एवं स्वतन्त्रता के पश्चात बंधुआ मजदूरी प्रथा के उन्मूलन के प्रमुख कदमों के बारे में आपको ज्ञान प्राप्त होगा।
- बंधुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1976 के प्रमुख प्रावधान एवं क्रियान्वयन का भी ज्ञान होगा।

10.2 बंधुआ मजदूरी का अर्थ

दुनिया भर में आज भी लगभग तीन करोड़ लोग गुलामी की जिंदगी जीने के लिए मजबूर हैं और इनमें से लगभग आधे भारतीय हैं। विश्व दासता सूचकांक 2013 के आंकड़ों के अनुसार दुनिया भर के जिन 162 देशों में सर्वेक्षण किया गया, वहां तकरीबन दो करोड़ 98 लाख लोग दासता की जिंदगी जीने के लिए मजबूर हैं। इनमें से एक करोड़ 39 लाख लोग भारत में हैं। सर्वेक्षण के लिए दासता की जिस परिभाषा का इस्तेमाल किया गया है। उसके मुताबिक किसी की आजादी छीन लेना और हिंसा, दबाव या छल के जरिये उसका आर्थिक या यौन शोषण करना उसे दास बनाना है। एक ओर जहां पश्चिम अफ्रीका और दक्षिण एशिया मे आज भी कुछ लोग पैदा होते ही गुलाम बन जाते हैं वहीं भारत समेत अन्य गरीब देशों में बंधुआ मजदूरी, बाल मजदूरी, देह व्यापार और जबरन विवाह के द्वारा गुलामी कराई जाती है।

वह व्यक्ति जो लिए हुए ऋण को चुकाने के बदले ऋणदाता के लिए श्रम करता है या सेवाऐं देता है, बंधुआ मजदूर कहलाता है। इन्हें 'अनुबद्ध श्रमिक' या 'बंधक मज़दूर' भी कहते हैं। कृषि क्षेत्र में भूमिहीन कृषकों की अपने श्रम के आदान-प्रदान में सौदेबाजी की शून्यता बंधुआ मजदूरी की ओर इंगित करता है। ऐसी स्थिति अधिकांश मामलों में ऋणग्रस्तता के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक भी चलती रहती है। बलात् श्रम का यह भी अर्थ है- लम्बे घंटों तक खराब स्थितियों में बहुत कम वेतन पर काम करना। यह कृषि, निर्माण क्षेत्र, घरेलू काम, ईंट-भट्ठे एवं यौन व्यापार, सभी क्षेत्रों में और हर महाद्वीप, हर अर्थव्यवस्था तथा लगभग हर देश में पाया जाता है। इसके बावजूद यह विरोधाभास ही है कि इसे हमारे समय की सबसे अप्रकट समस्याओं में से एक बताया जाता है। लेकिन इससे अलग दो परिस्थितियां जरूर लागू होती हैं। यह काम बिना इच्छा के कराया जाता है और उसे दंड दिए जाने की धमकी के साथ कराया जाता है। कई बार यह धमकी शारीरिक दंड अर्थात् मारपीट, यातना एवं यौन प्रताड़ना की आशंका के रूप में होती है। इन मजदूरों के जीवनयापन के वस्तुओं की खरीददारी के कारण ये कर्ज लगातार बढ़ते जाते हैं और कई बार नियोक्ता भी अपने बही-खाते में इन्हें बढ़ा-चढ़ा कर दर्ज करते रहते हैं। इसके बाद इन मजदूरों को बंधुआगिरी करनी पड़ती है। जो

मजदूर इस काम को छोड़ना चाहते हैं, अक्सर उन्हें धमकियों व शारीरिक हिंसा का शिकार होना पड़ता है। बलात् श्रम सभी जगह है।

यदि हम बंधुआ मजदूरी का इतिहास खंगालें तो प्राचीन यूनान में बंधुआ मजदूरी बहुत हद तक प्रचलित थी। वर्तमान समय में बंधुआ मजदूरी सबसे अधिक दक्षिण एशिया में होती है। एशिया में बलात् श्रमिकों का लगभग दस प्रतिशत व्यावसायिक यौन शोषण के लिए प्रयुक्त होता है। मानव तस्करी बलात् श्रम से जुड़ा शायद सबसे सनसनीखेज पहलू है, जिसके तहत आर्थिक शोषण के लिए लोगों को भर्ती की जाती है और लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाया जाता है, जिसमे पर्याप्त भिन्नता होती है। संक्षेप में, आंकड़े बताते हैं कि तस्करी से लाये गये अधिकतर लोग संक्रमणकालीन तथा विकसित देशों अथवा क्षेत्रों में काम करने को विवश होते हैं। इनमें से लगभग आधे लोगों को यौन शोषण के लिए तस्करी की जाती है। इस तरह का शोषण केवल विकासशील देशों या परम्परागत व्यवस्थाओं तक सीमित नहीं है। दिवालियेपन के ऐसे नए रूपों को औद्योगिकृत देशों व आमतौर पर मुख्यधारा के आर्थिक क्षेत्रों में भी देखा जा सकता है। भर्ती एजेंसियों द्वारा बेईमान तौर-तरीकों और बहुत ठेकेदारों के कारण भी ऐसे मूल्य चुकाने पड़ते हैं, जिनके परिणामस्वरूप प्रवासी लोग ऋण बंधुआ बना दिये जाते हैं।

बंधुआ मजदूरी को समाप्त करने के उद्देश्य से भारत में वर्ष 1976 में कानून बनाकर बंधुआ मजदूरी को अवैध घोषित किया गया। इस कानून के बाद बंधुआ मजदूरी को एक दंडनीय अपराध माना जाने लगा। इस अधिनियम के लागू होने पर प्रत्येक श्रमिक को जबरन श्रम करने की बाध्यता से मुक्त कर दिया गया है। इस अधिनियम को सभी राज्यों में भी लागू गया है।

10.3 भारत में बंधुआ मजदूरी प्रथा

बंधुआ मजदूरी प्रथा आज विश्व के तमाम स्थानों में किसी न किसी रूप में मौजूद है। भारत में ताजा आंकड़ों के अनुसार सरकारी माध्यमों ने 2,82,135 बंधुआ मजदूरों की पहचान मुक्त की है, इसके साथ हीं 2,60,714 बंधुआ मजदूरों का पुनर्वास भी कराया गया है। लगभग इतने ही या इससे भी ज्यादा बंधुआ मजदूर आज भी देश के विभिन्न हिस्सों में गुलामों की तरह काम कर रहे हैं। बंधुआ मजदूरों की सबसे ज्यादा तादाद भारत के कृषि क्षेत्र में दिखती है। इनमें से ज्यादातर तथाकथित निचली जातियों से ताल्लुक रखते हैं। सुप्रीम कोर्ट में प्रस्तुत एक रिपोर्ट के अनुसार महाराष्ट्र में इनकी संख्या छह लाख से ज्यादा है, जिनमें तथाकथित निचली जाति में इनकी संख्या 70 प्रतिशत के आसपास है। अधिकांश 150 चीनी मिलों में बंधुआ मजदूरों की तरह काम कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त उड़ीसा, छत्तीसगढ़, हरियाणा, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान और गुजरात जैसे प्रदेशों में भी अनुसूचित जनजाति के ढेरों लोग कर्ज न चुका पाने के कारण बंधुआ मजदूरों की तरह काम कर रहे हैं।

दरअसल, अंग्रेजी शासनकाल में लागू की गई भूमि बंदोबस्त प्रथा ने भारत में बंधुआ मजदूरी के लिए आधार प्रदान किया था। इससे पूर्व जमीन को जोतने वाला ही जमीन का मालिक भी होता था। जमीन के स्वामित्व पर राजाओं या जागीरदारों का कोई दावा नहीं था। उन्हें वही प्राप्त होता था, जो उनका वास्तविक हक़ बनता था और यह कुल उपज का एक फीसदी होता था।

किसान ही जमीन के स्वामी थे। हालांकि जमीन का असली स्वामी राजा था फिर भी एक बार जोतने के लिए तैयार कर लेने के बाद स्वामित्व किसान के हाथ में चला जाता था। राज्य या राजा के परिवर्तन के बाद भी स्वामित्व सम्बन्धी विवाद नहीं होता था। राजा और किसान के बीच कोई बिचौलिया भी नहीं था। लेकिन वक्त के साथ इसमें बदलाव आता गया और भूमि के मालिक का दर्जा रखने वाला किसान महज खेतिहर मजदूर बनकर रह गया। अनंतर आजीविका के अन्य विकल्पों की समाप्ति के साथ ये स्थितियां भयावह होती चली गयी।

अनुसुचित जाति एवं अनुसुचित जनजाति आयुक्त की रिपोर्ट(1971-72) ने ऋण ग्रस्तता के फलस्वरूप उत्पन्न बंधुआ मजदूरी के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला है। बंधुआ मजदूर की परिधि में भूमिहीन किसान, बिना सुरक्षा के ऋण लेने वाले लोग तथा ऋण की अलग-अलग प्रकृति के कारण शामिल लोग हैं। सामान्य तौर पर बंधुआ मजदूरी के प्रारंभिक कारकों में जाति व्यवस्था, सामाजिक एवं धार्मिक अनुष्ठानों पर सामर्थ्य से ज्यादा खर्च, गरीबी तथा जमीन का गिरबी(Pledge) रखा जाना है। आजीविका की तलाश में किसी मजदूर को अपना गाँवघर छोड़कर दूसरी जगह जाना पड़ता है क्योंकि उसके अपने इलाके में आजीविका के पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं होते हैं। कहीं सूखा, कहीं बाढ़ और तो किसी के पास खेती के लिए अनुपयुक्त या नाकाफी जमीन, ऐसे में वे लोग जो बस खेतिहर मजदूर हैं अपने इलाकों में खेती की खराब स्थिति के कारण एक तो मजदूरी बहुत कम पाते हैं और दूसरे समाज में विद्यमान सामंती मूल्यों के अवशेष भी उन्हें लगातार दबाते चले जाते हैं। बेहतर जीवन की लालसा में वे पलायन को मजबूर हो जाते हैं।

बंधुआ मजदूरी का नया स्वरूप जो सामने आया है, उसमें मजदूरों का सबसे बड़ा हिस्सा पलायन किये हुये मजदूरों का है। मजदूरों को नियुक्त करवाने वाले दलाल शुरुआत में ही थोड़े से रुपये बतौर पेशगी देकर लोगों को कानूनन अपना कर्जदार बना देते हैं। रुपयों के जाल में फंसकर मजदूर अपने नियोक्ता या इन दलालों का बंधुआ बन कर रह जाता है। अधिकतर मामलों में, ये दलाल संबंधित उद्योगों के नजर में मजदूरों के ठेकेदार होते हैं जो मजदूरों के श्रम के मूल्यों के भुगतान में तरह-तरह की धांधलियाँ करते हैं। नियोक्ता और श्रमिक के बीच में दलालों की इतनी महत्वपूर्ण उपस्थिति मजदूरों के शोषण को और गंभीर बना देती है।

यहां तक कि कई बार मां-बाप द्वारा लिए गये कर्जे को न चूका पाने के चलते उनके बच्चों को महज भोजन के एवज में बंधुआ मजदूर के तौर पर काम कराया जाता है। इस बारे में एक ही तरह का चलन हर जगह दिखता है। ईंट-भट्ठों, पत्थर खदानों, क्रशरों, खानों, बिजली से चलने वाले करघों या हथकरघों अथवा निर्माण का काम, हीरे-जवाहरात की तराशी, चावल मिलों, बीड़ी कारखानों, चटाई हो या रेशमी कालीन की बुनाई, ढेरों औद्योगिक इकाइयों और तमाम क्षेत्रों में बंधुआ मजदूरों की लंबी फौज काम कर रही है। बंधुआ मजदूरों का यह चलन किसी एक देश की सीमा में नहीं बंधा है। खाड़ी देशों में हजारों भारतीय और दक्षिण पूर्व एशियाई लोग नौकरों के रूप में दर असल बंधुआ मजदूरों की तरह ही काम कर रहे हैं। काम पर रखने वाले लोग या दलाल इनके सभी महत्वपूर्ण दस्तावेजों जैसे पासपोर्ट, वीजा आदि को या तो

अपने कब्जे में रख लेते हैं या नष्ट कर देते हैं। इस तरह लाखों लोगों को कभी रोजगार के नाम पर तो कभी कर्ज के नाम पर धोखा देकर उम्रभर के लिए बंधुआ मजदूर बनने के लिए मजबूर किया जाता है।

बंधुआ मजदूरी का तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण कारण स्थायी नौकरी के बदले दलालों के मध्यस्थता में मजदूरों के श्रम का शोषण करने की रणनीति अंतर्निहित है। भूमिहीन कृषकों की अपने श्रम के आदान-प्रदान में सौदेबाजी की शून्यता बंधुआ मजदूरी की ओर इंगित करता है। ऐसी स्थिति अधिकांश मामलों में ऋणग्रस्तता के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक भी चलती रहती है।

बंधुआ मजदूरी देश के विविध क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से जानी जाती है। जहाँ आंध्र प्रदेश में इसे भगेला, कोत्ची, वेट्टी एवं कस्सिगल नामों से जाना जाता है वहीं बिहार में इसे सौर्किया, रमसिया, कमिया आदि नामों से जानते हैं। गुजरात में भी हली और हलपटी व्यवस्थाऐं थीं। जीठा व्यवस्था कर्नाटक में प्रचलित थी और वेट तथा बेगार महाराष्ट्र में। बंधुआ मजदूरी प्रथा केरल में वल्लोरकावू पनम, निलपू पनम तथा अदिमा के रूप में विद्यमान थी। मध्य प्रदेश में हरवाही, महीदार, कबड़ी, हली एवं कमिया रूपों में यह मौजूद थी। एक ओर जहाँ ओड़िशा में यह गोठी व्यवस्था के रूप में प्रचलित थी, वहीं राजस्थान में सगरी व्यवस्था के रूप में। पंजाब की सेपी व्यवस्था,पश्चिम-बंगाल की हली व्यवस्था तथा उत्तर प्रदेश के माट, संजायत, बरवाही, हरिया एवं सेवक व्यवस्थाऐं बंधुआ मजदूरी के ही विविध रूप हैं। तमिलनाडु की वेट्टी एवं पन्द्यल व्यवस्थाऐं भी बंधुआ मजदूरी को दर्शाती हैं। इस प्रकार किसी न किसी नाम से लगभग पूरे भारत में बंधुआ मजदूरी मौजूद थी।

10.4 स्वतन्त्रता से पूर्व बंधुआ मजदूरी प्रथा के उन्मूलन के प्रयास

स्वतन्त्रता से पूर्व बंधुआ मजदूरी प्रथा के उन्मूलन हेतु विविध प्रयास किये गए। इनमें उड़ीसा कमिऔती समझौता अधिनियम(1920) प्रमुख है। इसके अंतर्गत कामिया प्रथा के विविध पहलुओं पर प्रकाश ला गया, साथ ही बंधुआ मजदूरों के अधिकारों को सुरक्षित करने का प्रयास किया गया। बंधुआ मजदूरी व्यवस्था की समाप्ति के सम्बन्ध में भी इसमें स्पष्ट प्रावधान किया गया। 1940 मद्रास एजेंसी ऋणग्रस्तता उन्मूलन विनियम ने दंड के कठोरतम प्रावधान किये ताकि इस पर अंकुश लगाया जा सके। इसके द्वारा समझौतों को पस्त कर बंधुआ मजदूरी को समाप्त करने का प्रयास किया गया। 'हैदराबाद भगेला समझौता,1943' ने भगेला (बंधुआ मजदुर) पर हो रहे अत्याचारों को समाप्त करने हेतु किसान एवं भगेला में समझौते पर बल दिया। इसमे 12 वर्ष से कम के बंधुआ मजदूरी पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगा दिया तथा भगेला के लिए एक सम्मानजनक समझौते को एक रूप दिया। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के 14वें सम्मेलन में सभी सदस्य राष्ट्रों से बलात् श्रम को समाप्त करने की गुजारिश की गयी जिसे तत्कालीन भारतीय सरकार ने भी स्वीकार किया। 1931 के श्रम आयोग ने इस दिशा में सभी प्रयास किये। कृषि से मौलिक रूप से जुड़े होने तथा ऋण ग्रस्तता के कारण बंधुआ मजदूरी को समाप्त करने में सफलता हासिल नहीं हो पायी।

10.5 स्वतन्त्रता के पश्चात बंधुआ मजदूरी प्रथा के उन्मूलन के प्रमुख कदम

मजदूर भी इस देश की आबादी का एक अभिन्न अंग हैं और देश के विकास का प्रतीक बनी इमारतों में उनका खून पसीना झलकता है। भारत सरकार ने देश में बलात् श्रम या बंधुआ मजदूरी के मुद्दे पर निरंतर सक्रिय रुख अपनाया है। स्वतंत्रता के पश्चात प0 जवाहर नेहरु मंत्रीमंडल ने इस दिशा में शुरुआत से ही कार्य प्रारम्भ कर दिया था। संविधान की मूल भावनाओं के अनुरूप राज्य सरकारों ने भी पहल शुरू की। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने बंधुआ मजदूरी समाप्त करने की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए संविधान के अंतर्गत ऐसे प्रावधान शामिल किये जिनसे मजदूरों का हित सुरक्षित हो सके। अनुच्छेद 23(iii), 35(क)(ii) तथा 46 के अंतर्गत व्यापक प्रावधान किये गए ताकि किसी प्रकार का शोषण न हो सके।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 23 के प्रावधान के अनुसार मानव तस्करी को प्रतिबन्धित किया गया है तथा इसे कानून द्वारा दंडनीय अपराध बनाया गया है। साथ ही बेगार या किसी व्यक्ति को पारिश्रमिक दिए बिना उसे काम करने के लिए मजबूर करना जहां कानूनन काम न करने के लिए या पारिश्रमिक प्राप्त करने के लिए हकदार है, भी प्रतिबंधित किया गया है। बंधुआ मजदूरी उनमूलन अधिनियम(1976) को इस अनुच्छेद में प्रभावी करने के लिए संसद द्वारा अधिनियमित किया गया है। संविधान का अनुच्छेद 46 कहता है कि ''राज्य विशेष सावधानी से व्यक्तियों के कमजोर वर्गों, खासकर अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों का संवर्धन करेगा और उन्हें सामाजिक अन्याय और सभी तरह के सामाजिक दोहन से रक्षा करेगा।'' संविधान का अनुच्छेद 330, 332, 335, 338 से 342 और पूरी पाँचवीं एवं छठी अनुसूची, अनुच्छेद 46 में नियत उद्देश्यों के कार्यान्वयन के लिए विशेष प्रावधानों से सम्बन्ध रखता है।

भारत सरकार शुरू से ही इस कुप्रथा को प्रभावित नागरिकों के मौलिक मानवाधिकारों का हनन मानता है और यह इसके यथासंभव न्यूनतम समय में पूर्ण समापन को लेकर तत्पर है। भारत ने 30 नवम्बर 1954 को अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सम्मेलन संख्या 29 (बाध्य श्रम सम्मेलन) की पुष्टि की। इसके पूर्व गोठी (बंधुआ मजदूर) व्यवस्था की समाप्ति हेतु 'उड़ीसा ऋण ग्रस्तता उन्मूलन अधिनियम,1948' द्वारा एक सार्थक शुरुआत भारत में हो चुकी थी। राजस्थान में भी 'सागरी व्यवस्था उन्मूलन अधिनियम,1961' द्वारा बंधुआ मजदूरी की समाप्ति का प्रावधान किया गया। सभी प्रकार के ऋणों के सम्बन्ध में व्यापक सुधार कर इन्हें मुक्त कराने का प्रयास किया गया। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त के पद की स्थापना के साथ इन सकारात्मक कदमों को एक दिशा मिली। पूर्ववर्ती कानूनों के क्रियान्वयन में आ रही दिक्कतों को उजागर कर इसने इस ओर ध्यान आकर्षित किया। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त की 12वीं तथा 15वीं रिपोर्ट इस दिशा में काफी कारगर सिद्ध हुई। 11 अगस्त 1948 को केन्द्रीय श्रम मंत्रालय ने बंधुआ मजदूरी से सम्बंधित विभिन्न प्रावधानों के अध्ययन एवं कार्यवाही के लिए एक विशेष कार्य-अधिकारी की नियुक्ति की जिसकी भूमिका काफी महत्वपूर्ण रही। श्रम मंत्रालय ने 10 सितम्बर 1951 में संसद में बंधुआ मजदूरी यथाशीघ्र

समाप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया। तत्पश्चात वरिष्ठ कांग्रेसी नेता यू.एन.ढेबर की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया गया जिसने बंधुआ मजदूरी की समाप्ति के सम्बन्ध में व्यापक प्रावधानों की आवश्यकता बताई तथा इसे दंडनीय अपराध माना। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त की 1951 से 1974 तक की रिपोर्ट बंधुआ मजदूरी को समाप्त करने की दिशा में महत्वपूर्ण पड़ाव सिद्ध हुए। भारत में 'बंधुआ मजदूर प्रणाली(उन्मूलन) अधिनियम,1976' को लागू करके इसे 25 अक्टूबर 1975 से संपूर्ण देश से खत्म कर दिया गया है। इस अधिनियम के जरिए बंधुआ मजदूर गुलामी से मुक्त हुए साथ ही उनके कर्ज की भी समाप्ति हुई। इस कानून के बाद बंधुआ मजदूरी को एक दंडनीय अपराध माना जाने लगा। इस अधिनियम के लागू होने पर प्रत्येक श्रमिक को जबरन श्रम करने की बाध्यता से मुक्त कर दिया गया था। इस अधिनियम को संबंधित राज्य सरकारों द्वारा क्रियान्वित किया जा रहा है। यह कानून उन सभी बातों को अमान्य साबित करता है जिनके अनुसार किसी व्यक्ति को बंधुआ श्रम के रूप में अपनी सेवाऐं देने के लिए बाध्य किया जा रहा हो।

10.6 बंधुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1976

बंधुआ मजदूरी प्रथा सामाजिक समस्या के रूप में व्यापक पैमाने पर मौजूद थी, जिससे निपटने के लिए वर्ष 1976 में एक कानून बनाया गया। 'बंधुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1976' राज्य सभा में 6 जनवरी 1976 को प्रस्तुत किया गया जिस पर राज्य सभा में 12 जनवरी को व्यापक बहस हुई तथा इसे इसी दिन पारित कर लोक सभा को भेज दिया गया। लोक सभा ने इस पर 23 एवं 27 जनवरी को विंदुवार चर्चा की। अनंतर 9 फरवरी 1976 को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलते ही यह कानून बन गया। इसके बाद पूरे देश में बंधुआ मजदूरी प्रथा को पूरी तरह से समाप्त करने के ठोस कदम उठाए गए हैं। इस कानून के बाद बंधुआ मजदूरी को एक दंडनीय अपराध माना जाने लगा है। अधिनियम के लागू होने पर प्रत्येक श्रमिक को जबरन श्रम करने की बाध्यता से मुक्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त यह कानून उन सभी बातों को अमान्य साबित करता है जिनके अनुसार किसी व्यक्ति को बंधुआ श्रम के रूप में अपनी सेवाऐं देने के लिए बाध्य किया जा रहा हो। इस अधिनियम ने सभी बंधुआ मजदूरों को एकपक्षीय रूप के बन्धन से मुक्त कर दिया और साथ ही उनके कर्जों को भी समाप्त कर दिया।

इस प्रकार एक व्याप्त कुरीति को समाप्त करने हेतु लम्बे अरसे से चले आ रहे प्रयास सफल हुए। प्रावधानों को कानूनी रूप देकर केंद्र सरकार ने विविध रूपों में प्रचलित वर्षों की अमानवीय प्रथा को समाप्त किया।

10.7 बंधुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1976 के प्रावधान एवं क्रियान्वयन

बंधुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1976 का मुख्य ध्येय कमजोर वर्गों के आर्थिक और वास्तविक शोषण को रोकना और उनसे सम्बद्ध मामलों में कार्रवाई किया जाना है। इस अधिनियम ने सभी बंधुआ मजदूरों को एकपक्षीय रूप से बंधन से मुक्त कर दिया और साथ ही उनके कर्जों को भी समाप्त कर दिया। इस अधिनियम द्वारा बंधुआ प्रथा को दण्डनीय अपराध

माना गया है। यह कानून श्रम मंत्रालय और संबंधित राज्य सरकारों द्वारा प्रशासित और कार्यान्वित किया जा रहा है। राज्य सरकारों के प्रयासों की अनुपूर्ति करने के लिए मंत्रालय द्वारा बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास की एक केन्द्र प्रायोजित योजना भी शुरू की गई थी। इस योजना के अंतर्गत, राज्य सरकारों को बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास के लिए समान अनुदानों (50:50) के आधार पर केन्द्रीय सहायता मुहैया कराई जाती है।

बंधुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1976 के मुख्य प्रावधान इस प्रकार हैं-

1. बंधुआ मजदूर प्रणाली को समाप्त किया जाए और प्रत्येक बंधुआ मजदूर को मुक्त किया जाए तथा बंधुआ मजदूरी की किसी बाध्यता से मुक्त किया जाए।
2. ऐसी कोई भी रीति-रिवाज करार या कोई अन्य लिखित बाध्यताऐं जिसके कारण किसी व्यक्ति को बंधुआ मजदूरी जैसी कोई सेवा प्रदान करनी होती थी, को अब निरस्त कर दिया गया है।
3. इस अधिनियम के लागू होने से एकदम पहले कोई बंधुआ ऋण या ऐसे बंधुआ ऋण के किसी हिस्से का भुगतान करने की बंधुआ मजदूर की हरेक देनदारी समाप्त हो गई, मान ली जाएगी।
4. इस अधिनियम के अंतर्गत कोई बंधुआ मजदूरी करने की मजबूरी से स्वतंत्र और मुक्त किए गए किसी भी व्यक्ति को उसके घर या अन्य आवासीय परिसर जिसमें वह रह रहा/रही हो, बेदखल नहीं किया जाएगा।
5. किसी भी बंधुआ मजदूर की समस्त सम्पत्ति जो इस अधिनियम के लागू होने से एकदम पूर्व किसी गिरवी प्रभार, ग्रहणाधिकार या बंधुआ ऋण के संबंध में किसी अन्य रूप में भारग्रस्त हो, जहां तक बंधुआ ऋण से सम्बद्ध है, मुक्त मानी जाएगी और ऐसी गिरवी, प्रभार, ग्रहणाधिकार या अन्य बोझ से मुक्त हो जाएगी।
6. राज्य सरकार जिला मजिस्ट्रेट को ऐसी शक्तियां प्रदान कर सकती है और ऐसे कर्तव्य प्रदान कर सकती है जो यह सुनिश्चित करने के लिए जरूरी हो कि इस अधिनियम के प्रावधानों का उचित अनुपालन हो।
7. इस अधिनियम के प्रवृत्त होने के बाद, कोई व्यक्ति यदि किसी को बंधुआ मजदूरी करने के लिए कहता है तो उसे कारावास और जुर्माने का दण्ड भुगतान होगा। इसी प्रकार यदि कोई बंधुआ ऋण अग्रिम में देता है, वह भी दण्ड का भागी होगा।
8. कोई भी उधारदाता किसी बंधुआ ऋण के प्रति कोई अदायगी स्वीकृत नहीं करेगा जो इस अधिनियम के प्रावधानों के कारण समाप्त हो गया हो या समाप्त मान लिया गया हो या पूरा चुकता मान लिया गया हो।
9. अधिनियम के तहत प्रत्येक अपराध संज्ञेय और जमानती है और ऐसे अपराधों पर अदालती कार्रवाई के लिए कार्रवाई मजिस्ट्रेट को न्यायिक मजिस्ट्रेट की शक्तियां दिया जाना जरूरी होगा।

10. इस प्रकार प्राधिकृत जिला मजिस्ट्रेट और उसके द्वारा प्राधिकृत अधिकारी ऐसे बंधुआ मजदूरों के आर्थिक हितों की सुरक्षा और संरक्षण करके मुक्त हुए बंधुआ मजदूरों के कल्याण का संवर्धन करेंगे। तथा
11. प्रत्येक राज्य सरकार सरकारी राजपत्र में अधिसूचना के जरिए प्रत्येक जिले और प्रत्येक उपमण्डल में इतनी सतर्कता समितियां, जिन्हें वह उपयुक्त समझे, गठित करेगी।

प्रत्येक सतर्कता समिति के कार्य इस प्रकार हैं-

- इस अधिनियम के प्रावधानों और उनके तहत बनाए गए किसी नियम को उपयुक्त ढंग से कार्यान्वित करना सुनिश्चित करने के लिए किए गये प्रयासों और कार्रवाई के संबंध में जिला मजिस्ट्रेट या उसके द्वारा विनिर्दिष्ट अधिकारी को सलाह देना;
- मुक्त हुए बंधुआ मजदूरों के आर्थिक और सामाजिक पुनर्वास की व्यवस्था करना;
- मुक्त हुए बंधुआ मजदूरों को पर्याप्त ऋण सुविधा उपलब्ध कराने की दृष्टि से ग्रामीण बैंकों और सहकारी समितियों के कार्य को समन्वित करना;
- उन अपराधों की संख्या पर नजर रखना जिसका संज्ञान इस अधिनियम के तहत किया गया है;
- एक सर्वेक्षण करना ताकि यह पता लगाया जा सके कि क्या इस अधिनियम के तहत कोई अपराध किया गया है; तथा
- किसी बंधुआ ऋण की पूरी या आंशिक राशि अथवा कोई अन्य ऋण, जिसके बारे में ऐसे व्यक्ति द्वारा बंधुआ ऋण होने का दावा किया गया हो, की वसूली के लिए मुक्त हुए बंधुआ मजदूर या उसके परिवार के किसी सदस्य या उस पर आश्रित किसी अन्य व्यक्ति पर किए गए मुकदमे में प्रतिवाद करना।

इस अधिनियम के लागू होते ही ढेर सारी विसंगतियां सामने आना शुरू हो गई। फलस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय ने ढेर सारे जनहित याचिकाओं की एक साथ सुनवाई करते हुए इस अधिनियम की ढेर सारे प्रावधानों को स्पष्ट किया। बंधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत सरकार वाद में न्यायालय ने जनहित याचिकाओं को अनुच्छेद 32 के अंतर्गत वैधता भी प्रदान की तथा बंधुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1976 के प्रावधानों को विस्तृत कर सकारात्मक रूप दिया।

राज्य एवं केंद्र सरकारों द्वारा बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास के लिए लागू की गई कुछ योजनाऐं भी लागू की गयी हैं जिनका प्रभाव सकारात्मक एवं सार्थक रहा है। श्रम एवं रोजगार मंत्रालय द्वारा बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास के लिए मई,1978 में केन्द्रीयकृत रूप से प्रायोजित योजना आरम्भ की गई जिसके अंतर्गत इन श्रमिकों के पुनर्वास के लिए राज्य एवं केन्द्र सरकार द्वारा सहायता प्रदान की जाती है। साथ ही राज्य सरकारों द्वारा बंधुआ मजदूरों के लिए कुछ योजनाऐं भी प्रारम्भ की गई। बंधुआ श्रमिकों की पहचान करने के लिए जिलेवार सर्वेक्षण भी कराया जाता

है ताकि उन्हें शत-प्रतिशत सहायता प्रदान करवाई जा सके और अब इन श्रमिकों को दिए जाने वाला अनुदान 10,000 रूपए से बढा कर 20,000 रूपए कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों को यह भी सलाह दी गई कि बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास के लिए प्रायोजित योजना को अन्य योजनाओं जैसे स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना, अनुसूचित जातियों के लिए विशेष संघटक योजना व जनजाति योजनाओं के साथ जोड़े जिससे उन्हें सभी लाभ प्राप्त हो सके। भूमि विकास, कम लागत वाली आवासीय इकाईयों का प्रावधान, पशु पालन, डेयरी व मुर्गी पालन, वर्तमान कौशल विकसित करने के लिए विशेष प्रशिक्षण, आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति, बच्चों को शिक्षित करना तथा उनके अधिकारों की रक्षा करना इनमे शामिल है। हरियाणा, अरूणाचल प्रदेश, बिहार, छत्तीसगढ, दिल्ली, गुजरात, झारखण्ड, कर्नाटक, उतराखण्ड, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र व मणिपुर राज्यों को बंधुआ श्रमिकों के सर्वेक्षण व जागरूकता सृजन कार्यक्रमों के लिए राशि दी गई है। श्रम व रोजगार मंत्रालय के आंकडों से पता चला है कि वर्ष 1997-98 के बाद ठोस प्रयासों के कारण बंधुआ मजदूरों की संख्या में भारी कमी आई है। साथ ही केंद्र सरकार राज्य सरकार के सहयोग से देश में बंधुआ मजदूरी के अभिशाप से गरीबों को मुक्त करने के लिए अनेकों रोजगारोन्मुखी कार्यक्रम बना कर लागू कर रही है। अब इन बंधित श्रमिकों का भी दायित्व बनाता है कि वे जागरूक होकर और किसी प्रकार के दबाव में न आकर इन कल्याणकारी योजनाओं का लाभ उठाऐं और समाज की मुख्यधारा में लौटने की ओर कदम बढाएं। अभी हाल में ही प्रधानमंत्री कार्यालय के निर्देशों के अनुरूप बंधुआ मजदूर प्रणाली उन्मूलन कानून, 1976 के क्रियान्वयन की निगरानी के लिए श्रम एवं रोजगार सचिव की अध्यक्षता में एक विशेष दल भी गठित किया गया है, जिसकी अब तक क्षेत्रवार 18 बैठकें हो चुकी हैं। सरकार ने 1980 में ऐलान किया था कि अब तक 120500 बंधुआ मजदूरों को आजाद कराया जा चुका है। श्रम एवं रोजगार मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट के मुताबिक देश में 19 प्रदेशों से 31 मार्च 2014 तक देश भर में 286612 बंधुआ मजदूरों की पहचान की गई और उन्हें मुक्त कराया गया।

स्पष्ट है कि बंधुआ मजदूरी का उन्मूलन सिर्फ कागजों पर ही हुआ है। आंतरिक स्तर पर बड़ी संख्या में लोगों के विस्थापन के कारण बंधुआ मजदूरी और महिलाओं का देह व्यापार हो रहा है। अतः इसमें मूलभूत सुधार की तत्काल आवश्यकता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. वर्तमान समय में बंधुआ मजदूरी सबसे अधिक किस महाद्वीप में होती है?
2. बंधुआ मजदूरों की सबसे ज्यादा तादाद भारत में किस क्षेत्र में दिखती है ?
3. भारत के किस राज्य में बंधुआ मजदूरों की संख्या सर्वाधिक है?
4. बंधुआ मजदूरी उन्मूलन अधिनियम कब से लागू किया गया है?
5. बंधुआ मजदूरी उन्मूलन कानून भारत सरकार के किस मंत्रालय द्वारा प्रशासित और कार्यान्वित किया जा रहा है?

10.8 सारांश

बंधुआ मजदूरी उन्मूलन अधिनियम के द्वारा श्रमिकों को उनकी जमीन लौटा दी गई और उन्हें कारावास, जुर्माना आदि से भी मुक्त कर दिया गया और साथ ही साथ ऋण चुकाने की अवधि को भी बढाया गया। इन सभी विशेषताओं के साथ देश में बंधुआ मजदूरी को लेकर लोगों में जागरूकता बढी और बंधित श्रमिकों ने अपने अधिकार व कर्तव्य जाने। बंधुआ मजदूरी उन्मूलन अधिनियम,1976 के लागू होने के साथ ही बंधुआ मजदूरी पर पाबंदी लग चुकी है लेकिन हकीकत यह है कि श्रम कानूनों के लचीलेपन के कारण बंधुआ मजदूरों के शोषण का सिलसिला जारी है। हालांकि मनरेगा जैसी योजनाओं की मदद से बेहाली में जीवन गुजारने वाले विस्थापितों की संख्या में कमी आई है। आजादी के इतने सालों बाद भी हमारे देश में मजदूरों की हालत दयनीय है। शिक्षित और जागरूक न होने के कारण इस तबके की तरफ किसी का ध्यान नहीं गया है। बीते दिनों बीस राज्यों व केंद्र शासित प्रदेशों के कई शहरों में हुये एक सर्वेक्षण आधारित अध्ययन ने देश में बंधुआ मजदूरी के मामले में सरकारी दावों की पोल खोल रख दी है। असंगठित क्षेत्रों के कामगारों के लिये बनायी गई 'राष्ट्रीय अभियान समिति' की अगुवाई में मजदूरों के लिए काम कर रहे कई मजदूर संगठनों व गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा किये गये इस राष्ट्रव्यापी अध्ययन से पता चलता है कि देश में बंधुआ मजदूरी अब तक बरकरार है। भले ही इसका स्वरूप आज के उद्योगों की नयी जरूरतों के हिसाब से बदला है लेकिन असंगठित क्षेत्रों में हो रहा ज्यादातर श्रम किसी न किसी रूप में बंधुआ मजदूरी का ही एक रूप है। बार-बार यह तथ्य सामने आया है कि आज देश के ज्यादातर इलाकों में बंधुआ मजदूरी की परंपरा के फिर से जड़ पकड़ने के पीछे पलायन और विस्थापन का अभिशाप निर्णायक भूमिका निभा रहा है। सरकार को चाहिए कि वह श्रम कानूनों का सख्ती से पालन कराए, ताकि मजदूरों को शोषण से निजात मिल सके।

10.9 शब्दावली

उन्मूलन- समाप्ति या नाश, बलात् श्रम- मजदूरी या बिना मजदूरी के बलपूर्वक श्रम करवाना, अध्यादेश- विधानमंडल की कार्यवाही न होने की स्थिति में राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा लाया गया कानून, संविधान- राजनीतिक व्यवस्था को नियमित एवं नियंत्रित करनेवाला देश का सर्वोच्च कानून

10.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. एशिया में **2.** कृषि क्षेत्र में **3.** महाराष्ट्र में **4.** 1976 में **5.** श्रम मंत्रालय

10.11 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. के0सरन, 1975, 'लॉ एंड बोंडेड लेबर सिस्टम' नेशनल लेबर इंस्टिट्यूट बुलेटिन, अंक- 11, नयी दिल्ली।
2. महाश्वेता देवी एवं निर्मल घोष,1999, भारत में बंधुआ मजदूर, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

3. गिरीश अग्रवाल एवं कॉलिन गोंसाल्विस, 2010, दलित और कानून, ह्यूमन राइट्स लॉ नेटवर्क, नयी दिल्ली।
4. श्रीराम माहेश्वरी, 2009, भारतीय प्रशासन, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली।

10.12 सहायक /उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. आर0बी.0 जैन, 2009, भारतीय प्रशासन में समकालीन मुद्दे, विशाल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
2. सुषमा यादव एवं राम अवतार शर्मा, 1997, भारतीय राजनीति ज्वलंत प्रश्न, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

10.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. बंधुआ मजदूरी का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा भारत में प्रचलित बंधुआ मजदूरी प्रथा का वर्णन कीजिए।
2. स्वतन्त्रता से पूर्व एवं स्वतन्त्रता के पश्चात बंधुआ मजदूरी प्रथा के उन्मूलन के प्रमुख प्रयासों का मूल्यांकन कीजिए।
3. बंधुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1976 क्या है? विस्तार से बतायें।
4. बंधुआ मजदूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम,1976 के प्रावधान एवं क्रियान्वयन पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 11 हित समूह एवं नीति-निर्माण

इकाई की संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 उद्देश्य
11.2 हित समूह
11.3 हित समूह और लोक नीति
11.4 हित समूह एवं नीति-निर्माण
11.5 हित समूह और राज्य
11.6 सारांश
11.7 शब्दावली
11.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
11.10 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
11.11 निबंधात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

समूह का समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। समाज के विकास का प्रत्येक अवस्था में समूह किसी न किसी तरह से विद्यमान रहे हैं। परन्तु जब हम हित समूह की बात करते हैं तो अपेक्षाकृत संगठित समूह के अर्थ को प्रकट करता है और हित समूह में वें सदस्य होते हैं जो समान विचार रखते हैं। इस हित समूह के हित भी समान होते हैं। ये अपने हितों की सिद्धि करने के लिए सरकारी संस्थाओं, संगठनों और अभिकरणों को प्रभावित करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील होते हैं।

इस इकाई में हम हित समूह का समग्र अध्ययन करेंगे। जिसमें सर्वप्रथम इसके अर्थ का अध्ययन करेंगे। इसके पश्चात यह देखेंगे कि किस प्रकार से हित समूह नीति-निर्माण में परोक्ष रूप से अपनी प्रभावकारी भूमिका निभाते हैं। हम यह भी अध्ययन करेंगे कि राज्य की बदलती प्रकृति के अनुरूप हित समूह की महत्ता और भूमिका पर प्रभाव पड़ता है। जहाँ लोकतांत्रिक शासन में हित समूह सक्रिय और प्रभावशाली होते हैं वहीं, अधिनायकवादी शासन में इनका प्रभाव उतना व्यापक और निर्णायक नहीं होता है।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- हित समूह के अर्थ और प्रकृति को जान सकेंगे।
- हित समूह और लोकनीति के सम्बन्ध को जान सकेंगे।
- लोकनीति के निर्माण में हित समूह की भूमिका को जान सकेंगे।
- राज्य की प्रकृति के अनुरूप हित समूह को जान सकेंगे।

11.2 हित समूह

हित समूह वह 'समूह' है जिसके सदस्य समान विचार के होते हैं, उनके समान हित होते हैं। इन हितों की सिद्धि के लिए ये सरकारी संस्थाओं, संगठनों और अभिकरणों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इन हित समूहों के आकार, शक्ति, धन और उद्देश्यों में भिन्नता भी दिखाई देती है। इस भिन्नता का कारण यह होता है कि ये समूह हितों के आधार पर बनते हैं। यह सम्भव है कि किसी हित समूह का निर्धारित लक्ष्य अल्पकालिक हित हो और किसी का दीर्घकालिक हित हो। साथ ही यह भी सम्भव है कि कोई हित समूह किसी एक लक्ष्य को ध्यान में रखकर सक्रिय हो, तो कोई अन्य हित समूह कई हितों की सिद्धि के लिए बनाया गया हो।

इस प्रकार हितों की बढ़ती संख्या के साथ और उसकी अवधि के साथ हित समूहों की गतिविधि का क्षेत्र निर्धारित होता है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि ये हित समूह शासन की उन नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं जो इनके हितों को प्रभावित करती है।

हित समूह को और अधिक स्पष्टता से समझने के लिए समूह को समझना आवश्यक है। क्योंकि हित समूह भी एक सामाजिक समूह है जो हित विशेष या कुछ हितों की सिद्धि के लिए बनता है।

आगबर्न और निमकाफ ने कहा है कि 'जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होते हैं और एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं तो सामाजिक समूह का निर्माण होता है।' परन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि किस प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध से समूह का निर्माण होता है। उक्त परिभाषा के विपरीत मर्टन का कथन है कि क्षणिक सामाजिक संबंध से समूह का निर्माण नहीं होता है। वरन् समूह के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि सदस्यों के बीच होने वाली अन्तःक्रिया में बारम्बरता(Frequency) हो तथा उसमें स्थायित्व के लक्षण भी हों। तथा समूह के बाहर के सदस्यों के द्वारा उस समूह सदस्य को मान्यता भी दी जाए।

इस प्रकार समूह निर्माण के लिए कुछ बुनियादी तथ्य महत्वपूर्ण हैं-

1. सर्वप्रथम दो या दो से अधिक व्यक्तियों की उपस्थिति हो।
2. इनके सदस्यों के बीच होने वाली सामाजिक अन्तःक्रिया में बारम्बारता(Frequency) हो, जो काफी हद तक स्थायित्व को प्रकट करते हो।
3. संबंधित समूह के सदस्य स्वंय को उस समूह का सदस्य मानते हों और अन्य उन्हें इस रूप में स्वीकार करते हों।

जॉनसन समूह के लिए सामाजिक सम्बन्ध का होने से आगे भी कुछ आवश्यक मानते हैं। वह है समूह के सदस्यों में सहयोग का पाया जाना। समूह के अर्थ को जानने के पश्चात अब हम हित समूह को जानने का प्रयत्न करते हैं। हित समूह दो शब्दों से मिलकर बनता है, हित और समूह। अब यहाँ ध्यान देने वाला महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि समूह के पहले हित है, अर्थात हित पहले है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कि जो समूह किसी विशेष हित या हितों की सिद्धि के लिए कुछ समान विचार वाले व्यक्तियों द्वारा बनाये जातें हैं और ये शासन, प्रशासन की उन नीतियों और

कार्यक्रमों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं, जो इनके हितों को सकारात्मक/नकारात्मक रूप से प्रभावित करते हैं, या प्रभावित कर सकते हैं।

जैसा कि हम सभी इस बात से अवगत हैं कि हमारे देश में संसदीय जनतन्त्र को अपनाया गया है। जो प्रतियोगी राजनीतिक दलों के द्वारा संचालित होता है। अर्थात सत्ता को कौन धारण करेगा, इसका निर्णय एक चुनाव प्रक्रिया से होता है, जिसमें कई राजनीतिक दल भाग लेते हैं। इन राजनीतिक दलों के अपने कार्यक्रम होते हैं। यद्यपि ये कोशिश करते हैं कि देश के बहुतायत भाग के हितों को अपनी नीतियों और कार्यक्रमों में शामिल कर सकें। लेकिन कभी-कभी यह होता है कि कुछ व्यक्ति या व्यक्ति समूह के हितों को वे शामिल नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में कुछ व्यक्ति जो अपने हितों की सिद्धि करना चाहते है, वे इस तरह के समान हित और विचारधारा के आधार पर एक समूह का निर्माण करते है जो इनके हितों को ध्यान में रखते हुए शासन के संस्थाओं, संगठन, और अभिकरणों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार से सक्रिय से समूह ही हित समूह कहलाते हैं।

11.3 हित समूह और लोक नीति

इस इकाई के इस भाग में हम लोकनीति और हित समूहों के बीच संबंध का अध्ययन करेगें। इसी क्रम में यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि हित समूह हमेशा नीति-निर्माण करने वाली संस्थाओं, अभिकरणों और संगठनों को प्रभावित कर अपने उद्देश्यों की सिद्धि का प्रयत्न करते रहते हैं।

हित समूहों के संगठन और आस्तित्व के प्रमुख कारकों में संबंधित देश की सामाजिक-आर्थिक संरचना की प्रकृति पर निर्भर करता है। क्योंकि सामाजिक-आर्थिक संरचना के अनुरूप हितों के उद्-भव के फलस्वरूप हित समूहों की संरचना, प्रकृति निर्भर करती है। जैसा कि टॉमस आरण्डाई ने कहा है कि ''आधुनिक शहरी संस्थागत समाजों में हित समूहों का बाहुल्य है। इनकी विविधता और बहुलता के कारण ऐसी संभावना का जन्म ही नहीं हो पाता कि कोई एक हित समूह समस्त क्षेत्रों में नीति-निर्माण को निर्धारित कर सके।'' इसके विपरीत गरीब, ग्रामीण तथा कृषि समाजों में कम हित समूह उत्पन्न होते हैं, परन्तु अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में इन हित समूहों के पास नीति-निर्माण को प्रभावित करने के अधिक अवसर होते हैं। वैश्विक स्तर पर जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि विकासशील और अल्पविकसित देशों में विकसित देशों की अपेक्षा कम हित समूह पाये जाते हैं, साथ ही यह भी दिखाई देता है कि संकीर्णताओं से भी प्रेरित होते हैं। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये विकासशील या अल्पविकसित देशों में कम महत्व रखते हैं। देश कोई भी हो, चाहे वहाँ लोकतान्त्रिक सरकार हो या अधिनायकवादी सरकार हो, हित समूह पाये जाते हैं। यद्यपि अधिनायकवादी राजनीतिक व्यवस्था में वे उतनी प्रभावशाली भूमिका का निर्वहन लोकनीति के सन्दर्भ में नहीं निभा पाते। क्योंकि वहाँ पर अधिनायक का निर्णय अन्तिम होता है, जिस पर कोई सवाल नहीं खड़े किये जा सकते हैं।

चूंकि जैसा कि हम ऊपर यह स्पष्ट कर चुके हैं कि हित समूह नीतियों का निर्माण करने वाली संस्थाओं, संगठनों और अभिकरणों को प्रभावित कर अपने हितों के अनुरूप नीति-निर्माण

करवाने हेतु सक्रिय होते हैं, परन्तु वे उसके सदस्य नहीं होते हैं। अर्थात वे उस संस्था, संगठन और अभिकरण के सदस्य नहीं होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये राजनीतिक दल नहीं होते हैं। चूँकि राजनीतिक दल प्रत्यक्ष रूप से चुनाव प्रक्रिया में भाग लेते हैं और सत्ता प्राप्त कर नीतियों का निर्माण करते हैं। जबकि हित समूह बाहर से अपने हितों के अनुरूप हितों के पक्ष में नीतियों के निर्माण हेतु प्रभावित करते हैं।

इस प्रकार समान हितों पर आधारित कई प्रकार के हित समूह हो सकते हैं। समान आदर्शों पर आधारित समूह जो एक समान आदर्शो और लक्ष्यों व गन्तब्यों में विश्वास करने वाले हों। यदि भारत का उदाहरण लें तो किसानों के हितों पर आधारित समूह हैं जो अपने हितों (किसान के हितों) की सिद्धि हेतु प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। व्यापारियों के समान हित पर आधारित हित समूह भी हो सकते हैं। वर्तमान में उपभोक्ताओं के हितों के आधार पर भी संगठित हित समूह दिखाई दे रहे हैं। जिनके प्रयासों और अन्य कारकों के सम्मिलित प्रभाव से भारत में उपभोक्ता संरक्षण कानून भी बना और उसके आधार पर उपभोक्ताओं के हितों के संरक्षण का कार्य किया जा रहा है। इन समूहों का मुख्य उद्देश्य होता है लोकनीति को प्रभावित करना। अर्थात लोकनीति को अपने अनुरूप ढ़ालने का प्रयास करना जिससे उनके अपने हितों की भी सिद्धि हो सके।

यहाँ एक तथ्य को स्पष्ट करना भी आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना हित समूहों की गतिविधि की प्रकृति को सही तरीके से नहीं जान सकते। जहाँ पर लोकतान्त्रिक शासन हो वहाँ पर बहुमत की प्राप्ति के लिए समाज के अधिकांश समूहों का सहयोग आवश्यक होता है। इसलिए लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों और हित समूहों में सम्बन्ध दिखाई देते हैं। यह अन्योन्याश्रय(Interdependence) का संबंध हो जाता है। क्योंकि बहुमत की प्राप्ति के लिए राजनीतिक दलों को हित समूहों के माध्यम से भी जन समर्थन की आवश्यकता होती है, जब कि हित समूहों को अपने हितों की नीति में शामिल करने के लिए राजनीतिक दलों पर भी निर्भर होना पड़ता है। क्योंकि राजनीतिक दलों के माध्यम से अपने हितों को उनके घोषणापत्र में शामिल करवाने और जब वह राजनीतिक दल सत्ता में आ जाए तो फिर उसे नीति के रूप में अपनाने हेतु प्रभावित करते हैं।

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर जब हम देखते हैं तो स्पष्ट होता है कि राजनीति विज्ञान और लोक प्रशासन के अध्येता के लिए अध्ययन और शोध के ज्वलंत विषयों में से एक हित समूह और लोकनीति दिखाई देता है, जिसमें हित समूहों की राजनीति का अध्ययन किया जाता है। अर्थात हित समूह प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भागीदारी किये बिना किस प्रकार से नीति-निर्माण करने वाली संस्थाओं को प्रभावित कर अपने हितों की सिद्धि करते हैं।

11.4 हित समूह और नीति-निर्माण

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के मुख्य दायित्वों में नीति-निर्माण प्रमुख होता है। क्योंकि अपनी नीतियों के माध्यम से जहाँ वे एक तरफ जनता की आकांक्षाओं-अपेक्षाओं को अभिव्यक्त करते हैं तो दूसरी तरफ जनता के हितों और आकांक्षाओं के प्रति अपनी

संवेदनशीलता को प्रकट करते हैं। यह तथ्य तो एक लोकतान्त्रिक शासन में और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। जैसा कि हम यह ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि भारत में संसदीय लोकतन्त्र अपनाया गया है, जिसमें संसद के निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल को ही सरकार के गठन और संचालन का अधिकार प्राप्त होता है। बहुमत प्राप्ति के लिए देश के अधिकांश हित समूहों का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। चूँकि भारत एक विविधतापूर्ण समाज है जहाँ जाति, पंथ, सम्प्रदाय, भाषा, भोगोलिक संरचना में विविधता के साथ जुड़ी सांस्कृतिक भिन्नता पाई जाती है। इसलिए बहुमत प्राप्ति के लिए सभी दल इन सभी के समर्थन की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ पर राजनीतिक दल प्रभावकारी तरीके से अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं, वहाँ पर हित समूह उतने प्रभावशाली नहीं हो पाते हैं। परन्तु जहाँ राजनीतिक दल अपनी भूमिका का निर्वाह सफलतापूर्वक नहीं कर पाते वहाँ पर हित समूह नीति-निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। खासतौर से भारत जैसे देश में जहाँ हितों का बाहुल्य है। अर्थात समूहों की भिन्नता है और उन समूहों के अलग हित हैं।

यहाँ एक तथ्य और स्पष्ट करना आवश्यक है कि हित समूह केवल अपने समूह के सदस्यों के हितों की सिद्धि के लिए ही प्रयत्नशील नहीं होते हैं। इसके आगे भी वे अपने हितों से समानता रखने वाले समूहों के हितों की सिद्धि के लिए भी प्रयत्नशील रहते हैं। अपनी इस भूमिका का निर्वाह उनके लिए लोकतान्त्रिक शासन में अपेक्षाकृत आसान होता है। क्योंकि लोकतन्त्र में शासन को लगातार बने रहने के लिए जनमानस के सहयोग की अपेक्षा रहती है। भारत जैसे समाज में तो हित समूहों की अधिकता (बहुलता) है। अर्थात अलग-अलग प्रकार के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले अलग-अलग हित समूह। इस प्रकार के समाज से सहयोग की अपेक्षा अन्ततः हित समूहों से सहयोग की अपेक्षा के रूप में दिखाई देती है, जिससे राजनीतिक व्यवस्था में हित समूहों की महत्ता और प्रभाव में वृद्धि हो जाती है। लेकिन अधिनायवादी शासन में हित समूह उतने प्रभावशाली नहीं होते हैं, क्योंकि उनमें अधिनायक की इच्छा सर्वोपरि होती है न कि जन-सामान्य की आकांक्षाऐं और अपेक्षाऐं। भारत में आजादी के बाद सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक वातावरण में काफी परिवर्तन दिखाई देता है। अब सभी जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र के वासी को समान दर्जा (भारतीय नागरिक) प्राप्त है जो कानून के समक्ष समान हैं तथा कृषि में विकास एवं उद्योगों के विकास के कारण नये वर्गों का उदय हुआ। उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब तथा महाराष्ट्र के कुछ भागों में कृषि के विकास के साथ कृषि पर आश्रित नये सम्पन्न तबके का उदय हुआ, जिसने अपने हितों की रक्षा के लिए संघ बनाए। उन संघों ने अपने कृषक हितों की रक्षा के लिए सफल प्रयास किये हैं। जिसमें उत्तर प्रदेश में भारतीय किसान यूनियन, महाराष्ट्र में शेतकारी संगठन आदि।

इसके साथ ही औद्योगिक क्षेत्र के विकास और आर्थिक सुधार को लागू करने से नये औद्योगिक अभिजात्य वर्ग का उदय हुआ। साथ ही देश में नीतियों के निर्माण में सहायक की भूमिका अदा करने वाले तथा उन नीतियों के क्रियान्वयन से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित एक विस्तृत आकार की नौकरशाही का उद्-भव हुआ। इन सभी ने अपने हितों की रक्षा के लिए संघ

बनाए। ये संघ संगठित हित समूह के रूप में हमारे समक्ष दिखाई देते हैं। इस प्रकार से स्पष्ट है कि भारत में मुख्यतः तीन प्रमुख क्षेत्रों से संगठित समूह हैं। वे तीन प्रमुख हैं-

1. किसानों के हित से संबंधित।
2. उद्योगों के उद्योगपतियों/कार्मिकों अर्थात औद्योगिक संघ/मजदूरों से संबंधित।
3. नौकरशाही से संबंधित संघ।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रथम अर्थात किसानों के हित से संबंधित हित समूहों ने किसानों के हितों की रक्षा हेतु नीतियां बनवाने में उस हद तक सफलता नहीं प्राप्त की है, जिस हद तक अन्य दोनों ने प्राप्त की है। उसका कारण है कि किसान आधारित हित समूह लोकतन्त्र में अपनी क्षमता का प्रभावशाली ढंग से प्रयोग नहीं कर रहे हैं। इसका तात्पर्य है कि ये संगठित रूप से सत्ता के अस्तित्व के निर्धारण में प्रभावशाली नहीं है। अर्थात वह किसान के रूप में किसी राजनीतिक दल की जीत और हार के निर्धारक के रूप में अपने को सामने नहीं ला सका है।

दूसरे क्रम पर मजदूर संघों ने भी बहुत सफल प्रभाव नीति-निर्माण में नहीं छोड़ा है। लेकिन उद्योगों से संबंधित हित समूहों ने नीति-निर्माण को बहुत प्रभावित किया है, क्योंकि चुनाव में राजनीतिक दलों को ये बड़ी संख्या में आर्थिक सहायता करते हैं (चंदे के रूप में)। इसलिए सत्ता में आने वाले राजनीतिक दल उनके हितों को नजरअंदाज नहीं कर पाते हैं। भारत में नौकरशाही की संरचना विशाल है। इसकी विशालता के प्रमुख कारण एक तो देश की विशालता, दूसरी संघ और राज्य दोनों स्तर पर प्रशासनिक ढ़ाँचे का पाया जाना है। इस द्विस्तरीय नौकरशाही ने अपने हितों की रक्षा के लिए बड़े ही संगठित तरीके से हित समूह बना रखे हैं। ये काफी हद तक अपने हितों की सिद्धि में सफल भी हैं, क्योंकि ये नीति-निर्माण में सहयोगी की भूमिका में हैं और नीति के क्रियान्वयन के स्तर पर तो प्रत्यक्ष जिम्मेदारी निभाते हैं।

11.5 हित समूह और राज्य

हित समूह और नीति-निर्माण इकाई के अध्ययन के इस चरण में हम राज्य की प्रकृति में भिन्नता के साथ हित समूहों के स्वरूप का अध्ययन करेंगे। आज विश्व में मुख्य रूप से दो तरह ही राजव्यवस्थाऐं प्रचलन में हैं, पहला- लोकतान्त्रिक और दूसरा- अधिनायकवादी।

लोकतन्त्र में सरकार के गठन की प्रक्रिया में जनता का निर्णायक योगदान होता है। क्योंकि जनता के मत के आधार पर ही बहुमत प्राप्त दल को सरकार के गठन और संचालन का अधिकार होता है। जो मतदान कर रहे हैं (मतदाता) उनके विभिन्न हित होते हैं और उन हितों के आधार पर समान हित वाले हित समूह का निर्माण करते हैं जो उनके मतदान व्यवहार को प्रभावित करता है। अर्थात वे किस राजनीतिक दल को अपना मत देंगे, वह इस बात पर निर्भर करता है कि कोई राजनीतिक दल किस हद तक उनके हितों को अपने घोषणा पत्र में शामिल करता है और सरकार में आने पर उसका क्रियान्वयन भी किस हद तक करता है। इसीलिए यह भी दिखाई देता है कि ये हित समूह अलग-अलग समय पर अलग-अलग दलों के साथ खड़े होते हैं। इसलिए किसी भी लोकतान्त्रिक शासन में यह संभव नहीं है कि वह हित समूहों की

मांग की लम्बे समय तक अनदेखी कर दें, जबकि अधिनायकवादी सरकार में निर्णायक स्थिति में जनता नहीं होती वरन् अधिनायक होता हैं। इसलिए इस शासन व्यवस्था में हित समूहों की प्रभावशाली सक्रियता नहीं दिखाई देती है।

हित समूहों और राज्य के बीच के संबंधों का सही अध्ययन करने के लिए इसमें एक पक्ष और शामिल करना होगा, वह है- संगठित हित समूह और असंगठित हित समूह। संगठित हित समूह आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न तथा राजनीतिक दुष्टि जागरूक होते हैं, इसलिए वे सरकार की संस्थाओं, संगठनों और उसके अभिकरणों पर अपने हितों की सिद्धि के अनुरूप प्रभावशाली दबाव बनाने में सफल भी होते हैं। जबकि असंगठित हित समूह आर्थिक दृष्टि से कमजोर तथा प्रायः राजनीतिक दृष्टि से उस हद तक जागरूक नहीं होते हैं, जिस हद तक संगठित हित समूह। इसलिए कोई भी लोकतान्त्रिक देश इन असंगठित हित समूहों के सामान्य हितों की दीर्घकालिक अनदेखी नहीं कर सकता क्योंकि सरकार को अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए उनके भी मत सहयोग की आवश्यकता होती है। जब हम भारत को देखते हैं तो पाते हैं कि परम्परागत रूप से मुख्य धारा से वंचित जातियों ने भी अपने हितों को संगठित करने में सफलता प्राप्त की है। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ क्योंकि यहाँ जनतन्त्र है, जिसे बहुमत की जरूरत होती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. यह कथन किसका है कि ''जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होते हैं और एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं तो सामाजिक समूह का निर्माण होता है।''
2. किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के मुख्य दायित्वों में क्या दायित्व प्रमुख होता है?
3. आज विश्व में मुख्य रूप से किस तरह ही राज-व्यवस्थाऐं प्रचलन में हैं?

11.6 सारांश

इस इकाई में हम ने हित समूह के अर्थ प्रकृति का अध्ययन किया है। इसके साथ ही साथ हमने इस बात का भी अध्ययन किया है कि नीति-निर्माण प्रक्रिया में किस प्रकार से ये प्रभाव डालते हैं। हमने इस बात का भी अध्ययन किया है कि शासन की प्रकृति तथा हित समूह की प्रकृति दोनों ही नीति-निर्माण में हित समूह की स्थिति को प्रभावित करते हैं। इसमें हमने यह अध्ययन किया है कि यदि हित समूह संगठित है तो वह नीति-निर्माण करने वाली संस्थाओं, संगठनों और अभिकरणों को अपने हितों के अनुरूप नीति-निर्माण के लिए सफलता पूर्वक प्रभावित करते हैं। जैसे औद्योगिक हितों से सम्बन्धित हित समूह। ये हित समूह बहुत ही प्रभावशाली होते हैं, क्योंकि जहाँ पर लोकतांत्रिक शासन होता है वहाँ पर चुनाव में ये राजनीतिक दलों को चंदे के रूप में आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं, जिससे वे राजनीतिक दल उनके हितों के अनुरूप नीतियों के निर्माण हेतु प्रयास करते हैं। यहाँ हमने यह भी अध्ययन किया कि भारत में लोकतंत्र है, जिसका लक्ष्य सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना करना है। परन्तु आज भी किसानों और मजदूरों के हितों के अनुरूप नीतियां बनाने का कार्य प्राथमिकता के आधार पर नहीं किया जा सका है। अभी तक नीतियों के निर्माण की प्रवृत्ति संगठित क्षेत्र के हित समूहों

के अनुकूल रही है। परन्तु असंगठित क्षेत्र के हित समूहों के हितों को दीर्घकालिक रूप से नजरअंदाज नहीं कर पायेंगे, क्योंकि यह हमारे देश में बहुसंख्यक हैं। लोकतंत्र में बहुसंख्यक के हितों पर भी नीति-निर्माण का दबाव लगातार बनाता रहेगा, क्योंकि चुनाव में जीत के लिए इनके समर्थन की आवश्यकता होगी।

11.7 शब्दावली

समूह- दो या दो से अधिक व्यक्ति, जिनमें परस्पर अन्त:क्रिया हो और वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हों।

लोकतंत्र- वह शासन जिसमें राज्य के नागरिकों की भागीदारी रहती है।

संसदीय शासन- जहाँ कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ संबंध होता है। जो उत्तरदायी शासन होता है, क्योंकि इसमें जनता अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। उन्हीं में से मंत्रीपरिषद के सदस्य नियुक्त किये जाते हैं।

अधिनायकवाद- अंग्रेजी में इसे 'Totalitarianism' कहते हैं। अधिनायकवाद, शासन का वह रूप है जिसमें जिसमें शासन-सत्ता एक व्यक्ति या स्थान पर केन्द्रीत होती है।

11.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. आगबर्न और निमकाफ **2.** नीति-निर्माण **3.** लोकतान्त्रिक और अधिनायकवादी।

11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाऐं, सी0बी0 गेना।
2. तुलनात्मक राजनीति, जे0सी0 जौहरी।
3. भारत का संविधान- एक परिचय, डी0डी0 बसु।
4. आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, जे0सी0 जौहरी।
5. ईपीए- 06 लोकनीति निर्माण मुख्य निर्धारक, बुकलेट-4, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
6. समाजशास्त्र: अवधारणाऐं एवं सिद्धान्त, जे0पी0 सिंह।

11.10 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. तुलनात्मक राजनीति, पी0डी0 शर्मा।
2. भारत का संविधान, ब्रज किशोर शर्मा।

11.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. हित समूह से आप क्या समझते हैं? नीति-निर्माण में इनकी भूमिका की विवेचना कीजिये।
2. हित समूह क्या हैं? हित समूह और लोकनीति में क्या संबंध है।

इकाई- 12 राजनीतिक दल एवं नीति-निर्माण

इकाई की संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 राजनीतिक दल: अर्थ एवं महत्व
12.3 राजनीतिक दल की विशेषताऐं
12.4 राजनीतिक दल एवं नीति-निर्माण
12.5 सारांश
12.6 शब्दावली
12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.8 संदर्भ ग्रन्थ-सूची
12.9 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
12.10 निबंधात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

इस इकाई में हम राजनीतिक दल का अध्ययन एक विशेष सन्दर्भ में करेंगे। जिसमें हम यह देखेंगे कि राजनीतिक दल किस प्रकार से नीति-निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। जहाँ तक राजनीतिक दल की बात है तो यह व्यक्तियों का एक समूह होता है जो कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर सहमत होते हैं और चुनाव प्रक्रिया में भाग लेकर सत्ता प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, जिससे वे नीतियों का निर्माण कर सके और उन्हें लागू कर सके। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि राजनीतिक दल जब सत्ता में नहीं होते तो सत्ता को प्रभावित कर अपने हितों के अनुरूप नीतियों के निर्माण के लिए सत्ता पर दबाव डालते हैं, साथ ही सत्ता प्राप्ति का प्रयत्न भी करते रहते हैं। सत्ता प्राप्ति के उपरान्त एक तरफ नीतियों के निर्माण और क्रियान्वयन की जिम्मेदारी का निर्वहन करते हैं तो दूसरी तरफ सत्ता में बने रहने का प्रयत्न भी जारी रखते हैं। ये राजनीतिक दल अपेक्षाकृत स्थायी संगठन होते हैं। सदस्य की भर्ती होती है, मृत्यु होती है, वे चले भी जाते हैं लेकिन राजनीतिक दल का अस्तित्व बना रहता है। प्रस्तुत इकाई में हम भारत जैसे लोकतान्त्रिक देश में नीति-निर्माण में राजनीतिक दलों की भूमिका का अध्ययन करेंगे, जिसमें यह देखेगें कि उनकी नीतियों के निर्माण के पीछे कौन से बुनियादी तत्व कार्य करते हैं।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राजनीति दल का अर्थ, महत्व और विशेषता को समझ सकेंगे।
- लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों के कार्यशैली को भी जान सकेंगे।
- नीति निर्माण में राजनीतिक दलों की भूमिका और महत्ता का अध्ययन कर सकेंगे।

12.2 राजनीतिक दलः अर्थ एवं महत्व

आधुनिक समय को यदि हम लोकतन्त्र के युग के रूप में परिभाषित करें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि शासन की प्रकृति कोई भी हो सभी अपने को लोकतान्त्रिक ही बताने का प्रयास करते हैं।

आधुनिक लोकतन्त्र को गतिशील यदि कोई करता है तो वह राजनीतिक दल है, क्योंकि राजनीतिक दलों के माध्यम से ही इसको संचालित किया जाता है। इस सन्दर्भ में लोकतन्त्र की एक सामान्य सामान्य परिभाषा देना आवश्यक है। ''लोकतन्त्र वह शासन है जहाँ संबंधित देश के समस्त नागरिकों को चुनाव में भाग लेने (अपने प्रतिनिधि को चुनने/स्वयं प्रतिनिधि के रूप में चुने जाने) की स्वतन्त्रता रखते हों, साथ ही यह चुनाव नियतकालिक हो जो विभिन्न राजनीतिक दलों की उपस्थिति में हों, जहाँ निर्णय बहुमत से लिए जाएं, लेकिन अल्पमत के हित के सुरक्षा की भी गारण्टी हो''। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक दल की लोकतन्त्र में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिए इसके अर्थ को समझना नितांत आवश्यक है। यद्यपि जैसा कि माइकेल कर्टिस ने कहा है कि राजनीतिक दल की सही परिभाषा करना बहुत ही कठिन कार्य है, क्योंकि इस पर उदारवादी और मार्क्सवादियों में पर्याप्त मतभेद है। फिर भी कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओं का अध्ययन कर निष्कर्ष निकालना आसान होगा।

बर्क के अनुसार- राजनीतिक दल एकताबद्ध लोगों का ऐसा निकाय है जो किन्हीं विशेष सिद्धान्तों पर राष्ट्रीय हित को बढ़ावा देने के लिए सहमत होते हैं।

डिजरायली ने कुछ निष्चित सिद्धान्तों का अनुसरण करने के लिए एकीकृत व्यक्तियों के समूह के रूप में राजनीतिक दल को परिभाषित किया है।

लॉ पालोम्बरा ने लिखा है कि ''राजनीतिक दल एक औपचारिक संगठन है, जिसका स्वचेतन व प्रमुख उददेश्य ऐसे व्यक्तियों को सार्वजनिक पदों पर पहुंचना व उन पर बनाए रखना है, जो अकेले या किसी से मिलकर शासनतन्त्र पर नियंत्रण रखेंगे।''

इस प्रकार राजनीतिक दल एक औपचारिक संगठन है, जो जनता को शिक्षित करता है, सार्वजनिक पद के लिए उनकी भर्ती करता है, तथा उन्हें पद प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित करता है और जनता और शासन के निर्णयकर्ताओं के बीच संबंध बनाए रखने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। उक्त परिभाषाओं के आधार पर राजनीतिक दल के कुछ महत्वपूर्ण तत्व कहे जा सकते हैं। जैसे-

1. यह व्यक्तियों का ऐसा संगठन है जो लोकहित और लोकनीति के विषय पर सहमत होते हैं।
2. ये सत्ता संघर्ष की प्रक्रिया में भाग लेते हैं अर्थात सत्ता में नही रहने पर सत्ता प्राप्त करने के लिए संघर्षरत रहते हैं। सत्ता प्राप्त होने पर उसे बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं ताकि लोकहित के मुददे पर लोकनीति का निर्माण कर जनकल्याण के दायित्व का निर्वहन कर सकें।

भारत एक लोकतान्त्रिक देश है, जहाँ नियतकालिक चुनाव की व्यवस्था है, जिसमें वयस्क भारतीय नागरिक (18 वर्ष के) मतदान में भाग लेकर अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह करते हैं। वे मतदान किसी दल को करते हैं, जिससे वह बहुमत प्राप्त कर सकें और सत्ता को धारण कर सरकार का कुशल संचालन करते हुए लोकहित में लोकनीति का निर्माण कर सकें तथा उनका सफलतापूर्वक क्रियान्वयन भी सुनिश्चित कर सकें। इस प्रकार से भारत के साथ ऐसा कोई भी देश जहां पर लोकतन्त्र है वहां पर राजनीतिक दल उसे गतिशील करने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करत

12.3 राजनीतिक दल की विशेषताऐं

यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि हर प्रकार का राजनीतिक संगठन राजनीतिक दल नहीं होता है। राजनीतिक दल के लिएएक मूल तत्व तो यह होता है कि यह सत्ता प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। जिन राजनीतिक दलों को जब सत्ता प्राप्त हो जाए तो वह, सत्ता में बने रहने के लिए और अन्ततः समूहों और संगठनों पर अपना प्रभाव स्थापित करने का निरन्तर प्रयास भी करते हैं। इस प्रकार से सत्ता प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयासरत/प्राप्त सत्ता में बने रहने के लिए संघर्ष राजनीतिक दल का मूलभूत लक्षण माना जाता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी भी प्रकार से सत्ता प्राप्त करने वाले समूह या संगठन को राजनीतिक दल कहेंगे। फिर लोकतान्त्रिक शासन में तो यह और भी संभव नहीं है। क्योंकि राजनीतिक दल तो अपनी नीतियों और कार्यक्रम के साथ अपने प्रत्यासियों के माध्यम से जनता के बीच जाते हैं और जन-समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ताकि वे अपनी जीत के उपरान्त सत्ता प्राप्त कर उन नीतियों और कार्यक्रमों को व्यवहारिक रूप दे सकें।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते है कि राजनीतिक दल एक अलग प्रकार का संगठन होता है जो प्रतियोगी राजनीतिक दलों (चुनाव में कई राजनीतिक दलों का भाग लेना) की उपस्थित में अपनी नीतियों तथा कार्यक्रमों के माध्यम से जन समर्थन प्राप्त कर सत्ता प्राप्ति करने का प्रयत्न करते हैं। यही विशेषताएं राजनीतिक दल को अन्य संगठनों से भिन्न करती हैं। लापालोम्बरा तथा माइनरवीनर ने किसी समूह को राजनीतिक दल कहने के लिए उसमें चार विशेषताओं को अनिवार्य मानते हैं-

1. राजनीतिक दलों में संगठन की निरन्तरता, इसका तात्पर्य है कि राजनीतिक दल का एक संगठन के रूप में कार्यकाल उसके सदस्यों की अपेक्षा अधिक होता है, क्योंकि दल में सदस्य तो आते जाते रहते है। कोई सदस्य आजीवन के लिए बनता है, कुछ लोग जाते भी हैं दल छोड़कर, कुछ लोग आते भी है। परन्तु दल के अस्तित्व पर इसका फर्क नहीं पड़ता है।
2. स्थानीय स्तर पर अन्य संगठनों की अपेक्षा यह स्थायी संगठन भी होता है।
3. तीसरी प्रमुख विशेषता यह है कि यह स्थानीय और राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर सत्ता को प्रभावित करने, सत्ता को प्राप्त करने और प्राप्त सतता में बने रहने के लिए संकल्पबद्ध होते हैं। जैसे यदि भारत का उदाहरण ले तो हमें दिखाई देता है कि कोई जो सत्ता से

बाहर होती है वह जनहित के मुद्दे उठाकर सत्ता को प्रभावित कर उसकी सिद्धि (प्राप्त करने का) प्रयास करते हैं। क्योंकि इस प्रयास में उनकी सफलता से ही उनको जनसमर्थन (लोगों का समर्थन) प्राप्त होता है और वे चुनाव प्रक्रिया में विजयी होकर सत्ता प्राप्त करते हैं। जब एक बार सत्ता प्राप्त हो जाती है तो वे अपनी नीतियों और कार्यक्रमों के द्वारा जनसामान्य की आकांक्षाओं को पूरा करने और अपेक्षाओं पर खरा उतरने का प्रयत्न करते हैं, ताकि उन्हें अगले चुनाव में पुनः जनसमर्थन प्राप्त हो सके। और वे सत्ता में बने रह सके।

4. जैसा कि हमने ऊपर यह स्पष्ट किया है कि ये (राजनीतिक दल) सत्ता को प्राप्त करने और सत्ता में बने रहने के लिए, सतत प्रयत्नशील रहते हैं। लेकिन इनकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि इन्हे किस स्तर का और किस मात्रा में जनसमर्थन प्राप्त हो रहा है। इसलिए ये जनसमर्थन को प्राप्त करने का निरन्तर प्रयास करते हैं इस प्रयास में ये दल सर्वप्रथम इस बात का निश्चय करते हैं कि वे कौन सी जन आकांक्षाएं, अपेक्षाएं हैं जो ज्यादा से ज्यादा लोगों की हैं, उन्हें वे शीघ्रता से, नीति बनाकर पूरा करने का प्रयत्न करते है। जिससे उनको जनसमर्थन का दायरा बढ़ाने का अवसर प्राप्त हो। इसी क्रम में एक बात और स्पष्ट करना आवश्यक है कि, उक्त के कारण वे मांगे (जनता की मागें) राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा नहीं स्वीकार हो पाती है या अपेक्षाकृत देर से स्वीकार की जाती हैं जो बहुत कम लोगों से जुड़ी हो। यह पूरी प्रक्रिया दल के माध्यम से ही आगे बढ़ती है। इस लिए राजनीतिक व्यवस्था में, विशेषरूप से जहाँ पर लोकतन्त्र हो वहाँ निश्चित रूप से राजनीतिक दल के माध्यम से ही आगे बढ़ती है। इसलिए आज के इस लोकतन्त्र के दौर में तो राजनीतिक दल की आवश्यकता और महत्ता बहुत बढ़ जाती है।

12.4 राजनीतिक दल एवं नीति-निर्माण

इस इकाई के इस चरण में हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि नीति-निर्माण में राजनीतिक दल का क्या योगदान होता है। अर्थात राजनीतिक दल नीति निर्माण में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं और किस प्रकार से यहाँ एक तथ्य और महत्वपूर्ण है कि भारत जैसे लोकतान्त्रिक देश में तो नीति-निर्माण में अर्थात राज्य की दिशा तय करने में भी बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। जैसे जब भारत 15 अगस्त 1947 को आजाद हुआ तो उस समय काँग्रेस पार्टी की सरकार बनी। इस दल और इसके नेतृत्व में संचालित सरकार के समक्ष भारत को एक नई दिशा देने की चुनौती थी। वह चुनौती थी एक न्यायसंगत समाज को स्थापित करने की दिशा में कार्य करना, जिससे देश के सभी जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा, लिंग आदि पर आधारित विभिन्न समुदायों के बीच की असमानता को कम करने के लिए कार्य करना। इसके साथ-साथ व्यक्तियों के बीच बढ़ रही असमानता और शोषण जनित संबंध को समाप्त करना।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि उस समय इन उद्दश्यों की सिद्धि के लिए एक तरफ दीर्घकालिक नीतियों और कार्यक्रमों की आवश्यकता थी। दूसरी तरफ इस बात की भी आवश्यकता थी कि परम्परागत भारतीय समाज में पाई जाने वाली सामाजिक और आर्थिक निर्योग्यताओं को समाप्त किया जाए।

इन उद्दश्यों की सिद्धि की मंशा की छाप तत्कालीन भारत में प्रभावशाली राजनीतिक दल (भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस) के प्रत्येक निर्णय और कार्य में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इसीलिए भारतीय संविधान के उपबंधों में स्पष्ट रूप से काँग्रेस की नियत, एक दीर्घकालिक नीति के रूप में दिखाई दे रही है। दूसरे शब्दों में किस प्रकार का शासन है उसका जबाव था कि संसदीय लोकतन्त्र अंग्रेजी शासन में विशेषाधिकारयुक्त वर्ग और जातियाँ थी। परन्तु इस संविधान में सबको समान स्वीकार करते हुए विशेषाधिकार का अन्त किया। जैसे संविधान की प्रस्तावना जहाँ एक तरफ की प्रस्तावना में यह घोषणा शामिल है कि इस संविधान को भारत के लोग अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं। इसका तात्पर्य है कि देश की सर्वोच्च निधि अर्थात भारतीय संविधान को भारत के लोग स्वीकार करते हैं। और अधिक स्पष्टतया कहें तो देश सत्ता अन्ततः जनता के पास है। इसी के साथ देश को समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतन्त्रात्मक गणराज्य होने की घोषणा करती है। यहाँ समाजवाद का अर्थ है कि राज्य लोगों के बीच आय की असमानताओं को न्यूनतम करने का प्रयास करेगा। इसी प्रयास के अगले चरण अर्थात पूरक के रूप में मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाने पर बल दिया। मिश्रित अर्थव्यवस्था वह होती है जिसमें पूंजीवादी और समाजवादी अर्थव्यवस्था दोनों के तत्व पाये जाऐं। पूंजीवादी में जहाँ निजी-सम्पत्ति और प्रतिस्पर्द्धा को प्राथमिकता देता है तो समाजवादी अर्थव्यवस्था में राज्य आधारित आर्थिक/राज्य निमंत्रित आर्थिक गतिविधियाँ होती हैं, जिसका उद्देश्य न्यूनतम जीवन-स्तर सभी को उपलब्ध कराने की प्राथमिकता। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए योजनाबद्ध तरीके से देश को प्रगति पथ पर आगे बढ़ाने के उद्देश्य से पंचवर्षीय योजनाओं की शुरूआत भी की गई। इसी क्रम में यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि तत्कालीन समय में देश के विकास और समृद्धि को दिशा देने के लिए दो मॉडल (प्रतिरूप) थे। एक था भारी उद्योगों पर आधारित और दूसरा था गांधीवादी माडल जो लघुउद्योगों पर आधारित देश की जरूरतों (रोजगार सृजन हेतु) के अनुरूप विकेन्द्रीकृत अर्थ-व्यवस्था/तत्कालीन राजनीतिक दल-भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस और उसके नेता पं0 जवाहरलाल नेहरू ने भारी उद्योगों को आगे बढ़ाने का निर्णय लिया और उसके पोषण और सम्बर्द्धन हेतु नीतियाँ बनायी। इसके साथ ही राज्य आधारित उद्योगों को आगे बढ़ाने का भी निर्णय लिया अर्थात ऐसी आर्थिक संरचना जो निजी क्षेत्र के साथ सार्वजनिक क्षेत्र को समान महत्व प्रदान करता था। परन्तु प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी के आते-आते राष्ट्रीय माँग और अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में कुछ परिवर्तन आया। अर्थात देश की प्रगति के साथ दुनियाँ के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की मंशा से प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी ने निजी क्षेत्र का महत्व देना प्रारम्भ किया। जिसे नीति में बदलाव के रूप में देखा जा रहा था। क्योंकि समाजवादी विचारधारा से

प्रेरित भारतीय राजनीतिक दल इसका विरोध कर रहे थे। 1991 तक आते-आते भारत की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गई, जिससे तत्तकालीन भारत सरकार जिसका नेतृत्व काँग्रेस पार्टी कर रही थी। उसने बड़े पैमाने पर आर्थिक सुधार की नीति को लागू करने का निश्चय किया जिससे कि देश में समृद्धि के बड़े लक्ष्य का प्राप्त कर आगे बढ़ा जा सके, और देश की जरूरतें पूरी की जा सकें। इस आर्थिक सुधार को लागू करने का तात्पर्य था कि देश को भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से जोड़ने के लिए नियमों को उदार और शिथिल करना जिससे निजी क्षेत्र को स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा का अवसर प्राप्त हो और सभी राष्ट्रों को विश्व के विकास का अवसर तथा समान लाभ प्राप्त हो सके।

इस नीति से कुछ चिंताएं भी सामने आयी कि कहीं ऐसा न हो कि लाभप्रेरित व्यावसायिक स्वतन्त्र गतिविधियों से आम जन-मानस हासिये पर चला जाए। क्योंकि भारत जैसे देश में जहाँ गरीबी और अभाव बड़े पैमाने पर दिखाई देता है तो सवाल उठता है कि उनके हितों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इन शंकाओं को लेकर बार-बार इन उदारवादी नीतियों और कार्यक्रमों की भारत के समाजवादी /साम्यवादी दलों के द्वारा अनवरत आलोचना भी की गई।

लेकिन इन आलोचनाओं को दरकिनार करते हुए सरकार ने इसे आगे बढ़ाने का निश्चय किया। लेकिन इसके साथ ही साथ भारत सरकार ने कल्याणकारी नीतियों को जारी रखने का निश्चय किया। क्योंकि उदारीकरण, भूमण्डलीकरण और निजीकरण को आगे बढ़ाने वाले देशों की सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियाँ भारत से भिन्न हैं। जहाँ गरीबी अत्यन्त कम है तथा जो है भी उनके बड़े मानदण्ड पर है। अर्थात विकसित देशों में गरीबी की परिभाषा का पैमाना, भारत से बेहतर है।

यद्यिप भारत के द्वारा चालू की गई कल्याणकारी नीतियों की आलोचना विकसित देश लगातार करते रहे कि इस तरह के कार्यक्रमों को संचालित करने से राज्य को बचना होगा।

भारत में इन आलोचनाओं के बावजूद मिड-डे मील योजना प्रारम्भ की जिसे प्राथमिक स्तर तक के विद्यालयों में मध्यान्ह् का भोजन बच्चों को निःशुल्क देने की व्यवस्था की। जिसका उद्देश्य था बच्चों को कुपोषण से बचाना और स्कूल में उनकी उपस्थिति सुनिष्चित करना। इसके साथ-साथ गरीब और अति गरीब परिवारों के लिए अन्त्योदय, अन्नपूर्णा योजना के तहत बहुत ही कम दाम पर खाद्यान्न की योजना शुरू की गई। क्योंकि भारत चाहता था कि विकास का लाभ, देश में अभी तक मुख्यधारा से वंचित व्यक्तियों और परिवारों तक पहुँचाना सुनिश्चित किया जाए। इसके साथ आगनवाड़ी कार्यक्रम, वृद्धावस्था पेंशन, विधवा पेंशन, गैस सब्सिडी आदि।

एक बार पुनः स्पष्ट करना चाहते हैं कि इन नीतियों/कार्यक्रमों की भूमण्डलीकरण के प्रणेता, प्रचारक, नेता आलोचना कर रहे थे। परन्तु उनकी नियत की पोल तब खुली जब 21वी शदी के प्रारम्भ में वे आर्थिक मंदी के शिकार हुए उस समय इन देशों की नियत साफ हो गई अमेरिका ने जिन संस्थाओं और उद्यमों को मंदी से उबारने के लिए आर्थिक पैकेज दिये उसके साथ शर्त रखा की, वे अपने यहाँ रोजगार अमेरिकियों को देंगे। फ्रान्स ने अपनी मोटर कम्पनियों को कहा

कि वे उनका उत्पादन विदेश में न कर फ्रान्स में ही करें जिससे वहाँ रोजगार सृजन हो और निर्यात बढ़े। ब्रिटेन में रोजगार ब्रिटेन में रोजगार ब्रिटेन वालों के लिए इसी प्रकार के प्रयास आस्ट्रेलिया में भी किये गये। इस प्रकार स्पष्ट हे कि भारत ही नहीं कोई भी देश विकसित या विकासशील वह अपनी नीतियों के निर्माण में अपने देश की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए नीतियों का निर्माण करते है और उनको लागू करते हैं जिससे देश के सभी तबकों को देश की मुख्यधारा से जोड़ा जा सके और विकास प्रक्रिया में उनका योगदान सुनिश्चित किया जा सके।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि दल कोई भी सत्ता में भारत में रहा है नीतियों के निर्माण और उसके क्रियान्वयन में उनकी प्रवृति/रूझान लगभग समान ही रहा है। क्योंकि समय-समय पर जहाँ सभी ने देश में आर्थिक समृद्धि को बढ़ाने के लिए निजी क्षेत्र को महत्व दिया तो एक न्याय संगत समाज की स्थापना के लिए कल्याणकारी नीतियों और कार्यक्रमों को भी आगे बढ़ाने का भी कार्य किया है। क्योंकि भारतीय संविधान के द्वारा सामाजिक-आर्थिक न्याय को लक्ष्य बनाया गया है। जिसके अनुपालन में भारत में राजनीतिक दलों ने आर्थिक समृद्धि के साथ कल्याणकारी नीतियों और सशक्तीकरण की नीतियों को महत्व दिया है।

अभ्यास प्रश्न-

1. लापालोम्बरा तथा माइनरवीनर ने किसी समूह को राजनीतिक दल कहने के लिए उसमें कितने प्रकार की विशेषताओं को अनिवार्य मानते हैं?
2. उद्देश्य से पंचवर्षीय योजनाओं की शुरूआत किस उद्देश्य से की गई?

12.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन में हमने राजनीतिक दल के अर्थ और विशेषताओं का अध्ययन किया है। जिसमें हमने यह पाया है कि राजनीतिक दल व्यक्तियों का एक ऐसा समूह होता है जो कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर सहमत होते हैं। जिनका उद्देश्य होता है सत्ता को प्रभावित करना, सत्ता को प्राप्त करना और प्राप्त सत्ता में बने रहना। इन सबका उद्देश्य होता है जन-सामान्य के हितों की पूर्ति के कार्य करना जिससे कि अपने जनधार का विस्तार कर सकें और सत्ता में बने रहें।

जन आकांक्षाओं और अपेक्षाओं की पूर्ति में राजनीतिक दल नीतियों को बनाकर, और उन नीतियों को क्रियान्वित करके करते हैं। इस प्रकार किसी देश में नीतियों के निर्माण में राजनीतिक दल बहुत ही अहम भूमिका का निर्वाह करते हैं। भारत में आजादी के बाद भारतीय राष्ट्रीय कॉग्रेस पार्टी ने देश की आवश्यकताओं के अनुरूप जैसा कि हम ऊपर अध्ययन कर चुके हैं, मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया तथा सामाजिक आर्थिक विकास और परिवर्तन के लिए नियोजित पंचवर्षीय योजनाओं की शुरूआत की। बाद में भी इस क्रम को जारी करते हुए उदारीकरण और निजीकरण को महत्व दिया गया परन्तु देश की आवश्यकताओं को देखते हुए जन-कल्याणकारी और जन-सशक्तीकरण नीतियों के निर्माण और उस पर कार्यवाही को भी भारत में राजनीतिक दलों ने महत्ता दी है।

12.6 शब्दावली

लोकतन्त्र- वह शासन जो जनता का हो, जनता के लिए कार्य करे, जिसमें सभी जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र को शासन में भागीदारी मिले। जिसमें निर्णय बहुमत से लिए जाएं परन्तु अल्पमत के हित के सुरक्षा की भी गारण्टी हो।

गणतन्त्र- जहाँ शासन प्रमुख, राज्य प्रमुख को वंशानुगत राजा न होकर निर्वाचित व्यक्ति (भारत में राष्ट्रपति) हो।

भूमण्डलीकरण- विश्व की अर्थव्यवस्थाओं को एक दूसरे से जुड़ने की प्रक्रिया है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था- जिस अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र (सरकारी) दोनों का अस्तित्व हो।

कल्याणकारी नीतियाँ- ऐसी नीतियाँ जिसमें जनमानस को सहायता प्रदान की जाए, जिससे वे भी सम्मान जनक जीवन जी सके जैसे- अत्योदय, अन्नपूर्णा योजना, वृद्धावस्था पेंशन, विकलांग पेंशन, निःशुल्क स्वास्थ्य बीमा आदि

सशक्तकारी नीतियाँ- वे नीतियाँ जो जनमानस को अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम बनाए जिससे वे राष्ट्र की मुख्यधारा में आत्मनिर्भरता के साथ जुड़ सकें। इस प्रकार हम पातें हैं कि भारत में राजनीतिक दलों ने देश की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, जनमानस के कल्याण और उन्हें सशक्त बनाने के लिए विविध नीतियों का निर्माण किया। जिससे भारत का आम जनमानस भी देश की मुख्यधारा से जुड़ सके और देश में विकास और प्रगति का लाभ प्राप्त कर अपने जीवन स्तर को बढ़ा सके तथा राष्ट्र निर्माण में अपना रचनात्मक योगदान दे सके।

12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 4, **2.** न्यूनतम जीवन-स्तर सभी को उपलब्ध कराने की प्राथमिकता

12.8 संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाऐं, सीबी गेना।
2. तुलनात्मक राजनीति, जेसी जौहरी।
3. भारत का संविधान- एक परिचय, डीडी बसु।
4. आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, जेसी जौहरी।
5. ईपीए- 06 लोकनीति निर्माण मुख्य निर्धारक, बुकलेट-4, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
6. समाजशास्त्र: अवधारणाऐं एवं सिद्धान्त, जेपी सिंह।

12.9 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. तुलनात्मक राजनीति, पी0 डी0 शर्मा।
2. भारत का संविधान, ब्रज किशोर शर्मा।

12.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. नीति-निर्माण में राजनीतिक दलों की भूमिका की विस्तार से चर्चा कीजिए।

इकाई- 13 जन संचार माध्यम

इकाई की संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 जन संचार का अर्थ
13.3 जन संचार एवं नियोजित परिवर्तन
13.4 नीतियों को प्रभावित करने में जनसंचार की भूमिका
13.4.1 सूचनात्मक भूमिका
13.4.2 अभिमुखीकरण भूमिका
13.4.3 सलाहकारी भूमिका
13.5 जन संचार एवं जनमत
13.6 जन संचार के उचित नियमन की आवश्यकता
13.7 सारांश
13.8 शब्दावली
13.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
13.11 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री
13.12 निबंधात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

सूचनाओं का आदान-प्रदान किसी भी समाज की प्रगति हेतु आवश्यक है। सूचनाओं, विचारों एवं भावनाओं को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक साझा करना सामाजिक परिवर्तन एवं लोक नीतियों के निर्धारण हेतु एक आवश्यक कारक है। अपनी बात को दूसरों तक पहुँचाना और उन्हें अपनी राय से सहमत करना मनुष्य का प्रारम्भ से ही स्वभाव रहा है। यह कार्य व्यक्ति कभी अकेला करता है तो कभी इसके लिए सामूहिक प्रयास होते हैं। इनके लिए अन्तर्वैयक्तिक संचार, समूह संचार तथा जन संचार माध्यम प्रयुक्त होता है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के फलस्वरूप आज जन संचार काफी महत्वपूर्ण हो गया है। जन संचार ने वास्तव में पूरी दुनिया को एक छोटे से गांव में तब्दील कर दिया है। समाचार पत्र-पत्रिकाएं, चलचित्र, रेडियो और टेलीविजन जैसे जन संचार रूपों ने एक स्रोत से अनेकों श्रोताओं और दर्शकों तक सूचना का संचार किया है। वास्तव में विचारों की अभिव्यक्ति एवं जिज्ञासाओं को परस्पर बांटना ही जन संचार का मुख्य उद्देश्य है। 20 वीं शताब्दी में जन संचार साधनों ने जनता को वास्तविकताओं को करीब ला दिया है। चलचित्र तथा टेलीविजन अपनी दृश्य एवं श्रव्य क्षमता के कारण प्रभावी माध्यम के रूप में उभरे हैं। बेर्त्रम ग्रॉस के अनुसार टेलीविजन ने जनसंचार की भूमिका को अपनी साक्षात प्रस्तुति से पूर्ण परिवर्तन ला दिया है। उपग्रह के प्रयोग ने इसमें अभूतपूर्व परिवर्तन लाया है जिससे सुदूरतम भी 'वास्तविकता' से सीधा रूबरू हो गया है। भारत में

अक्टूबर 1983 के 'इन्सैट उपग्रह–I बी' के सफलतापूर्वक क्रियाशील होने के पश्चात जनसंचार ने अभूतपूर्व विकास किया है। लेकिन अनियोजित एवं अप्रत्याशित विकास ने इनके नियमन की आवश्यकता भी महसूस करायी है। इस अध्याय में इन्हीं बिन्दुओं पर चर्चा की जाएगी।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

1. जन संचार के अर्थ एवं महत्व के बारे में जान पायेंगे।
2. नियोजित परिवर्तन में जन संचार की भूमिका के बारे में जान सकेंगे।
3. लोक नीतियों के निर्धारण में जन संचार की भूमिका के सम्बन्ध में जानकारी जुटाने में सक्षम होंगे।
4. जनता एवं जनमत पर जन संचार के प्रभाव के बारे में ज्ञान प्राप्त कर पायेंगे।
5. जनसंचार के उचित नियमन की आवश्यकता के बारे में जान सकेंगे।

13.2 जनसंचार का अर्थ

स्वतंत्र जनसंचार माध्यम लोकतंत्र की आधारशिला है। जनसंचार माध्यमों का जाल इतना व्यापक है कि इसके बिना एक सभ्य समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। जनसंचार से तात्पर्य उन सभी साधनों के अध्ययन एवं विश्लेषण से है जो एक साथ बहुत बड़ी जनसंख्या के साथ संचार सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक होते हैं। प्रायः इसका अर्थ सम्मिलित रूप से समाचार-पत्र, पत्रिकाऐं, रेडियो, दूरदर्शन, चलचित्र से लिया जाता है जो समाचार एवं विज्ञापन दोनों के प्रसारण के लिये प्रयुक्त होते हैं।

आधुनिक विश्व में मनुष्य, मशीन और संगठन एक-दूसरे से जुड़े हैं और वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति एवं लोकतंत्र के प्रसार ने जनसंचार की अवधारणा को व्यापक बना दिया है। लुण्डबर्ग, श्रेग और लार्सन के अनुसार "जनसंचार का सन्दर्भ तुलनात्मक दृष्टि से बिखरे हुए छिन्न-भिन्न समूह को एक साथ संप्रेषण से है, जिसका उद्देश्य उन्हें प्रेरणा देना है। यह कार्य अवैयक्तिक साधनों द्वारा एक असंगठित स्रोत द्वारा किया जाता है जिसके लिए गंतव्य अज्ञात है।" डेविड बार्ले के शब्दों में "जनसंचार एक ही स्थान पर तैयार किये गए संचार के उस स्वरुप के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो बिखरे हुए विशाल समुदाय तक पहुँचने में समर्थ हो।" ओटो एन. लार्सन ने जनसंचार को परिभाषित करते हुए लिखा है "जनसंचार बिखरे हुए जनों को प्रतीकों का प्रेषण है जो अवैयक्तिक साधनों से अज्ञात गंतव्य को भेजे जाते हैं।" इस प्रकार जनसंचार का अर्थ जनता के बीच विभिन्न माध्यमों से किया जाने वाला संचार है। जनसंचार परिपक्व समाज की मनोदशा, विचार, संस्कृति आम जीवन दशाओं को नियंत्रित व निर्देशित कर रहा है। इसका प्रवाह अति व्यापक एवं असीमित है। जनसंचार माध्यमों द्वारा समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त हो रहा है।

जनसंचार की विशेषताऐं निम्नवत हैं-

1. जनसंचार एक ही केंद्र से अवैयक्तिक साधनों द्वारा बहुत से लोगों को सन्देश भेजने की प्रक्रिया है।
2. जनसंचार वृहद समाज की आवश्यकता है और बिखरे हुए समाज में सहमति एवं एकरूपता लेन का प्रयास है।
3. जनसंचार में विचारों का प्रवाह एकतरफा है।
4. जनसंचार का लक्ष्य भी होता है। यह लक्ष्य असीमित जनसंचार में गंतव्य अज्ञात, विजातीय और विस्तृत है।
5. जनसंचार का स्रोत संगठन से जुड़ा है।
6. जनसंचार का प्रभाव अनुकूल और प्रतिकूल पड़ सकता है।
7. जनसंचार के सन्देश का चयन गंतव्य निर्धारित आधार पर करता है।

इस प्रकार वृहद् समाज को बहुआयामी सूचना संचार का स्रोत जन संचार है। जन संचार के तत्व हैं: प्रेषक, संदेश, संकेतीकरण या इकोडिंग, माध्यम, प्राप्तकर्ता, संकेतवाचन या डिकोडिंग। देश तथा विदेश में मनुष्य की दस्तकें बढ़ती हैं, इसलिए संचार- प्रक्रिया का पहला चरण प्रेषक होता है। इसको इनकोडिंग भी कहते हैं। इनकोडिंग के बाद विचार- शब्दों, प्रतीकों, संकेतों एवं चिन्हों में बदल जाते हैं। इस प्रक्रिया के बाद विचार सार्थक संदेश के रूप में ढल जाता है। जब प्राप्तकर्ता अपने मस्तिष्क में उक्त संदेश को ढाल लेता है तो संचार की भाषा में इसे डीकोडिंग कहते हैं। डीकोडिंग के बाद प्राप्तकर्ता अपनी प्रतिक्रिया भेजता है इस स्थिति को फीडबैक या प्रतिपुष्टि कहते हैं।

हाल के वर्षों में 'सोशल मीडिया' यथा फेसबुक, ट्विटर आदि ने इस विधा को एक नया आयाम प्रदान किया है जिससे सूचनाओं का लोकतांत्रिकरण भी हुआ है। सूचना प्रौद्योगिकी के प्रचार-प्रसार ने सबको सब तक यथाशीघ्र पहुँचाया है। राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज तथा संस्कृति इनके प्रभाव से परिवर्तित हो रहे हैं।

13.3 जनसंचार एवं नियोजित परिवर्तन

जनसंचार की दृष्टि से वर्तमान युग में समाचार-पत्रों, संवाद समितियों, रेडियो, टेलीविजन, फिल्म तथा इसी प्रकार से अन्य साधनों का विशेष महत्व है। यह स्थिति केवल भारत में ही नहीं है बल्कि विदेशों में है। जनसंचार की दृष्टि से वहाँ इन साधनों का खूब उपयोग किया जाता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि भी लोकसत्ता और जनमत के मध्य जनसंचार की महत्वपूर्ण कड़ी का काम करते हैं। जनसंचार का अर्थ बड़ा ही व्यापक और प्रभावकारी है। लोकतंत्र के आधार पर स्थापित लोकसत्ता के परिचालन के लिए ही नहीं बल्कि राजतंत्र और अधिनायकतंत्र के सफल संचालन के लिए भी जन संचार आवश्यक माना जाता है। कृषि, उद्योग, व्यापार, जनसेवा और लोकरुचि के विस्तार तथा परिष्कार के लिए भी जनसंचार की आवश्यकता है। जनसंचार का अर्थ विस्तृत आकार के बिखरे हुये समूह तक संचार माध्यमों द्वारा संदेश पहुँचाना है। पर इस प्रकार के संचार में भी

किसी न किसी माध्यम की आवश्यकता होती है। इसका मुख्य उद्देश्य बहुत विशाल है इसे किसी परिधि में रखना कठिन है।

आज विश्व के सभी देश (विकसित एवं विकासशील) नियोजित विकास की राह पर अग्रसर हैं। नियोजित विकास के कभी कदम जनसंचार पर निर्भर है। नवीन शासकीय नीतियों का प्रचार-प्रसार जन संचार के समुचित उपयोग पर ही निर्भर है। नवीनतम सूचना एवं व्यवहार प्रणालियों का ज्ञान जनसंचार पर ही टिका है। ज्ञान, दर्शन एवं कार्य प्रणाली के प्रसार हेतु जनसंचार माध्यम महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इलेक्ट्रॉनिक एवं प्रिंट मीडिया इसका सर्वाधिक कारगर माध्यम है। आल इंडिया रेडियो एवं दूरदर्शन के विभिन्न चैनल सरकारी नीतियों के प्रसार-प्रचार हेतु भारत में काफी सफल रहा है।

सामाजिक परिवर्तन के वाहक के रूप में भी जन संचार सशक्त भूमिका अदा करता है। न्यूटन के गति के तृतीय नियम के आधार के अनुरूप ही जन संचार भी कार्य करता है। नवीनतम परिवर्तन एवं सोशल मीडिया अपने सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रभावों से समाज को एक दिशा दे रहा है। युवाओं पर इसका अधिक प्रभाव अत्यधिक पड़ा है क्योंकि वे उपभोक्तावादी प्रवृति के होते हैं। वे बिना किसी हिचकिचाहट के किसी भी नई तकनीक का उपभोग करना शुरू कर देते हैं। युवाओं में तेजी से पनप रहे मनोविकारों, दिशाहीनता और कर्तव्यविमुखता को संचार माध्यमों के दुष्परिणामों से जोड़कर देखा जा सकता है। मीडिया जहाँ एक ओर युवाओं के लिए वरदान साबित हो रहा है, वहीं दूसरी ओर ये एक अभिशाप के रूप में युवाओं की दिशाहीनता को बढ़ा रहा है। सभी जन संचार माध्यमों ने जहां ग्लोबल विलेज, शिक्षा, मनोरंजन और जनमत निर्माण, समाज को गतिशील बनाने तथा सूचना का बाजार बनाने में सहयोग किया वहीं अश्लीलता, हिंसा, मनोविकार, उपभोक्तावादी प्रवृति तथा समाज को नैतिक और सांस्कृतिक पतन की ओर अग्रसर किया है।

इसके अलावा अभिजन समाज से समरस समाज के निर्माण तक जन संचार की भूमिका भारत में काफी महत्वपूर्ण हो गयी है। वैज्ञानिक मूल्य की स्थापना भी जनसंचार पर निर्भर है। दूरदर्शन ने इस दिशा में काफी अच्छा कार्य किया है।

13.4 नीतियों को प्रभावित करने में जनसंचार की भूमिका

आज जनसंचार अर्थात् मास-मीडिया आधुनिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बन चुके हैं और ये हमारे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और यहाँ तक व्यक्तिगत जीवन को प्रभावित कर रहें हैं। मीडिया पर हमारी निर्भरता ही हमें उसकी प्रक्रिया और प्रभाव को समझने की प्रेरणा प्रदान करती है।

जनसंचार नीतियों को प्रभावित करने में अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करता है-

13.4.1 सूचनात्मक भूमिका- जीवन की वास्तविक समस्याओं तथा समाज के विविध वर्गों की आकांक्षाओं एवं जरूरतों को जनसंचार प्रतिविम्बित करता है। नीतियों के निर्माण में ये भावनाएं एवं मांगें सहायक सिद्ध होती हैं। नवीनतम वैज्ञानिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन भी जन संचार द्वारा ही उजागर होते हैं। फलस्वरूप नीति-नियंताओं को सूचना का

व्यापक भंडार जन संचार से प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त जनता की भावनाओं एवं किसी नीति के प्रति जन-समर्थन या विरोध का भी पता जनसंचार से बेहतर होता है।

13.4.2 अभिमुखीकरण भूमिका- जनता को भारत जसे देशों में नीतियों के प्रति जागरूक करना भी जन संचार का एक महत्वपूर्ण कार्य है। विश्व के अधिकांश देशों में अधिसंख्य जनता गरीबी की रेखा के नीचे हैं। इन देशों में बहुसंख्य जनता के अनुरूप नीति-निर्माण जन संचार पर ही निर्भर है। जन संचार आम जनता के हितों की रक्षा कर 'अभिजात्य वर्ग' को तदनुरूप नीति बनाने को बाध्य कर सकता है।

13.4.3 सलाहकारी भूमिका- जन संचार जनता को विविध माध्यमों से सही सलाह भी प्रदान करती है। सम्पादकीय आलेखों एवं सही दृश्य एवं श्रव्य कार्यक्रम इसके उदाहरण हो सकते हैं। बहुभाषी, बहुवर्गीय एवं अनेकता वाले भारत में जनसंचार विविध कार्यक्रमों से सलाहकारी भूमिका अदा करते हैं तथा लोक नीतियाँ भी इन्हें तरजीह देती है।

भारत में सूचना और प्रसारण मंत्रालय रेडियो, टेलीविजन, फिल्म, प्रेस तथा प्रिंट प्रकाशन, विज्ञापन और संचार के पारंपरिक तरीकों जैसे नाटक, संगीत आदि के जरिए जन संचार के साथ सूचना का प्रवाह करता है। मंत्रालय विभिन्न आयु समूह के लोगों को मनोरंजन उपलब्ध कराने के साथ ही राष्ट्रीय एकता, पर्यावरण संरक्षण, स्वास्थ्य देखभाल, परिवार कल्याण, निरक्षरता उन्मूलन तथा बच्चों, महिलाओं, अल्पसंख्यकों और समाज के अन्य दुर्बल वर्गों की समस्याओं के प्रति जागरूकता भी उत्पन्न करता है।

इसके अतिरिक्त प्रसार भारती देश में सार्वजनिक प्रसारण सेवा है और आकाशवाणी तथा दूरदर्शन इसके दो घटक हैं। लोगों को सूचना, शिक्षा तथा मनोरंजन प्रदान करने और रेडियो तथा टेलीविजन पर प्रसारण का संतुलित विकास सुनिश्चित करने के लिए 23 नवंबर 1997 को प्रसार-भारती का गठन किया गया। निगम का कार्य संचालन प्रसार भारती बोर्ड द्वारा किया जाता है। जिसमें एक अध्यक्ष, एक कार्यकारी सदस्य, एक सदस्य सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय का एक प्रतिनिधि तथा पदेन सदस्यों के रूप में आकाशवाणी महानिदेशक और दूरदर्शन महानिदेशक शामिल होते हैं।

भारत में रेडियो प्रसारण की शुरुआत 1920 के दशक में हुई। पहला कार्यक्रम 1923 में मुंबई के रेडियो क्लब द्वारा प्रसारित किया गया। इसके बाद 1927 में मुंबई और कोलकाता में निजी स्वामित्व वाले दो ट्रांसमीटरों से प्रसारण सेवा की स्थापना हुई। सन 1930 में सरकार ने इन ट्रांसमीटरों को अपने नियंत्रण में ले लिया और भारतीय प्रसारण सेवा के नाम से उन्हें परिचालित करना आरम्भ कर दिया। 1936 में इसका नाम बदलकर ऑल इंडिया रेडियो कर दिया गया और यह 1957 में आकाशवाणी के नाम से पुकारा जाने लगा। आजादी के बाद से आकाशवाणी दुनिया के सबसे बड़े प्रसारण नेटवर्कों में से एक बन गया है। आजादी के समय कुल 6 आकाशवाणी केंद्र और 18 ट्रांसमीटर थे, जो आज बढ़कर 232 आकाशवाणी केंद्र और 374 ट्रांसमीटर हो गये हैं अर्थात् यह 91.82 प्रतिशत भूभाग तथा 99.16 प्रतिशत जनसंख्या की पहुँच में है।

चलचित्र ने टी.वी., वीडियो, डी.वी.डी. और सेटेलाइट एवं केबल जैसे मनोरंजन के तमाम साधन भी पैदा किए हैं। इसके एक पीढ़ी के सितारे दूसरी पीढ़ी के सितारों को आगे बढ़ने का रास्ता दे रहे हैं। अमेरिका में रोनाल्ड रीगन, भारत में एम.जी. रामचंद्रन, एन.टी.रामाराव, जयललिता और अनेक संसद सदस्यों के रूप में सिनेमा ने राजनेता दिए हैं। सिनेमा ने परंपरागत कला रूपों के कई पक्षों और उपलब्धियों को आत्मसात कर लिया है। मसलन आधुनिक उपन्यास की तरह यह मनुष्य की भौतिक क्रियाओं को उसके अन्तर्मन से जोड़ता है, पेटिंग की तरह संयोजन करता है और छाया तथा प्रकाश की अंतर्क्रियाओं को आंकता है।

इसके साथ ही जन संचार की भूमिका में सूचना एवं तकनीकी क्रांति के फलस्वरूप अभूतपूर्व परिवर्तन आया है। वास्तव में मोर्सेल मैक्लुहान के शब्द सही प्रतीत हो रहे हैं। मैक्लुहान ने कहा था कि आने वाले समय में पूरी दुनिया एक गाँव में तब्दील हो जाएगी। वास्तव में जन संचार माध्यमों ने 'ग्लोबल विलेज' की अवधारणा को जन्म दिया है। समाज के सभी वर्गों पर इन सभी जनसंचार माध्यमों ने अपना व्यापक प्रभाव छोड़ा है।

13.5 जनसंचार एवं जनमत

वर्तमान समाज में जनसंचार का कार्य सूचना प्रेषण, विश्लेषण ज्ञान एवं मुल्यों का प्रसार तथा मनोरंजन करना है। प्राचीन काल में लोकमत को जानने अथवा लोकरुचि को सँवारने के लिए जिन साधनों का प्रयोग किया जाता था, वे आज के वैज्ञानिक युग में अधिक उपयोगी नहीं रह गए हैं। आधुनिक विज्ञान में विकास होने से साधनों का भी विकास होता गया और अब ऐसा समय आ गया है जब लोकसंपर्क के लिए समाचार पत्र, मुद्रित ग्रन्थ, लघु पुस्तक-पुस्तिकाऐं, प्रसारण यंत्र (रेडियो, टेलीविजन आदि), चलचित्र, ध्वनिविस्तारक यंत्र आदि अनेक साधन उपलब्ध हैं। इन साधनों का व्यापक उपयोग राज्यसत्ता, औद्योगिक और व्यापारिक प्रतिष्ठान तथा अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के द्वारा होता है। फिल्म, चलचित्र अथवा सिनेमा में चित्रों को इस तरह एक के बाद एक प्रदर्शित किया जाता है जिससे गति का आभास होता है। आज ये मनोरंजन का महत्त्वपूर्ण साधन हैं लेकिन इनका प्रयोग कला-अभिव्यक्ति और शिक्षा के लिए भी होता है।

जनसंचार की महत्ता बताते हुए सन् 1787 में अमरीका के राष्ट्रपति टामस जेफर्सन ने लिखा था "हमारी सत्ताओं का आधार जनमत है। अत: हमारा प्रथम उद्देश्य होना चाहिए जनमत को ठीक रखना। अगर मुझसे पूछा जाए कि मैं समाचार-पत्रों से विहीन सरकार चाहता हूँ अथवा सरकार से रहित समाचारपत्रों को पढ़ना चाहता हूँ तो मैं नि:संकोच उत्तर दूँगा कि शासनसत्ता से रहित समाचारपत्रों का प्रकाशन ही मुझे स्वीकार है। पर मैं चाहूँगा कि ये समाचार-पत्र हर व्यक्ति तक पहुँचे और वे उन्हें पढ़ने में सक्षम हों। जहाँ समाचारपत्र स्वतंत्र हैं और हर व्यक्ति पढ़ने को योग्यता रखता है वहाँ सब कुछ सुरक्षित है।" लार्ड मैकाले ने भी 1828 में लिखा "संसद की जिस दीर्घा में समाचारपत्रों के प्रतिनिधि बैठते हैं, वही सत्ता का चतुर्थ वर्ग है।" इसके बाद एडमंड बर्क ने लिखा "संसद में सत्ता के तीन वर्ग हैं, किन्तु समाचार पत्र प्रतिनिधियों का कक्ष चतुर्थ वर्ग है जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।"

जनसंचार जनमत को प्रभावित करने में दोहरी भूमिका अदा करता है। जनता में मध्य जागरूकता पैदा करना तथा जनमत का समर्थन जुटाना। विशेषकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के प्रचार-प्रसार के बाद जनमत को प्रभावित करना काफी आसान हो गया है। आज के परिदृश्य में समस्त राजनेता से लेकर कारोबारी तक इनके माध्यम से जनमत को प्रभावित कर रहे हैं। फेसबुक और ट्विटर भी इस दिशा में काफी कारगर सिद्ध हुए है। वर्तमान सरकार भी इसलिए इलेक्ट्रॉनिक प्रशासन एवं मोबाइल प्रशासन बल देने लग गई है। जनता के सामने भी जन संचार के ढेर सारे माध्यम हो गए हैं, जिनसे वह वास्तविकताओं से अवगत हो सकता है। 'डिजिटल क्रांति' ने ज्ञान के स्वरुप को पूर्णतः परिवर्तित एवं परिवर्धित कर दिया है।

भारतीय इलेक्ट्रोनिक मीडिया सूचनाओं के विशाल भंडार है जो देश, दुनिया, विज्ञान, कला, स्वास्थ्य, बिजनेस और खेलों के बारे में दर्शकों को उपयोगी सूचनाऐं पहुँचाते हैं। साथ ही ये लोगों की जागरूकता बढ़ाने में लगे हैं, जिसके कारण दहेज, बाल विवाह, जातियों, क्षेत्रों, भाषा और समुदाय के आधार पर भेदभाव जैसी कुरीतियाँ कम हो रही हैं। टी.वी. उद्योग न सिर्फ नई प्रतिभाओं को आगे बढ़ाता है बल्कि उसमें लोगों को रोजगार भी मिला हुआ है। जनसंचार के माध्यमों की संस्कृतियों के भूमंडलीकरण में बहुत बड़ी भूमिका है और चैनलों के कारण आज भारत दुनिया भर में बहुत दिलचस्पी के साथ देखा जा रहा है। चैनल एक अखिल भारतीय दृष्टिकोण से काम करते हैं और भारतीय दर्शकों की मनोरंजन सम्बन्धी विविधतापूर्ण जरूरतों को पूर्ण करते हुए देश को उसी तरह जोड़ते हैं, जैसे भारतीय रेल।

13.6 जनसंचार के उचित नियमन की आवश्यकता

पिछले कुछ समय से जनसंचार के माध्यमों का दुरुपयोग दिखाई देता है। राजनीतिक सम्बद्धता, अश्लीलता, द्विअर्थी संवाद, गालियों और निजता के अधिकारों के उल्लंघन जैसी शिकायतें आम हो गयी हैं। कहने की जरूरत नहीं है कि इन प्रकरणों ने एक बार फिर चैनलों के नियमन यानी 'कन्टेंक्ट रेगुलेशन' पर व्यापक सवाल को उठा दिया है। इन प्रकरणों ने यह भी साबित कर दिया है कि चैनलों के नियमन की एक स्वतंत्र, स्थाई, पारदर्शी, नियम आधारित और प्रभावशाली व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं है। ऐसी व्यवस्था नहीं होने के कारण न सिर्फ सरकार यानी सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय को मनमाने तरीके से निर्देश जारी करने का कानूनी अधिकार मिले हुए हैं, बल्कि चैनलों को भी मनमानी करने और गलती करके भी बच निकलने का रास्ता मिला हुआ है। इसके अलावा यह व्यवस्था पूरी तरह से तदर्थ, अपारदर्शी और कुछ नौकरशाहों की मनमर्जी पर टिकी हुई है और चैनल इस तदर्थवाद की सीमाओं का पूरा फायदा उठा रहे हैं। चैनलों के दबाव और कुछ सरकार के अनमनेपन के कारण ऐसी स्वतंत्र, प्रतिनिधिमूलक, पारदर्शी, नियम आधारित और प्रभावी व्यवस्था आज तक नहीं बन पाई है। निश्चय ही, प्रसारण क्षेत्र के नियमन का मामला एक ऐसा मामला है जहाँ पिछले एक दशक से ज्यादा समय से नियमन की चर्चाओं, बहसों, कोर्ट और संसद के हस्तक्षेप और इस सम्बन्ध में कई विधेयकों के मसौदे तैयार करने के बावजूद सरकार आज तक नया कानून बनाने में नाकाम रही है।

2007 में यूपीए सरकार ने भारतीय प्रसारण नियमन प्राधिकरण(बीआरएआई) विधेयक को कैबिनेट में पास करके भी संसद में पेश करने से पहले वापस ले लिया। इससे प्रसारकों की ताकत और पहुँच का अंदाजा लगाया जा सकता है। लेकिन दूसरी ओर यह भी उतना ही सच है कि खुद सरकार भी नहीं चाहती है कि ऐसी कोई पारदर्शी व्यवस्था बने जिसमें चैनलों को नियंत्रित करने के अधिकार उसके हाथ से निकल जाऐं। इसमें कोई दो-राय नहीं है कि नियमन का अर्थ किसी भी रूप में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाना या उसे मनमाने तरीके से नियंत्रित करना नहीं है।

नियमन के किसी भी स्वरुप का केंद्र बिंदु बिना किसी अपवाद के अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा और उसे संरक्षण होना चाहिए। यही नहीं, नियमन के नाम पर अभिव्यक्ति की आजादी को सीमित या बाधित करने का जरूर विरोध होना चाहिए। भारत में 1995 के 'केबल नेटवर्क्स रेगुलेशन कानून' के तहत कार्यक्रम कोड और विज्ञापन कोड पहले से ही मौजूद हैं, लेकिन चैनलों के बीच टीआरपी की गलाकाट होड़ में सबसे पहली बलि स्व-नियमन की ही चढ़ती है। तीस से अधिक समाचार चैनलों की संस्था न्यूज ब्राडकास्टर्स एसोशियेशन(एनबीए) ने जिस धूमधाम के साथ स्व-नियमन की सुप्रीम कोर्ट के पूर्व मुख्य न्यायाधीश जस्टिस जेएस वर्मा की अध्यक्षता में एक अंतर चैनल व्यवस्था कायम की और अपने कोड जारी किए, वह पहले ही लड़खड़ा गई। जाहिर है कि सबसे अधिक बातचीत विषय-वस्तु के नियमन की ही हो रही है, लेकिन टीवी उद्योग का अनमनापन और सरकार पर दबाव डालकर इसे रुकवाने की कोशिशें भी शुरू हो जाती हैं। समय-समय पर इस सन्दर्भ में प्रयास हुए अवश्य हैं परन्तु अभी काफी कुछ किया जाना शेष है।

अभ्यास प्रश्न-

1. इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का सर्वाधिक सशक्त रूप क्या है?
2. भारत में रेडियो प्रसारण की शुरुआत किस दशक में हुई?
3. प्रसार भारती का गठन कब किया गया?
4. विश्व का सबसे बड़ा सोशल मीडिया क्या है ?
5. ऑल इंडिया रेडियो का नया नाम क्या है?

13.7 सारांश

मास मीडिया अर्थात् जन संचार जन सूमह तक सूचना, शिक्षा और मनोरंजन पहुँचाने का एक माध्यम है। यह संचार का सरल और सक्षम साधन है जो व्यवस्था के समग्र विकास में मुख्य भूमिका निभाता है। ऐसे युग में जहाँ ज्ञान और तथ्य आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए औजार हैं। देश में सुदृढ़ और रचनात्मक मीडिया की मौजूदगी व्यष्टियों, सम्पूर्ण समाज, लघु और वृह्द व्यवसाय और उत्पादन गृहों, विभिन्न अनुसंधान संगठनों, निजी क्षेत्रों तथा सरकारी क्षेत्रों की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने में महत्वपूर्ण है। मीडिया राष्ट्र के अंत:करण का रक्षक है और हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन में उसे बहुत से कार्य करने हैं। यह सरकार को विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक लक्ष्य हासिल करने में

सहायता करता है, शहरी और ग्रामीण जनसमूह को शिक्षित करने, लोगों के बीच उत्तरदायित्व की भावना जागृत करने और जरूरत मदों को न्याय प्रदान करने में सहायता करता है। इसमें मोटे तौर पर प्रिंट मीडिया जैसे समाचार पत्र-पत्रिका, जर्नल और अन्य प्रकाशन होते हैं तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया जैसे रेडियो, टेलीविजन इंटरनेट आदि। विश्व के बदलते परिदृश्य के साथ इसने उद्योग का दर्जा प्राप्त कर लिया है। जिस देश में जनसंचार के माध्यम स्वतंत्र नहीं है वहां एक स्वस्थ लोकतंत्र का निर्माण होना संभव नहीं है।

भारत में मीडिया और मनोरंजन उद्योग में उल्लेखनीय परिवर्तन हो रहा है और यह एक सबसे तेज विकसित होता क्षेत्र है। इसके लिए उत्तरदायी मुख्य कारक हैं- प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को बढ़ाना, उच्च आर्थिक वृद्धि, लोकतांत्रिक व्यवस्था, अच्छा शासन और साथ ही देश में कानून और व्यवस्था की अच्छी स्थिति। विशिष्ट रूप से टेलीविजन उद्योग का उल्लेखनीय विकास, फिल्म निर्माण और वितरण के लिए नए प्रारूप, निजीकरण और रेडियोंका विकास, क्षेत्र के प्रति सरकार की उदारीकृत मनोवृत्ति, अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों से सरलता से पहुँच, अंकीय संचार का आगमन और इसके प्रौद्योगिकीय अभिनव परिवर्तन इस क्षेत्र के विकास की अन्य विशेषताऐं हैं। मीडिया उद्योग देश में मजबूत व्यापार माहौल का सृजन करने के अतिरिक्त सूचना और शिक्षा मुहैया करा कर राष्ट्रीय नीति और कार्यक्रमों के प्रति लोगों में जागरूकता लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस प्रकार से यह राष्ट्र निर्माण के प्रयासों में जनता को सक्रिय भागीदार बनने में सहायता करता है।

13.8 शब्दावली

उपभोक्तावाद- वस्तुओं के अधिक उपभोग में विश्वास, अभिजन- राजनीतिक एवं सामाजिक रूप से सशक्त कुछ प्रभावशाली लोगों का विशिष्ट वर्ग, डिजिटल क्रांति- सूचना एवं प्रौद्योगिकी के कारण विश्वव्यापी परिवर्तन, प्रावधान- कानूनी व्यवस्था।

13.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. टेलीविज़न, **2.** 1920 के दशक में, **3.** 23 नवंबर 1997 को, **4.**फेसबुक **5.** आकाशवाणी

13.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. चार्ल्स स्टीन्बर्ग, 1985, द मास कम्यूनिकेटर: पब्लिक ओपिनियन एंड मास मीडिया, हार्पर एंड ब्रदर्स, न्यूयार्क।
2. संजीव भानावत, 2013, संचार के सिद्धान्त, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन,जयपुर।
3. अरविंद मोहन, 2008, मीडिया की खबर, शिल्पायन, नयी दिल्ली।
4. आलोक मेहता, 2006, पत्रकारिता की लक्ष्मण रेखा,सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली

13.11 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. जोसफ गाथिया, 2009, मीडिया और सामाजिक बदलाव, कांसेप्ट पब्लिशिंग कंपनी, नयी दिल्ली।
2. वर्तिका नन्दा और उदय सहाय, 2009, मीडिया और जनसंवाद, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली।

13.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. जन संचार के अर्थ एवं महत्व पर प्रकाश डालिए।
2. नये विचार एवं व्यवहार के प्रसार में टेलीविज़न की भूमिका का विश्लेषण कीजिये।
3. जनमत के निर्माण में जन संचार की भूमिका का वर्णन कीजिए।
4. जन संचार के उचित नियमन की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 14 सामाजिक आन्दोलन

इकाई की संरचना

14.0 प्रस्तावना
14.1 उद्देश्य
14.2 सामाजिक आन्दोलन
14.2.1 सामाजिक आन्दोलन का अर्थ
14.2.2 सामाजिक आन्दोलन की उत्पत्ति
14.2.3 नवीन सामाजिक आन्दोलन
14.2.4 सामाजिक आन्दोलन का सिद्धान्त
14.3 सामाजिक आन्दोलन एवं लोकनीति
14.4 भारत के प्रमुख सामाजिक आन्दोलन
14.4.1 तेलंगाना आन्दोलन
14.4.2 नक्सल आन्दोलन
14.4.3 बड़े किसान आन्दोलन
14.5 नीतियों को निर्धारित करने में सामाजिक आन्दोलनों की भूमिका
14.6 सामाजिक आन्दोलनों के प्रति लोक अभिकरणों की अभिक्रिया
14.7 सारांश
14.8 शब्दावली
14.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
14.11 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
14.12 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

सामाजिक आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन का एक बहुत प्रमुख कारक रहा है। विशेषकर परम्परागत समाज में सामाजिक आंदोलनों के द्वारा काफी परिवर्तन आए हैं। सामाजिक आन्दोलन व्यक्तियों और/या संगठनों के विशाल अनौपचारिक समूह होते हैं जिनका ध्येय किसी विशिष्ट सामाजिक मुद्दे पर केंद्रित होता है। दूसरे शब्दों में ये कोई सामाजिक परिवर्तन करना चाहते हैं, उसका विरोध करते हैं या किसी सामाजिक परिवर्तन को समाप्त कर पूर्वस्थिति में लाना चाहते हैं। आधुनिक पाश्चात्य जगत में सामाजिक आन्दोलन शिक्षा के प्रसार के द्वारा तथा उन्नीसवीं सदी में औद्योगीकरण व नगरीकरण के कारण श्रमिकों के आवागमन में वृद्धि के कारण सम्भव हुए। आधुनिक आन्दोलन संसार भर में लोगों को जागृत करने के लिये प्रौद्योगिकी तथा अन्तरजाल का सहारा लेते हैं। सामाजिक आन्दोलन का विस्तार अपने में पर्यावरण के आन्दोलन से लेकर युद्ध विरोधी आन्दोलन, स्त्री आन्दोलन, मजदूर आन्दोलन और कई ऐसे मुद्दों के आन्दोलन को शामिल करता है जिसके बारे में औपचारिक राजनीति

सोचती तक नहीं है। प्रतिरोध के तरीके भी इसके सामान्य राजनैतिक प्रतिरोध से अलग होते हैं। इस अर्थ में सामाजिक आन्दोलन, व्यापक जनहितों और गैर-परम्परागत प्रतिरोधात्मक माध्यमों का प्रतिनिधित्व करने वाला सामाजिक दबाव समूह हैं। सामाजिक आन्दोलन आज के समय में जनता का एक कारगर हथियार हैं जो राजनैतिक चेतना से संपन्न बनते हुए उसे समाज और सामूहिकता से जोड़ता है।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- सामाजिक आन्दोलन के अर्थ, उत्पत्ति एवं सिद्धान्तों के बारे में ज्ञान प्राप्त होगा।
- नीति-निर्माण एवं सामाजिक आन्दोलन के संबंधों को समझ सकेंगे।
- नीति-निर्माण के निर्धारक तत्व के रूप में सामाजिक आन्दोलन की भूमिका के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्राप्त होगा।
- विविध सामाजिक आंदोलनों के बारे में भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

14.2 सामाजिक आन्दोलन

सामाजिक इकाई के एक अंग के रूप में मनुष्य, दूसरे मनुष्य एवं समाज के साथ अंतःक्रिया करता है। फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था का निर्माण संभव हो पाता है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था उप-व्यवस्थाओं का जाल होता है। ये उप-व्यवस्थाऐं विविध आधारों पर निर्मित होती हैं। सामाजिक एवं आर्थिक उप-व्यवस्थाऐं वृहत राष्ट्रीय व्यवस्था का रूप हैं। सदस्यता के आधार पर इनमे फर्क कर पाना मुश्किल हो जाता है क्योंकि एक उप-व्यवस्था के सदस्य अक्सर दूसरी में पाए जा सकते हैं। सामाजिक व्यवस्था सांस्कृतिक व्यवस्था से इतर होती हैं। इसके साथ ही समाज का अलग-अलग वर्गों में विभाजन भी दिखाई देता है जो सामाजिक स्तरीकरण कहलाता है। सामाजिक स्तरीकरण का आधार समय-समय पर अलग होता है तथा समाज की प्रकृति के अनुसार भी इसका आधार परिवर्तित होता रहता है। संपत्ति, शक्ति, स्वामित्व, आय, शिक्षा, धार्मिक पद की प्रकृति, नस्ल, नैतिकता तथा संघ की सदस्यता आदि ऐसे मानक हैं जो सामाजिक स्तरीकरण को निर्धारित करने के आधार होते हैं। सामाजिक गतिशीलता व्यक्ति की दशा में परिवर्तन को इंगित करता है। इसके साथ ही सामाजिक व्यवस्था में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सामूहिक प्रयास आंदोलनों को जन्म देता है जिन्हें सामाजिक आन्दोलन की संज्ञा दी गयी है।

हाल के वर्षों में सामाजिक आन्दोलन की अवधारणा विविध आयामों से प्रभावित हुई है। न केवल सामाजिक मानव विज्ञान अपितु राजनीति विज्ञान, लोक प्रशासन, इतिहास आदि ने भी सामाजिक आन्दोलन की अवधारणा को परिवर्तित किया है। 19वीं शताब्दी में सामाजिक आन्दोलन शब्द सामाजिक उथल-पुथल के कारण यूरोपीय भाषाओं में बहस का मुद्दा था जो बाद में सामाजिक विज्ञानों में समाहित हो गया।

14.2.1 सामाजिक आन्दोलन का अर्थ

सामाजिक आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन का एक विशेष रूप है जिसका उद्देश्य राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक जीवन में आंशिक या पूर्ण परिवर्तन लाना होता है। यह एक ऐसा सामूहिक प्रयत्न है जो किसी विशेष विचारधारा के आधार पर लोगों को संगठित कर अपनी समस्याओं का समाधान करने तथा वांछित उद्देश्यों को प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। पूरी तरह से सामाजिक आन्दोलन का उद्देश्य व्यवस्था में परिवर्तन लाना ही नहीं बल्कि कभी-कभी परिवर्तन को रोकना भी है। इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन में दबाब एवं बाध्यता का तत्व समाहित होता है। परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था में एकता बनाये रखने पर जोर देता है जबकि आन्दोलन में विरोध एवं संघर्ष के तत्व छिपे होते हैं।

विविध विद्वानों ने इसकी परिभाषा अलग-अलग ढंग से की है। टर्नर एवं किलेन के अनुसार "सामाजिक आन्दोलन निरंतरता के साथ किया जानेवाला वह सामूहिक प्रयत्न है जिसका उद्देश्य उस समाज में परिवर्तन को प्रोत्साहन देना या परिवर्तन को रोकना होता है, जिसके वे एक अंग होते हैं।" हर्बर्ट ब्लूमर के शब्दों में "जीवन की नयी व्यवस्था को स्थापित करने के उद्देश्य से किये जाने वाले सामूहिक प्रयास को सामाजिक आन्दोलन कहा जाता है।" नील स्मेलसर ने लिखा है "सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत मानवीय संबंधों, सामाजिक संस्थाओं, तथा सामाजिक मानदंडों के प्रति नए सिरे से किये जाने वाले सामूहिक अनुकूलन का नाम ही सामाजिक आन्दोलन है।"

एन्थोनी गिडेन्स के अनुसार "सामाजिक आन्दोलन व्यक्तियों का ऐसा प्रयास है जिसका एक सामान्य उद्देश्य होता है और उद्देश्य की पूर्ति के लिए संस्थागत सामाजिक नियमों का सहारा न लेकर लोग अपने ढंग से व्यवस्थित होकर किसी परम्परागत व्यवस्था को बदलने का प्रयास करते हैं।" गिडेन्स ने कहा है कि कभी-कभी ऐसा लगता है कि सामाजिक आन्दोलन और औपचारिक संगठन एक ही तरह की चीजें हैं, पर दोनों बिल्कुल भिन्न हैं। सामाजिक आन्दोलन के अन्तर्गत नौकरशाही व्यवस्था जैसे नियम नहीं होते, जबकि औपचारिक व्यवस्था के अन्तर्गत नौकरशाही नियम-कानून की अधिकता होती है। इतना ही नहीं दोनों के बीच उद्देश्यों का भी फर्क होता है। उसी तरह से कबीर पंथ, आर्य समाज, बह्म समाज या हाल का पिछड़ा वर्ग आन्दोलन को सामाजिक आन्दोलन कहा जा सकता है लेकिन औपचारिक व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। सामाजिक आन्दोलन एक प्रकार का 'सामूहिक क्रिया' है।

इस प्रकार किसी विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले उन संगठित प्रयत्नों को हम सामाजिक आन्दोलन कहते हैं जो एक विशेष विचारधारा पर आधारित होती है। सामाजिक आन्दोलन उन संगठनों का नाम है जो परिवर्तन लाने हेतु सीधी कार्यवाही एवं अपने संगठनों में गतिविधियों का सहारा लेते हैं। सामाजिक आन्दोलन हिंसा व रक्तपात के बिना भी हो सकते हैं, सामाजिक आन्दोलन सत्ता को स्वीकार करते हैं।

सामाजिक आन्दोलन की प्रमुख विशेषताऐं निम्नवत हैं-

1. सामाजिक आन्दोलन एक सामूहिक प्रयत्न है न कि एक व्यक्तिगत प्रयास।

2. सामाजिक आन्दोलन किसी विशेष विचारधारा पर आधारित होती है।
3. सामाजिक आन्दोलन का आधार विशेष समस्या या संकट होता है।
4. सामाजिक आन्दोलन परिवर्तन की इच्छा को इंगित करती है।
5. प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन का एक संगठनात्मक आधार अवश्य होता है किन्तु ऐसे संगठन का कोई संस्थागत रूप नहीं होता।
6. इसकी प्रकृति व्यवस्था विरोधी होती है।
7. प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन का एक निर्धारित लक्ष्य होता है।
8. प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन में नेतृत्व एक प्रमुख तत्व होता है।

इस प्रकार सामाजिक आन्दोलन का उद्देश्य चाहे किसी दशा का विरोध करना हो अथवा परम्परागत सांस्कृतिक विशेषताओं को पुनर्जीवित करना हो, सभी सामाजिक आन्दोलन सामाजिक संबंधों तथा सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन पैदा करके समाज की परंपरागत संरचना में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। नील जे. स्मेल्सर ने दो प्रकार के सामाजिक आंदोलनों में विभेद किया है- मानदंड अभिमुखी एवं मूल्य अभिमुखी।

14.2.2 सामाजिक आन्दोलन की उत्पत्ति

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वैश्विक और राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणालियों में सामाजिक आन्दोलन का उदय हुआ। इनके पीछे ऐसी शख्सियतें, समूह और संगठन थे जिनका उद्देश्य औपचारिक राजनीति के दायरों के बाहर सार्वजनिक नीतियों को जन-हित के दृष्टिकोण से प्रभावित करना था। पिछले सत्तर वर्षों में सामाजिक आंदोलनों ने राजनीतिक प्रणालियों और लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया पर उल्लेखनीय असर डाला है। सारी दुनिया में पर्यावरण का आंदोलन, युद्ध विरोधी आंदोलन, असंगठित मजदूरों के आंदोलन, स्त्री अधिकारों के आन्दोलन, वैकल्पिक यौनिकताओं के आन्दोलन इस परिघटना की सफलता के प्रमाण हैं। वित्तीय पूँजी के भूमण्डलीकरण से उपजी जन-विरोधी प्रवृत्तियों के ख़िलाफ चल रहे आन्दोलन भी इसी श्रेणी में आते हैं। इंटरनेट की परिघटना के उभार के बाद सामाजिक आंदोलनों के लिए प्रसार, समन्वय और संजाल(Network) की सुविधा में और बढ़ोतरी हो गयी है।

सामाजिक आंदोलनों को समझने के लिए सबसे पहले मनोविज्ञान का प्रयोग किया गया। इससे आन्दोलनरत लोगों, समूहों और नेटवर्कों के सामूहिक व्यवहार पर रोशनी पड़ी। दूसरी तरीका संरचनागत-प्रकार्यवादी किस्म का था। उसने यह देखने की कोशिश की कि इन आंदोलनों का सामाजिक स्थिरता पर क्या असर पड़ रहा है? वृहत समाज का अध्ययन करने वाले मनोवैज्ञानिकों को लगा कि सामाजिक आन्दोलन निजी तनाव से जूझ रहे व्यक्तियों की अभिव्यक्तियाँ हैं। दूसरी तरफ संरचनागत-प्रकार्यवादी विद्वानों का ख्याल था कि ये आन्दोलन सामाजिक प्रणाली में आये तनावों का फलितार्थ हैं। सत्तर के दशक में इस अनुसंधान ने नयी करवट बदली। इस परिवर्तन के पीछे नये छात्र आंदोलनों और उनसे निकली प्रतिरोध की कार्यवाहियों का प्रभाव था। एक नये सिद्धान्त ने जन्म लिया जिसे 'रिसोर्स मोबिलाइजेशन' सिद्धान्त(संसाधनों की लामबंदी का सिद्धान्त) के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त ने

सामाजिक आंदोलनों को एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखा जिसके तहत राजनीतिक उद्यमी किसी इच्छित सामाजिक परिवर्तन की खातिर पहले तो संसाधनों का तर्कसंगत संचय करते हैं और फिर लक्ष्यों को भेधने के लिए संसाधनों का प्रयोग करते हैं। इस सिद्धान्त के पैरोकार मानते हैं कि सामाजिक आंदोलन पूरी तरह से अपनी संसाधन उपलब्ध कर पाने की क्षमता पर ही निर्भर करते हैं। ये संसाधन आर्थिक और मानवीय सहयोग जुटाने पर भी आधारित हो सकते हैं और इनका स्रोत नैतिक सरोकारों और प्राधिकार वगैरह में भी हो सकता है।

सामाजिक आंदोलनों की प्रक्रिया में एक सिद्धान्त सांगठनिक व्यवहार के अध्ययन के रूप में भी विकसित हुई। उसने सामाजिक आन्दोलन को किसी भी अन्य संगठित समूह की तरह समझने की चेष्टा की। आगे चल कर कई विद्वानों ने सामाजिक आंदोलनों और संस्थागत राजनीति के बीच अन्योन्यक्रिया पर विशेष ध्यान दिया, जिससे राजनीति को प्रक्रियाओं के रूप में समझने के परिप्रेक्ष्य का विकास हुआ। अस्सी के दशक में हुए कुछ अनुसंधानों ने वामपंथी रुझान वाले कई आंदोलनों पर ध्यान दिया। ये वामपंथी समूह पदानुक्रम पर आधारित संगठन के बजाय क्षैतिज बनावट वाले संगठन और बारी-बारी से नेतृत्व करने या अनौपचारिक किस्म के नेतृत्व में यकीन करने वाली थी। यूरोप की जमीन और वहीं के परिप्रेक्ष्य के आधार पर हुए इस शोध ने संस्कृति और अस्मिता संबंधी आंदोलनों को अपनी विषय-वस्तु बनाया। उन्होंने देखा कि पर्यावरण संबधी आंदोलन और स्त्री-अधिकारों के लिए होने वाले आंदोलन किस प्रकार प्रतिरोध के नये-अनूठे तौर-तरीके इस्तेमाल कर रहे हैं। इस विमर्श से नव-सामाजिक आंदोलनों का सिद्धान्त निकला। दरअसल, अस्सी और नब्बे के दौरान प्रकाश में आया यह सिद्धान्त वामपंथ की स्थापित समझ को चुनौती देने वाला साबित हुआ। इससे पहले वामपंथी राजनीतिक कार्रवाई का मतलब वर्ग-आधारित गतिविधि के अलावा कुछ और नहीं समझा जाता था। लेकिन जब अमेरिका में अफ्रो-अमेरिकनों ने अपने अधिकारों के समर्थन में ब्लैक पॉवर और ब्लैक पेंथर जैसे जुझारू आंदोलन, वियतनाम युद्ध के ख़िलाफ साम्राज्यवाद विरोधी मुहिम,आणुविक निःशस्त्रीकरण के पक्ष में शांति आंदोलन, प्रतिक्रियावादी नारीवाद के तर्क तथा हवा और पानी के प्रदूषण के खिलाफ आवाज बुलंद की गयी तो वर्ग-संघर्ष को ही केन्द्रीय सामाजिक अंतर्विरोध मानने वाली दृष्टि को प्रश्नांकित होना पड़ा।

इन आंदोलनों में एक विचारधारात्मक विविधता थी। इनकी जमीन भी एक-दूसरे से भिन्न दिख रही थी। पारम्परिक मार्क्सवादी समझ को ठुकराते हुए आंद्रे ग्रोज, रुडोल्फ बाहरो, एलां तूरें और युर्गेन हैबरमास ने अपने-अपने तरीके से दावा किया कि सामाजिक-राजनीतिक अस्मिता और राजनीतिक कार्रवाई की खातिर की जाने वाली गोलबंदी के लिए वर्ग अब एक कारगर प्रत्यय नहीं रह गया है। इन विद्वानों ने नव-सामाजिक आंदोलनों को उत्तर-औद्योगिक सामाजिक संरचनाओं की पैदाइश करार दिया। उनका कहना था कि लोकोपकारी राज्य ने शोषण के पुराने रूपों को काफी-कुछ निष्प्रभावी कर दिया है। नयी परिस्थितियों में आधुनिक समाज परायेपन के नये रूपों को जन्म दे रहा है। इससे पैदा होने वाले विक्षोभ को नव-सामाजिक आंदोलन अपना

केंद्र बना रहे हैं। फ्रांसीसी समाजशास्त्री एलां तूरेन ने 'द रिटर्न ऑफ द एक्टर' की रचना की। तूरेन ने प्रतिक्रियावादी रवैया अख्तियार करते हुए अपील की कि समाजशास्त्रियों को सामाजिक आंदोलनों की केवल व्याख्या तक ही सीमित न रह कर उनमें भागीदारी करते हुए उनकी गहरी पड़ताल करनी चाहिए। भूमण्डलीकरण के उभार ने सामाजिक आंदोलन संबंधी युरोपीय और अमेरिकी परिप्रेक्ष्यों के बीच मेल-मिलाप की परिस्थितियाँ बनायी हैं। अब विद्वानगण सामाजिक आंदोलन में नेटवर्कों की भूमिका पर विशेष ध्यान दे रहे हैं। इस परिघटना और भूमण्डलीकरण विरोधी आंदोलन के सहयोजन पर भी खास जोर दिया जा रहा है।

राजनीतिक भागीदारी के संस्थागत दायरों के बाहर परिवर्तनकामी राजनीति करने वाले आंदोलनों को सामाजिक आंदोलनों की संज्ञा दी जाती है। लम्बे समय तक सामूहिक राजनीतिक कार्रवाई करने वाली ये आंदोलनकारी संरचनाऐं समाज और राजनीतिक तंत्र के बीच अनौपचारिक सूत्र का काम भी करती हैं। हालाँकि ज्यादातर सामाजिक आंदोलन सरकारी नीति या आचरण के खिलाफ कार्यरत रहते हैं लेकिन स्वतःस्फूर्त या असंगठित प्रतिरोध या कार्रवाई को सामाजिक आंदोलन नहीं माना जाता। इसके लिए किसी स्पष्ट नेतृत्व और एक निर्णयकारी ढाँचे का होना जरूरी है। आंदोलन में भाग लेने वालों के लिए किसी साझा मकसद और विचारधारा का होना भी आवश्यक है। दरअसल सामाजिक आंदोलन अपने बुनियादी चरित्र में अनौपचारिक संजालों की अन्योन्य क्रिया से बने होते हैं। वे ऐसे मुद्दे चुनते हैं जिन्हें औपचारिक राजनीति अपनाने से इनकार कर देती है। साथ ही वे प्रतिरोध और सामूहिकता के गैर-परम्परागत रूपों का इस्तेमाल करते हैं। सामाजिक आंदोलनों ने अल्पसंख्यकों, हाशिये पर खड़े समूहों और अधिकार-वंचित तबकों की राजनीति को बढ़ावा दिया है। इसी कारण से यह भी माना जाता है कि समकालीन लोकतंत्र अपने विस्तार और गहराई के लिए सामाजिक आंदोलनों का ऋणी है।

14.2.3 नवीन सामाजिक आन्दोलन

नवीन सामाजिक आन्दोलन लोगों के ऐसे सामूहिक प्रयासों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनका सरोकार लोकतान्त्रिक एवं मानवीय, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के भीतर उनकी समानता एवं सामाजिक न्याय की मांग से है। ये लोगों की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्रतीकात्मक पहचानों एवं उनकी विरासत को प्रतिविम्बित करते हैं। भारतीय समाज विज्ञानी प्रो0 रजनी कोठारी ने नवीन सामाजिक आन्दोलन को 'वैकल्पिक संग्राम' की संज्ञा दी है, वहीं अल्वारेज एवं एस्कोबार ने इन्हें 'लोकप्रिय अभियान' कहा है। इसके पूर्व ऐलें तूरे ने नवीन सामाजिक आन्दोलन को 'केन्द्रीय सामाजिक संघर्ष' माना था तथा चैन्टेल मूफे ने 'नया लोकतान्त्रिक संघर्ष' कहा। नवीन सामाजिक आन्दोलन किसी विशेष विचारधारा से प्रभावित नहीं है। ये सामाजिक आन्दोलन राज्य एवं समाज के क्षेत्रों को परिभाषित कर दोनों को अपने क्षेत्र के भीतर रखना चाहते हैं। इनका उद्देश्य सत्ता को हथियाना नहीं बल्कि अपनी स्वयत्तता बनाये रखना है। नवीन सामाजिक आन्दोलन पीड़ित एवं वंचित पक्षों को आकृष्ट(Enamored) करते हैं तथा एक नए एवं बेहतर समाज की स्थापना करना ही इनका प्रमुख उद्देश्य है। माइकेल

फूको के विचार में इन आंदोलनों का ध्येय अपनी विशिष्ट पहचान बनाना है और इसलिए उनका संघर्ष 'पहचान की राजनीति' की रचना करता है। लेकिन एन्थोनी गिडेंस के अनुसार यह सब लोगों के जीवन से जुड़ा है जिसके कारण इसे 'जीवन की राजनीति' कहा जा सकता है। नवीन सामाजिक आन्दोलन के अंतर्गत ऐसे आंदोलनों को लिया जा सकता है जिनका उद्देश्य ऐसी सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना है जिसमें सभी की सुरक्षा सुनिश्चित हो सके। इसके प्रमुख उदाहरण हैं- मानव अधिकार आन्दोलन, पर्यावरण सुरक्षा आन्दोलन, नारीवादी आन्दोलन आदि।

14.2.4 सामाजिक आन्दोलन का सिद्धान्त

संस्थागत स्थिति एवं अभिप्रेरणात्मक कारक, जो सामाजिक आन्दोलन की उत्पत्ति में सहायक होते हैं, इनकी व्याख्या तीन प्रमुख सिद्धान्तों द्वारा की गयी है। ये हैं-

क. सापेक्षिक वंचन सिद्धान्त- इस सिद्धान्त को विकसित एवं परिवर्धित करने का श्रेय अमेरिकी विद्वान स्टॉफर को जाता है। सापेक्षिक वंचन का सामान्य तौर पर अर्थ होता है- दूसरे की तुलना में अपने को वंचित महसूस करना। यह वंचना दो समूहों के बीच घोर सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक असमानता का परिचायक है। स्टॉफर के अनुसार यह वह भावना है जिसमें वैधानिक अपेक्षाओं और वास्तविकताओं के बीच गहरी असंगतता हो जाती है। यह सिद्धान्त यह मानता है कि जब कोई समूह किसी अन्य समूह की तुलना में वंचित महसूस करता है तो वह संगठित होकर किसी न किसी रूप में सामाजिक आन्दोलन को जन्म देता है।

ख. तनाव सिद्धान्त- यह सिद्धान्त अमेरिकी समाजशास्त्री स्मेल्सर ने प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार किसी भी समाज की स्थिरता बनाये रखने में मूल्य, मानदंडों एवं प्रतिमानों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। सभी समूह इसके प्रति स्वीकार्यता रखते हैं। फलस्वरूप सामाजिक स्थिरता बनी रहती है। परन्तु यही मूल्य एवं मापदंड समाज के किसी भाग के लिए तनाव का कारण बन जाते हैं। अनंतर इन्हीं मूल्यों, मानदंडों एवं प्रतिमानों पर प्रश्न-चिन्ह खड़ा हो जाता है तथा समूह संगठित होकर इनसे निकलने का प्रयास करने लगता है। पश्चिम में नारीवादी आन्दोलन तथा भारत में ब्रिटिश काल के जाति आन्दोलन इसके उदाहरण हो सकते हैं। यह सिद्धान्त उन समाजों पर अधिक लागू होता है जो परम्परा एवं आधुनिकता के काल से गुजर रहे है ।

ग. पुनर्निर्माण सिद्धान्त- इस सिद्धान्त के प्रतिपादक वैलेस हैं। सापेक्षिक वंचन सिद्धान्त एवं तनाव सिद्धान्त से जहाँ यह प्रतीत होता है कि सामाजिक आन्दोलन नकारात्मक कारणों से होते हैं वहीं वैलेस का मानना है कि सामाजिक आन्दोलन समाज के सदस्यों द्वारा अधिक संतुष्टि प्रदान करने वाली संस्कृति के निर्माण हेतु स्वैच्छि, संगठित एवं जागरूक प्रयत्न है।

एम.एस.ए. राव ने इन सिद्धान्तों में सापेक्षिक वंचन सिद्धान्त को बेहतर माना है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह संघर्ष के द्वारा परिवर्तन के प्रयासों पर बल देता है जो संज्ञानात्मक दृष्टिकोण से वास्तविक प्रतीत होता है।

14.3 सामाजिक आन्दोलन एवं लोकनीति

सामाजिक आन्दोलन लोकनीति का प्रमुख निर्धारक तत्व है। सामाजिक आन्दोलन का उद्देश्य राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक जीवन में आंशिक या पूर्ण परिवर्तन लाना होता है। यह एक ऐसा सामूहिक प्रयत्न है जो किसी विशेष विचारधारा के आधार पर लोगों को संगठित कर अपनी समस्याओं का समाधान करने तथा वांछित उद्देश्यों को प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। विलियम ब्रूस केमरून ने सामाजिक आन्दोलन के चार प्रकार बताये हैं- प्रतिक्रियावादी, रुढ़िवादी, क्रान्तिकारी एवं पुनर्मूल्यांकनात्मक। प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन में दबाब एवं बाध्यता का तत्व समाहित होता है। परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था में एकता बनाये रखने पर जोर देता है जबकि आन्दोलन में विरोध एवं संघर्ष के तत्व छिपे होते हैं। सामाजिक आन्दोलन के समर्पित तत्व लोकनीति को प्रभावित करने में सशक्त भूमिका अदा करते हैं। वहीं दूसरी ओर जिनमें समर्पण का अभाव होता है, वे अक्सर राजनीतिक लामबंदी का शिकार हो जाते हैं।

सामाजिक आन्दोलन सामाजिक व्यवस्था के उत्पाद होते हैं जो नीति-निर्माण को प्रभावित करते हैं। सामान्यतः नीतियाँ राजनीतिक व्यवस्था के आधारभूत उद्देश्यों के अनुरूप ही निर्मित की जाती हैं और इनका बल सामाजिक उद्धार होता है। सामाजिक आन्दोलन दबी हुई आवाज को बाहर लाने का एक प्रयास है। प्रायः सामाजिक आन्दोलन मुद्दों पर आधारित प्रयास को सफल भी बनती हैं। राजनीतिक व्यवस्था भी मुद्दों की प्रकृति के आधार पर ही नीतियों में इन्हें समाहित करती हैं। इस प्रकार लोक नीति-निर्माण में सामाजिक आन्दोलन की भूमिका काफी महत्वपूर्ण हो जाती है।

वैश्विक स्तर पर सामाजिक आन्दोलन का नीति निर्माण में प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भारत में भी समय-समय पर सामाजिक आंदोलनों ने नीति-निर्माण को प्रभावित किया है। कुछ प्रमुख सामाजिक आंदोलनों के सम्बन्ध में वर्णन आगे किया गया है।

14.4 भारत के प्रमुख सामाजिक आन्दोलन

प्रो0 योगेन्द्र सिंह ने भारतीय सन्दर्भ में सामाजिक आन्दोलन के दो कारण- एकीकरण एवं पृथक्करण बताये हैं। पाश्चात्य विचारकों ने इस सन्दर्भ में व्यापक चर्चा की है। ली बौन के अनुसार एकाकीपन तथा अलगाव ने सामाजिक आन्दोलन का विकास किया है। भारत में समय-समय पर सामाजिक आंदोलनों के विविध रूप दिखे हैं। हिन्दू धार्मिक सामाजिक आन्दोलन के उदाहरण हैं- आत्मीय सभा, ब्रह्म समाज, धर्म सभा आदि। वहीं कृषक आन्दोलन के उदाहरण हैं- नील आन्दोलन(1559-60), पावना आन्दोलन(1870-80) तथा दक्कन आन्दोलन(1975)। अनुसूचित जाति एवं पिछड़े वर्ग का सामाजिक आन्दोलन का उदाहरण भारतीय सन्दर्भ में है- श्री नारायण धर्म(1903), जस्टिस पार्टी(1916-17), आत्म-सम्मान आन्दोलन(1925), नादार आन्दोलन(1910), पल्ली आन्दोलन(1871), नायर आन्दोलन (1891), महार आन्दोलन(1920), नमो शूद्र आन्दोलन(1901), कैवर्त आन्दोलन(1907) तथा अखिल भारतीय आन्दोलन(1910)।

भारत में कृषक आन्दोलन की चर्चा प्रारम्भ से ही रही है। भारत के एक कृषि प्रधान देश होने के नाते समय-समय पर अनेकों आन्दोलन हुए जिनमे इस वर्ग की तत्कालीन समस्याओं के समाधान हेतु प्रयास हुए। भूमि स्वामित्व, जमीन पर नियंत्रण, जमीन का उपयोग, काम करने वाले श्रमिकों की स्थिति एवं मजदूरी ऐसे मुद्दे थे, जिन्होंने लगातार इस ओर ध्यान खींचा। सामान्य तौर पर बड़े एवं छोटे किसानों के बीच खाई हमेशा बनी रही। ऋण एवं संस्थागत समर्थन व्यवस्था के कारण भी इनकी दूरी बढती गयी। बड़े किसानों ने बिजली, पानी की आपूर्ति, खाद पर अनुदान तथा कृषि उत्पाद के अधिक मूल्य हेतु संगठित सामाजिक प्रयास कर सामाजिक आन्दोलन को दिशा दी । यहाँ दो प्रमुख कृषक आन्दोलन, तेलंगाना आन्दोलन तथा नक्सल आन्दोलन की चर्चा की जा रही है जिनका सम्बन्ध छोटे किसानों से रहा।

14.4.1 तेलंगाना आंदोलन

दक्षिण भारत के किसान आंदोलनों में तेलंगाना आन्दोलन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। 1923 में सांस्कृतिक आधार पर आरम्भ होने वाला यह आन्दोलन 1940 के दशक में एक हिंसक किसान आन्दोलन के रूप में परिवर्तित हो गया। तेलंगाना मूल रूप से निजाम की हैदराबाद रियासत का हिस्सा था। तत्कालीन तेलंगाना क्षेत्र में 85 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर थी। सम्पूर्ण कृषि भूमि का 60 प्रतिशत रैय्यतबाड़ी प्रथा पर आधारित था जबकि 40 प्रतिशत भूमि निजाम के अधिकार में थी। शोषण एवं बेगार यहाँ आम था। चालीस के दशक में वासुपुन्यया के नेतृत्व में कम्युनिस्टों ने पृथक तेलंगाना की मुहिम की शुरुआत की थी। उस समय इस आंदोलन का उद्देश्य भूमिहीनों कों भूमि का स्वामी बनाना था। यहाँ पर किसानों से कम दाम पर अनाज की जबरन वसूली की जा रही थी, जिसके कारण उनके अन्दर एक आक्रोश उत्पन्न हुआ। 1946 में प्रारम्भ इस आन्दोलन में निजाम के प्रतिनिधि जागीरदारों के खिलाफ एक मुहीम की शुरुआत की गयी। इस आन्दोलन का तात्कालिक कारण कम्युनिस्ट नेता कमरैया की हत्या कर देना था। किसानों ने पुलिस व जमींदारों पर हमला कर दिया तथा हैदराबाद रियासत को समाप्त कर भारत का अंग बनाने माँग की। तेलंगाना कृषक आन्दोलन भारतीय इतिहास के सबसे लम्बे छापामार कृषक युद्ध का साक्षी बना। आंध्र प्रदेश में यह आन्दोलन जमींदारों एवं साहूकारों के शोषण की नीति के खिलाफ तथा भ्रष्ट अधिकारियों के अत्याचार के विरुद्ध 1946 ई. में किया गया था। 1858 ई. के बाद हुए किसान आंदोलनों का चरित्र पूर्व के आन्दोलन से अलग था। अब किसान बगैर किसी मध्यस्थ के स्वयं ही अपनी लड़ाई लड़ने लगे। इनकी अधिकांश माँगें आर्थिक थी तथा निजाम के न ध्यान देने के कारण ही थी। 1949 में हैदराबाद के विलय के साथ ही यह सामाजिक आन्दोलन वापस ले लिया गया। समाजवादियों की आशा के अनुरूप ही जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन हो गया।

14.4.2 नक्सल आन्दोलन

मार्क्सवाद के वर्ग संघर्ष पर आधारित इस आन्दोलन का उदय पश्चिम बंगाल के शिलिगुड़ी जिले के नक्सलवारी क्षेत्र में 1967 में हुआ। नक्सलवारी क्षेत्र में शुरू होने के कारण इसे नक्सलवाद के नाम से पुकारा गया। इस आन्दोलन का आरंभिक नेतृत्व मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट

पार्टी के सदस्य कानू सान्याल, चारु मजुमदार तथा जंगल संथाल ने किया। इनके नेतृत्व में ही नक्सलवारी गाँव के किसानों ने गाँव के भूस्वामियों के विरुद्ध संघर्ष अभियान चलाया। आरंभिक में इनका उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समानता स्थापित करना था। कन्हाई चटर्जी ने अक्टूबर 1969 में माओवादी कम्युनिस्ट सेण्टर (एम.सी.सी.) की स्थापना की। इसी क्रम में 1980 में कोंडापल्ली सीतारमैया ने पीपुल्स वार ग्रुप (पी.डब्लू.जी.) की स्थापना की। 2005 के बाद नक्सली संगठनों की ताकत में तब वृद्धि हुई जब पीपुल्स वार ग्रुप तथा माओवादी कम्युनिस्ट सेण्टर का विलय हुआ। इस विलय ने सरकार को नक्सल आन्दोलन को नए सिरे से सोचने के लिए मजबूर कर दिया। तत्कालीन समय में नक्सलवाद के उदय का मुख्य कारण सीधे तौर पर सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं प्रशासनिक शोषण से जुड़ा है। क्षेत्रीयतावाद, असंतुलित विकास, व्यापक बेरोजगारी एवं मानसिक पिछडापन भी इसका मुख्य कारण है। उनका उद्देश्य सर्वहारा शासन तंत्र की स्थापना करना जिसमें मजदूरों, कृषकों तथा अन्य वर्ग का प्रभुत्व हो।

नक्सलवाद उग्र विचारधारा की प्रष्ठभूमि पर आधारित है, परन्तु मूल रूप से यह अलगाववाद तथा आतंकवाद से भिन्न है। इनका दूरगामी लक्ष्य देश के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन लाना है। इसी व्यवस्था की प्राप्ति के लिए ये संघर्ष कर रहे हैं। इस विचारधारा केलोगों का मानना है कि वर्तमान कि राजसत्ता भ्रष्ट नेताओं, नौकरशाहों, पूंजीपतियों, दलालों, भू-स्वामियों के हाथों में है, जो मिलकर एक विशाल जनसमूह वाले कृषक, मजदूरों पर राज्य कर रहे हैं। अपने मूलरूप से ये आन्दोलन भूमि सुधार आन्दोलन से जुड़ा है, क्योंकि देश कि बहुसंख्यक जनता के जीविकोपार्जन का साधन कृषि ही है। आरंभिक चरण में नक्सली आन्दोलन का उद्देश्य गरीब-कृषकों की समस्याओं को दूर करना था। जिसमें स्थानीय स्तर पर भूस्वामियों का संगठित विरोध करना था। लेकिन धीरे-धीरे वे चीनी नेताओं के दर्शन से प्रभावित हुए तथा हिंसक गतिविधियों में लिप्त हो गए। इन्होंने समाज के गरीब, भूमिहीन कृषकों, मजदूरों तथा जनजाति लोगों के बीच अपने आधार का निर्माण किया। नक्सली गुटों ने देश के कई राज्यों को मिलाकर एक ''रेड कॉरिडोर'' का निर्माण किया है तथा इस क्षेत्र में इनका प्रभाव भी अधिक है। यह कहा जा सकता है कि इनका उद्देश्य तो आदर्श है किंतु इसके संचालन केसाधन अत्यन्त ही अनुचित एवं निराशाजनक स्थिति का परिचायक है। माना जाता है कि भारत के कुल छह सौ से ज्यादा जिलों में से एक तिहाई नक्सलवादी समस्या से जूझ रहे हैं। विश्लेषक मानते हैं कि नक्सलवादियों की सफलता की वजह उन्हें स्थानीय स्तर पर मिलने वाला समर्थन है। नक्सलियों का कहना है कि वो उन आदिवासियों और गरीबों के लिए लड़ रहे हैं जिन्हें सरकार ने दशकों से अनदेखा किया है। माओवादियों का दावा है कि वो जमीन के अधिकार और संसाधनों के वितरण के संघर्ष में स्थानीय सरोकारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। माओवादी अंततः एक कम्युनिस्ट समाज की स्थापना करना चाहते हैं, हालांकि उनका प्रभाव आदिवासी इलाकों और जंगलों तक ही सीमित है।

14.4.3 बड़े किसानों का आन्दोलन

भारत में बड़े किसानों का आन्दोलन श्रीमती इंदिरा गाँधी की कांग्रेसी सरकार की नीतियों के प्रतिक्रिया फलस्वरुप उभरा। तत्कालीन सरकार द्वारा भूमि अधिग्रहण नियम को ग्रामीण भारत में अत्यधिक कड़ाई से लागू किया गया था। वहीं शहरी भारत में उस उत्साह से इसे क्रियान्वित नहीं किया गया था। इसके साथ ही मूल्य आधारित किसान आंदोलनों की शुरुआत भी भारत में हो चुकी थी। किसान आंदोलनों की सही परख हेतु हम यहाँ महाराष्ट्र एवं तमिलनाडु के किसान आंदोलनों की चर्चा करेंगे।

1. महाराष्ट्र में किसान आन्दोलन- भारत में किसान आंदोलन को संगठित कर उसे जुझारू तेवर देने वालों में सबसे महत्वपूर्ण नाम है, शरद जोशी कई दशक पहले वे विश्व बैंक की नौकरी छोड़कर महाराष्ट्र आए और किसानों की आवाज बुलंद करने के लिए 'शेतकारी संगठन' की स्थापना की। उनके नेतृत्व में महाराष्ट्र के किसानों ने कई उग्र आंदोलन के जरिये एक मिसाल कायम की और देश के अन्य राज्यों के किसानों को भी अपने मांगों के लिए संगठित होने के लिए प्रेरित किया। इस नये वर्ग ने देश के कई भागों में किसान आंदोलनों को संगठित किया, जिसका प्रमुख उद्देश्य सरकार से रियायती मूल्य पर खाद, डीजल आदि प्राप्त करने के लिए प्रयास करना था। महाराष्ट्र में किसान आन्दोलन मुख्यत: कपास उत्पादक कृषकों से सम्बन्धित रहे हैं। शरद जोशी की एक और खासियत यह है कि वे एक प्रखर उदारवादी बुद्धिजीवी भी रहे और उदारवादी सोच के मुताबिक बहुत तर्कपूर्ण ढंग से किसानों के मुद्दों को उठाते आए जिसने कई बहसों को जन्म दिया।

शरद जोशी ने डॉ0 एम.जी.बोकाडे के 1972 में स्थापित महाराष्ट्र कपास उत्पादक शेतकारी संघ को नयी गति प्रदान की। कपास किसानों को अपने उत्पाद के वांछित मूल्य न मिलने के कारण महाराष्ट्र में किसानों की ऋण ग्रस्तता लगातार बढ़ती जा रही थी। किसानों का कर्ज लगातार बढ़ता जा रहा था। लगभग यही हाल तम्बाकू उत्पादक किसानों का भी था। ऐसी स्थिति में किसानों ने डॉ0 एम.जी. बोकाडे के नेतृत्व में कपास के उचित मूल्य निर्धारण हेतु एक व्यापक आन्दोलन चलाया। अनंतर डॉ0 शरद जोशी ने शेतकारी संगठन की शुरुआत करके एक-सूत्री आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसे व्यापक समर्थन मिला। नवम्बर 1980 में नासिक में शेतकारी संगठन का रास्ता-रोको पूर्णतः सफल रहा। इस आन्दोलन के फलस्वरूप प्याज की खरीद मूल्य में 25 से 35 प्रतिशत की वृद्धि की गयी तथा गन्ना किसानों को मिलने वाली अग्रिम धनराशि भी 150 रूपये प्रति टन से 180 प्रति टन कर दिया गया। डॉ0 जोशी के नेतृत्व में तम्बाकू उत्पादक किसानों ने भी 21 दिनों तक कर्नाटक के निपानी में रास्ता पूरी तरह बंद कर दिया, यहाँ भी किसानों की मांग पूरी की गयी। यही सिलसिला लम्बे समय तक चला। इस प्रकार लोक नीतियों को निर्धारित करने में शेतकारी संगठन की भूमिका होती चली गयी। दलगत राजनीति का शिकार हो जाने एवं संगठनों में पकड़ कमजोर हो जाने के कारण शेतकारी संगठन एवं डॉ.शरद जोशी हाशिये पर चले गए हैं।

2. तमिलनाडु में किसान आंदोलन- तमिलनाडु प्रथम राज्य था जहाँ दलगत राजनीति से अलग हटकर किसान आन्दोलन की शुरुआत हुई। 1949 में तंजावुर के एक बड़े किसान राजगोपाल नायडू के नेतृत्व में कम्युनिस्टों के आन्दोलन के खिलाफ एक संघ का निर्माण किया गया था। कम्युनिस्टों के दमन के बाद यह संघ निष्प्राय हो गया। बिजली दरों की अधिकता एवं सरकारी ऋणों को चूका न पाने की क्षमता के कारण किसान आंदोलित होने लगे। तमिलनाडु किसान संघ के बैनर तले फिर से आन्दोलन चल पड़ा और हड़ताल आदि प्रारम्भ हो गए। 1977 में इस आन्दोलन ने हिंसक रूप ले लिया। सरकारी कर्मचारियों को कार्यालय जाने से रोका गया तथा किसानों ने ऋण चुकाने से साफ मना कर दिया। शुरू में सरकार ने इन मांगों को मानने से इनकार कर दिया परन्तु आन्दोलन तीव्र हो जाने के बाद सरकार ने छोटे किसानों के कर्ज माफ कर थोड़ी राहत दी। हालाँकि सरकार की शुरुआती मंशा इन्हें विभाजित करने की थी पर वह सफल नहीं हो पाई। आन्दोलन से किसानों ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में कुछ अर्जित ही किया।

महाराष्ट्र एवं तमिलनाडु की तर्ज पर अन्य राज्यों यथा उत्तर प्रदेश, पंजाब,ह रियाणा एवं कर्नाटक आदि राज्यों में किसान आन्दोलन हुए तथा उन्होंने अपने उद्देश्यों को भी हासिल किया।

14.5 नीतियों को निर्धारित करने में सामाजिक आन्दोलनों की भूमिका

सामाजिक आन्दोलन के कारण समकालीन लोकतंत्र गंभीर और व्यापक हुआ है। इस अर्थ में सामाजिक आन्दोलन, जनता का एक जरूरी हथियार है । खासकर जब जनता की मांगे विविध दबाबों के कारण पूरी न हो पाती हों तब यह आवश्यक विधा बन जाता है। सामाजिक आन्दोलन के कार्यों और संरचनाओं के विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामाजिक आन्दोलन एक सामूहिक प्रयास है, जो जनता की मांगों पर जनता को गोलबंद करते हुए राजसत्ता को उन्हें मानने के लिए बाध्य करता है। सामाजिक आन्दोलन का विस्तार अपने में पर्यावरण के आन्दोलन से लेकर युद्ध विरोधी आन्दोलन, स्त्री आन्दोलन, मजदूर आन्दोलन और कई ऐसे मुद्दों के आन्दोलन को शामिल करता है, जिसके बारे में औपचारिक राजनीति सोचती तक नहीं है ।

सामाजिक आंदोलनों के विस्तार के साथ सरकार ने भी इनकी भूमिका को महत्व प्रदान किया है। हैदराबाद में जागीरदारी प्रथा का 1949 में उन्मूलन तथा हैदराबाद जोत एवं कृषि अधिनियम,1950, इन्हीं आंदोलनों के फलस्वरूप संभव हो सका। अनेक राज्यों में जमीदारी प्रथा का उन्मूलन भी आंदोलनों का परिणाम है। कृषि जोत पर भी राज्यों के कानून सकारात्मक प्रयास हैं। कृषि सम्बन्धी सुधार यथा कृषि उत्पाद नीति, भूमि सुधार अधिनियम किसानों की बेहतरी हेतु सार्थक नीतियाँ थी। बिचौलिए की भूमिका को समाप्त कर सरकार ने ऋण सम्बन्धी मामलों को भी दुरुस्त किया है। ट्राईसेम, राष्ट्रीय उद्यमिता विकास प्रशिक्षण कार्यक्रम, तकनीकी उन्नयन प्रशिक्षण केन्द्र योजना, भूमि विकास के लिए जलसंभरण कार्यक्रम, राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम, महात्मा

गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम आदि ढेर सारे ऐसे नीतियाँ हैं, जिन्होंने किसानों को लाभ पहुँचाया है। इस प्रकार सामाजिक आन्दोलन के मुख्य विचारणीय विन्दु नीति नियंताओं पर प्रभाव डालते रहे हैं।

14.6 सामाजिक आन्दोलनों के प्रति लोक अभिकरणों की अभिक्रिया

लोकतंत्र में सभी वर्गों का कल्याण राज्य की क्षमता पर टिका होता है। वस्तुतः राज्य की पहचान उसके द्वारा सम्पादित क्रियाकलापों से होती है। किसी एक वर्ग की अनदेखी बड़ी-बड़ी समस्याओं को जन्म दे देता है। नीति निर्माताओं का यह दायित्व है कि निर्धारित सुविधाओं से किसी वर्ग को वंचित न करें। यह ऐतिहासिक तथ्य रहा है कि जब-जब सामाजिक आन्दोलन हुए है उनका निस्तारण भी सरकार द्वारा हुआ है। यदि कभी सामाजिक आन्दोलन ने उग्र रूप ले लिया हो और सार्वजनिक जन-धन की हानि हुई हो तो ऐसे अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं जब राज्य ने कठोर कारवाई भी की है। वस्तुतः जनमत की उपेक्षा लोक नीति-निर्माता नहीं करते हैं। कुछ विचारकों के अनुसार परम्परागत राजनीति को सामाजिक आंदोलनों ने अप्रासंगिक बना दिया है। अब नयी राजनीति की शुरुआत होने वाली है, जो सामाजिक आंदोलनों द्वारा ही संभव हो सकता है। अगर इतिहास पर गौर करें तो पाएंगे कि सामाजिक आन्दोलन के समक्ष ही अनुकूलित होने के आसार अधिक हैं। वहीं एक गंभीर सवाल यह भी है कि सामाजिक आंदोलनों को राजनीति में प्रवेश दिलाने वाले क्या अपने संगठन या जिनके लिए वे काम करते रहे हैं, उनसे इस मसले पर किसी तरह का विचार-विमर्श किया गया है या फिर यह उनका खुद का निर्णय है। इस सवाल पर विचार करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि सामाजिक आन्दोलन स्वत:स्फूर्त राजनीति की ओर बढ़ रही है या फिर उसे किसी निजी स्वार्थ के लिए इस ओर धकेला जा रहा है। यह एक प्रस्थान बिंदु हो सकता है, जहाँ से हम सामाजिक आंदोलनों की चुनौतियों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. सामाजिक आन्दोलन के सिद्धान्तों में किसे बेहतर माना गया है?
2. किस सामाजिक विचारक ने नवीन सामाजिक आन्दोलन को 'वैकल्पिक संग्राम' की संज्ञा दी है?
3. तेलंगाना मूल रूप से निजाम की किस रियासत का हिस्सा था?
4. 'शेतकारी संगठन' की स्थापना किसने की?
5. कौन प्रथम राज्य था जहाँ दलगत राजनीति से अलग हटकर किसान आन्दोलन की शुरुआत हुई?

14.7 सारांश

सामाजिक आन्दोलन आज के समय में जनता का एक कारगर हथियार है, जो उसे राजनैतिक चेतना के माध्यम से समाज और सामूहिकता से जोड़ता है। परन्तु सामाजिक आन्दोलन के धार को कुंद करने का प्रयास वैश्विक व स्थानीय सत्ता द्वारा निरंतर होता रहा है। इन आंदोलनों को राजनीतिकरण और अनुदानीकरण के चंगुल में फंसा कर उसे उसके मूल उद्देश्यों से भटका कर

जनता में उसके प्रति अविश्वास की भावना पैदा कर दी जाती है। भारत का स्वतंत्रता आन्दोलन अपने-आप में एक सामाजिक आंदोलनों का समूह है। स्वतंत्रता से पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी एक सामाजिक आन्दोलन ही था। यह सामाजिक आन्दोलन किसानों, मजदूरों, नौजवानों, छात्रों एवं मध्यमवर्ग से सम्बन्ध रखता था। इस तरह के प्रयोग झारखण्ड में भी हुए हैं। झारखण्ड मुक्ति-मोर्चा भी अपने-आप में सामाजिक आंदोलनों का समूह था। यह सामाजिक आन्दोलन था- आदिवासियों का, जंगल का, जमीन का, मजदूरों का। परन्तु झारखण्ड मुक्ति मोर्चा सामाजिक आन्दोलन का भागीदार नहीं बन सकता है।

इस इकाई में सामाजिक आन्दोलन के विविध पहलुओं की विस्तार से चर्चा की गयी। सामाजिक आन्दोलन के अर्थ ,उत्पत्ति एवं सिद्धान्तों की चर्चा से नीति-निर्माण के इस महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व का भी परिचय प्राप्त हुआ है। सामाजिक आन्दोलन एवं लोकनीति के परस्पर सम्बन्धों का भी ज्ञान हुआ है। विविध आंदोलनों यथा तेलंगाना आन्दोलन, नक्सली आन्दोलन एवं महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु के कृषक आंदोलनों की चर्चा से इनकी उत्पत्ति, मांग, कार्य नीति एवं सरकार की प्रतिक्रिया के बारे में भी पता चलता है।

14.8 शब्दावली

विचारधारा- विचारों का समूह जो निहित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु आधार होता है, समाजवाद- राज्य के आर्थिक संसाधनों के समान वितरण पर आधारित व्यापक विचारधारा, आन्दोलन- असंतोष की अभिव्यक्ति का माध्यम, अधिनियम- कानून अनंतर- इसके बाद या तत्पश्चात, प्रस्थान बिंदु- आरम्भ स्थल या शुरूआत का स्थान

14.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सापेक्षिक वंचन सिद्धान्त, **2.** प्रो. रजनी कोठारी, 3. हैदराबाद, **4.** डॉ0 शरद जोशी **5.** तमिलनाडु

14.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. दुर्गा दास बसु, 2010, भारतीय संविधान का परिचय, प्रेन्टिस हां ल, नयी दिल्ली।
2. एम.एस.ए. राव,(सं.), 2003, भारत में सामाजिक आन्दोलन, मनोहर, नयी दिल्ली।
3. सिडनी टैरो (1998), पॉवर इन मूवमेंट: सोशल मूवमेंट्स ऐंड कंटेशियस पॉलिटिक्स, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क।
4. घनश्याम शाह, 1990, सोशल मूवमेंट इन इंडिया, सेज पब्लिकेशन, नयी दिल्ली।
5. वी.एन.सिंह एवं जन्मेजय सिंह, 2005, भारत में सामाजिक आन्दोलन, रावत पब्लिकेशन्स,जयपुर।

14.11 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. श्रीराम माहेश्वरी, 2009, भारतीय प्रशासन, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली।
2. एडर क्लॉस (1985), 'द न्यू सोशल मूवमेंट्स': मॉरल क्रुसेड्स, पॉलिटिकल प्रेशर ग्रुप्स, ऑर सोशल मूवमेंट्स', सोशल रिसर्च, 52, अंक- 4 ।

3. किशन पटनायक, 2009, किसान आन्दोलन: दशा एवं दिशा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

14.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. सामाजिक आन्दोलन से आप क्या समझते हैं?
2. सामाजिक आन्दोलन की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. सामाजिक आन्दोलन के सिद्धान्तों का विश्लेषण कीजिये।
4. नीति-निर्माण में सामाजिक आन्दोलन की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
5. विविध सामाजिक आंदोलनों की प्रकृति पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 15 अंतर्राष्ट्रीय एजेन्सियाँ

इकाई की संरचना

15.0 प्रस्तावना
15.1 उद्देश्य
15.2 अंतर्राष्ट्रीय एजेंसी का अर्थ
15.3 नीति-निर्माण एवं अंतर्राष्ट्रीय एजेन्सियाँ
15.4 अंतर्राष्ट्रीय एजेन्सियों की भूमिका
15.4.1 अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन
15.4.2 संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन(यूनेस्को)
15.4.3 विश्व स्वास्थ्य संगठन
15.4.4 संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम
15.4.5 अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
15.4.6 विश्व बैंक
15.5 नवीनतम प्रवृतियाँ
15.6 सारांश
15.7 शब्दावली
15.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
15.9 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
15.10 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
15.11 निबंधात्मक प्रश्न

15.0 प्रस्तावना

वर्तमान युग में राष्ट्र अपने अस्तित्व एवं विकास के लिए परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियाँ या संगठन, इतिहास की लम्बी प्रक्रिया की उपज है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव समुदाय के बेहतर भविष्य हेतु नीतियों के निर्धारक के रूप में इनकी भूमिका काफी महत्वपूर्ण रही है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सभी सदस्य देशों को जोड़कर मानव कल्याण हेतु इनके प्रयास सराहनीय रहे हैं। ये एजेंसियाँ अपनी मजबूत प्रशासनिक व्यवस्थाओं के लिए जानी जाती हैं तथा विश्व के सुदुरतम क्षेत्र तक इनकी पहुँच है। जहाँ अधिकांश इनमें शक्तिमान हैं, वहीं अंतर्राष्ट्रीय कानून की दुर्बलताएं इनकी क्रियान्वयन क्षमता को न्यून करता है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक ने बड़े-बड़े देशों की नीतियाँ प्रभावित की है।

हालाँकि इनकी भूमिका सीमित है, फिर भी अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों के प्रभाव को कम नहीं आंका जा सकता है।

15.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- अंतर्राष्ट्रीय संगठन एवं अंतर्राष्ट्रीय एजेंसी की अवधारणा के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करोगे।
- कुछ महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की संरचना एवं उद्देश्यों के बारे में जानकारी प्राप्त कर पाओगे।
- लोक नीति-निर्माण में अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों के प्रभाव का ज्ञान होगा।
- आप कुछ महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों यथा अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, यूनेस्को, विश्व स्वास्थ्य संगठन, संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक एवं अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय निगमों की भूमिका के संबंध में पाऐंगे।
- अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों की भूमिका के सम्बन्ध में नवीनतम प्रवृत्तियों का भी ज्ञान होगा।

15.2 अंतर्राष्ट्रीय एजेंसी का अर्थ

चार्ल्स पी0 श्लीचर के शब्दों में "अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का अस्तित्व इसलिए है कि हम एक ऐसे अन्योन्याश्रित विश्व में रहते हैं जिसमें मनुष्य की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति तब तक संभव नहीं है जब तक उसके जीवन के कुछ निश्चित पहलुओं को अंतर्राष्ट्रीय आधार पर संगठित न किया जाए। मनुष्य की प्रमुख आवश्यताऐं शांति और समृद्धि है, जिन्हें पाने के लिए वह अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की कामना करता है।" अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या एजेंसी स्वतंत्र एवं प्रभुतासम्पन्न राज्यों का एक औपचारिक समूह होता है, जिसकी स्थापना अंतर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा, सहयोग आदि कुछ निर्दिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है। ओर्गेंसकी के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना तब होती है जब कुछ राष्ट्र संयुक्त हो जाते हैं और जब उनमें से प्रत्येक यह अनुभव करता है कि एक औपचारिक संगठन के क्रियाशील होने से उसको लाभ ही होगा।" चीवर एवं हैवीलैंड ने लिखा है "अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के मध्य स्थापित वह सहकारी व्यवस्था है जिसकी स्थापना कुछ परस्पर लाभप्रद कार्यों को नियमित बैठकों एवं स्टाफ के जरिए पूरा करने के लिए सामान्यतः एक आधारभूत समझौते द्वारा होती है।"

स्पष्ट रूप से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या एजेंसी एक प्रक्रिया है जो कूटनीति, संधि, समझौते, सम्मलेन, अंतर्राष्ट्रीय कानून आदि साधनों के माध्यम से निरंतर गतिमान है। स्वीकृति से उत्पन्न सहयोग अन्तर्राष्ट्रीय संगठन प्रक्रिया की कुंजी है। वहीं दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या एजेंसी दो पस्पर विरोधी तत्वों अथवा शक्तियों(राष्ट्रीय संप्रभुता एवं अन्तर्राष्ट्रीय आश्रयता) के बीच समझौते का परिणाम है। यह अन्तर्निहित असंगति इसकी एक अनोखी विशेषता है।

पामर एवं पर्किन्स के अनुसार वर्तमान संगठन के आदि स्वरुप के दर्शन हमें प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास में होते हैं। अंतर्राष्ट्रीय संगठन या एजेंसी के वर्तमान नमूने का विकास उस राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था के समय से होता है, जिसका उदय अनेक शताब्दियों पूर्व हुआ था। विशेषकर यह विकास 1648 की वेस्टफैलिया कांग्रेस के समय से अधिक स्पष्ट और

महत्वपूर्ण है। अध्ययन एवं स्पष्टता की दृष्टि से इनके विकास को दो भागों में बांटा जा सकता है, पहला- राष्ट्रसंघ से पूर्व अंतर्राष्ट्रीय संगठन का विकास तथा दूसरा- राष्ट्रसंघ की स्थापना से अब तक अंतर्राष्ट्रीय संगठन का विकास। प्राचीन यूनानी नगर-राज्य काल में भी 'एम्फिक ट्यूनिक परिषद' का अस्तित्व इसकी उपस्थिति को इंगित करता है। रोमन साम्राज्य ने 'जस-जेंशियम' का आधार स्थापित किया। 1414 में स्थापित 'कौन्स्टेंस परिषद' अंतर्राष्ट्रीय संगठन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। वह उस समय तक के इतिहास में एक बहुत बड़ी अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस थी जो पोपशाही के विरोधी दावों का समाधान करने के लिए और इस प्रकार यूरोप के राजनीतिक एवं आध्यात्मिक भाग्य की रुपरेखा निर्धारित करने के लिए आयोजित की गयी थी। हंसेटिक लीग भी इसी दिशा में महत्वपूर्ण आयोजन था। 1648 में आयोजित वेस्टफैलिया कांग्रेस ने सही अर्थों में अंतर्राष्ट्रीय संगठन के विकास का सार्थक उदाहरण प्रस्तुत किया। वियना कांग्रेस(1814-15) द्वारा स्थापित यूरोपीय व्यवस्था (द कॉर्ट ऑफ यूरोप) को वास्तविक रूप से प्रथम अंतर्राष्ट्रीय संगठन कहा जा सकता है, जिसकी आधारशिला पर ही कालांतर में 'राष्ट्र संघ' तथा 'संयुक्त राष्ट्र संघ' का निर्माण हुआ।

15.3 नीति-निर्माण एवं अंतर्राष्ट्रीय एजेन्सियाँ

संयुक्त राष्ट्र, विश्व का सबसे बड़ा अंतर्राष्ट्रीय संगठन है। 24 अक्टूबर 1945 को विश्व के 50 देशों ने चार्टर(संयुक्त राष्ट्र अधिकार पत्र) पर हस्ताक्षर कर इसका गठन किया था। इसके गठन का प्राथमिक उद्देश्य दुनिया को युद्धों की विभीषिका से बचाना था। द्वितीय विश्व युद्ध के विजेता देशों ने मिलकर संयुक्त राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में हस्तक्षेप करने के उद्देश्य से स्थापित किया था। वे चाहते थे कि भविष्य में फिर कभी द्वितीय विश्व युद्ध की तरह के युद्ध न उभर आऐं। संयुक्त राष्ट्र का प्रमुख उद्देश्य विश्व में शांति स्थापित करना है। इसके अलावा विश्व में युद्ध रोकना, मानव अधिकारों की रक्षा करना, अंतर्राष्ट्रीय कानून को निभाने की प्रक्रिया जुटाना, सामाजिक और आर्थिक विकास उभारना, जीवन स्तर सुधारना और बीमारियों से लड़ना इनके उद्देश्यों में प्रमुख रूप से शामिल है। इस संगठन ने दुनिया भर में कई अहम मौकों पर मानव जीवन की सेवा कर एक आदर्श प्रस्तुत किया है।

महासभा, सुरक्षा परिषद, सचिवालय, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, आर्थिक व सामाजिक परिषद एवं न्यास परिषद इसके प्रमुख भाग हैं। अमेरिका के न्यूयार्क शहर में इसका मुख्यालय है एवं दक्षिण कोरिया के 'बान की मून' इसके वर्तमान महासचिव हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के अपने कई कार्यक्रमों और संस्थाओं के अलावा 14 स्वतंत्र संस्थाओं से इसकी व्यवस्था गठित होती है। स्वतंत्र संस्थाओं में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ, यूनेस्को, विश्व स्वास्थ्य संगठन, विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष शामिल हैं। आज संयुक्त राष्ट्र संघ में 193 सदस्य हैं। राष्ट्रों के स्वतंत्र होने के साथ ही पूर्व सोवियत संघ के विघटन के बाद इसके सदस्यों की संख्या में लगातार बढ़ोत्तरी हुई है।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के निर्माताओं ने संयुक्त राष्ट्र की योजनाओं में सामाजिक, आर्थिक मुददों को भी स्थान दिया था, जैसा कि चार्टर के अनुच्छेद 55 में कहा गया है, ''स्थायित्व तथा

जीवनयापन की उचित दशाओं को ध्यान में रखते हुए जो कि देशों के बीच आपस में मैत्रीपूर्ण तथा शांतिपूर्ण संबंधों के लिए आवश्यक है, संयुक्त राष्ट्र जीवन के उच्च स्तर, पूर्ण रोजगार, सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति एवं विकास की परिस्थितियों तथा मानव अधिकारों के लिए सार्वभौमिक सम्मान को प्रोत्साहन देगा।" इसी तरह सामाजिक-आर्थिक मुद्दे, बच्चे, महिलाएं, अक्षम, अल्पसंख्यक, शरणार्थी तथा विस्थापित जैसे कमजोर लोगों के साथ ही गरीबी, भूख जैसी दयनीय परिस्थितियाँ तथा एच0आई0वी0, पोलियो जैसी भयंकर बीमारियों ने संयुक्त राष्ट्र को एक सामान्य तथा सार्वभौमिक रणनीति बनाने के लिए प्रेरित किया है, जिससे कि इन समस्याओं का सामना किया जा सके।

सात दशकों से पूरे विश्व के लोगों की सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों में सीमित सफलता के साथ संयुक्त राष्ट्र क्रियाशील है। सितम्बर 2000 में शताब्दी के विकास के उद्देश्य को सामाजिक, आर्थिक दृष्टिकोण के महत्त्वपूर्ण आयाम के रूप में संयुक्त राष्ट्र के क्रियाकलापों में स्वीकृत किया गया है। इसके आठ लक्ष्य हैं, जिनको 2015 तक प्राप्त किए जाने का उद्देश्य से रखा गया है और जो विश्व की विकास सम्बन्धी मुख्य चुनौतियों की प्रतिक्रिया है। इसके लक्ष्य शताब्दी घोषणापत्र में से लिए गए हैं, जिन्हें 189 देशों ने स्वीकार किया तथा जिन पर 147 देशों के प्रतिनिधियों तथा सरकारों ने संयुक्त राष्ट्र शिखर सम्मेलन में सितम्बर 2000 की शिखर वार्ता में हस्ताक्षर किये।

इसके प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार हैं-

1. गरीबी तथा भूख का उन्मूलन;
2. सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराना;
3. लिंग समानता तथा महिला सशक्तिकरण को बढ़ावा देना;
4. बाल मृत्यु दर को कम करना;
5. मातृ स्वास्थ्य को सुधारना; तथा
6. एच.आई.वी.,एडस, मलेरिया जैसी बीमारियों से लड़ना।

बच्चे आत्मसंपोषित न होने के कारण समाज के अत्यधिक कमजोर एवं मजबूर वर्ग का निर्माण करते हैं और यह वर्ग मानव अधिकारों के प्रति चिंता और चर्चाओं के दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वर्ग है। इसीलिए बच्चों के उचित जीवन-यापन को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है।

संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य हैं- युद्ध रोकना, मानव अधिकारों की रक्षा करना, अंतर्राष्ट्रीय कानून को क्रियान्वित करना, सामाजिक और आर्थिक विकास, जीवन स्तर सुधारना और बीमारियों से लड़ना। इन उद्देश्यों को निभाने के लिए 1948 में मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा लागू की गई। द्वितीय विश्व युद्ध के जातिसंहार के बाद, संयुक्त राष्ट्र ने मानव अधिकारों को बहुत आवश्यक समझा था। ऐसी घटनाओं को भविष्य में रोकना महत्वपूर्ण समझकर 1948 में संयुक्त राष्ट्र की सामान्य-सभा ने मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा को स्वीकृत किया। यह अबंधनकारी(जिसका बंधंन ना हो) घोषणा पूरे विश्व के लिए एक समान दर्जा

स्थापित करती है, जिसका कि संयुक्त राष्ट्र समर्थन करने की कोशिश करेगा। 15 मार्च 2006 को सामान्य सभा ने संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकारों के आयोग को त्यागकर संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकार परिषद की स्थापना की। आज मानव अधिकारों के संबंध में सात संघ निकाय स्थापित हैं।

संयुक्त राष्ट्र के संस्थापकों को उम्मीद थी की वह युद्ध को हमेशा के लिए रोक पायेंगे। पर शीत युद्ध (1945-1991) के समय विश्व का विरोधी भागों में विभाजित होने के कारण शांति बनाए रखना बहुत कठिन था।

15.4 अंतर्राष्ट्रीय एजेन्सियों की भूमिका

संयुक्त राष्ट्र के परिवार में अनेक ऐसी एजेंसियां और संस्थाएं हैं जो विश्व के विभिन्न देशों की जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने, आर्थिक एवं सामाजिक विकास को बढ़ावा देने, बालकों एवं शरणार्थियों जैसे विशेष वर्ग को सहायता पहुँचाने और प्राविधिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार के लिए विभिन्न देशों की सरकारों के साथ मिलकर कार्य कर रही हैं। संघ के चार्टर में मानवीय, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों को बहुत अधिक महत्व दिया गया है और इनके सफल निर्वहन के लिए ही विशिष्ट अभिकरणों अर्थात एजेंसियों का निर्माण किया गया है। इन विशिष्ट एजेंसियों का निर्माण पृथक रूप से हुआ है और ये स्वायत्तशासी संगठन हैं। स्वतंत्र संस्थाओं में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ, यूनेस्को, विश्व स्वास्थ्य संगठन, विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष आदि शामिल हैं।

15.4.1 अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन(इंटरनेशनल लेबर ऑर्गेनाइजेशन) संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट एजेंसियों में सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्वपूर्ण है, जिसका कार्यक्षेत्र अन्य सभी एजेंसियों से व्यापक है। यह एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था है, जिसकी स्थापना 11 अप्रैल 1919 ई. को वार्साय की संधि के भाग 13 के अनुसार की गयी और इसका लक्ष्य संसार के श्रमिक वर्ग के श्रम और आवास संबंधी अवस्थाओं में सुधार करना है। राष्ट्र संघ से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के बाबजूद इस संस्था ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रखा और अप्रैल 1946 में संयुक्त राष्ट्र संघ के एक विशिष्ट अभिकरण के रूप में इसे पुनर्गठित किया गया। यह एकमात्र ऐसी 'त्रिपक्षीय' संयुक्त राष्ट्र संस्था है जो सभी के उपयुक्त कार्य को बढ़ावा देकर नीतियों और कार्यक्रमों को मूर्त रूप देने के लिए सरकारों के प्रतिनिधियों, कर्मचारियों और कामगारों को एक साथ मिलाती है। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की स्थापना 1919 ई. में हुई तथापि उसका इतिहास औद्योगिक क्रांति के प्रारंभिक दिनों से ही आरम्भ हो गया था, जब सर्वहारा-वर्ग ने तत्कालीन समाज के अर्थशास्त्रियों के लिए एक समस्या उत्पन्न कर दी थी। यह औद्योगिक 'सर्वहारा वर्ग' के कारण न केवल तरह-तरह के उद्योग-धंधों के विकास में मूल्यवान सिद्ध हो रहा था, बल्कि श्रम की व्यवस्थाओं और व्यवसायों के तेजी से हो रहे केंद्रीकरण के कारण असाधारण शक्ति संपन्न होता जा रहा था। फ्रांसीसी क्रांति, साम्यवादी घोषणा पत्र (कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो) के प्रकाशन, प्रथम और द्वितीय इंटरनेशनल की स्थापना और एक नए संघर्ष के अभ्युदय ने विरोधी शक्तियों

को इस सामाजिक चेतना से लोहा लेने के लिए संगठित प्रयत्न करने को विवश किया। इसके अतिरिक्त कुछ औपनिवेशिक शक्तियों ने, जिसमें दास श्रमिकों की बड़ी संख्या उपलब्ध थी, अन्य राष्ट्रों से औद्योगिक विकास में बढ़ जाने के संकल्प से उनमें अंदेशा उत्पन्न कर दिया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि संसार के बाजार पर उनका एकाधिकार हो जायेगा। ऐसी स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय श्रम के विधान की आवश्यकता स्पष्ट हो गई और इस दिशा में तरह-तरह के समझौतों के प्रयत्न समूची 19वीं शताब्दी भर होते रहे। 1989 ई. में जर्मनी के सम्राट ने बर्लिन श्रम सम्मेलन का आयोजन किया। फिर 1900 में पेरिस में श्रम कानून के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना हुई। इसके तत्वावधान में बर्लिन में 1905 एवं 1906 में आयोजित सम्मेलनों ने श्रम संबंधी प्रथम नियम बनाए गये। ये नियम स्त्रियों के रात में काम करने के और दियासलाई के उद्योग में श्वेत फास्फोरस के प्रयोग के विरोध में बनाए गये थे। यद्यपि प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने से 1913 ई. में बने सम्मेलन की मान्यताऐं जोर न पकड़ सकी।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ संयुक्त राष्ट्र संघ की एक विशिष्ट संस्था बन गई। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ में तीन संस्थाऐं हैं, पहला- साधारण सम्मेलन, दूसरा- शासी(Governing) निकाय अथवा प्रबन्ध समिति तथा तीसरा- अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय। साधारण सम्मेलन अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के नाम से अधिक विख्यात है। शासी निकाय, संघ की कार्यकारिणी के रूप में काम करता है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय का स्थायी सचिवालय है। आज इसके सदस्य राष्ट्रों की संख्या 71 है, जिनकी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाऐं विभिन्न प्रकार की हैं। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ की समूची शक्ति अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के हाथों में है। उसकी बैठक प्रति वर्ष होती है। सम्मेलन का काम अंतर्राष्ट्रीय श्रम नियम एवं सुझाव संबंधी मसौदा(Draft) बनाना है, जिसमें अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक और श्रम संबंधी निम्नतम मानक आ जाऐं। इस प्रकार यह एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय मंच का काम करता है जिस पर आधुनिक औद्योगिक समाज के तीनों प्रमुख अंगों- राज्य, संगठन और श्रम के प्रतिनिधि औद्योगिक संबंधों की महत्वपूर्ण समस्याओं पर परस्पर विचार विनिमय करते हैं। शासी निकाय ऐसी संस्था है जो नीति और कार्यक्रम निर्धारित करती है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय का संचालन और सम्मेलन द्वारा नियुक्त अनेक समितियों और आयोगों के कार्यों का निरीक्षण करती है। कार्यालय के महानिदेशक का निर्वाचन कार्यकारिणी ही करती है और वही सम्मेलन का कार्यक्रम भी प्रस्तुत करती है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय सम्मेलन तथा कार्यकारिणी का स्थायी सचिवालय है। सचिवालय के इन कार्यों के साथ ही यह कार्यालय अंतर्राष्ट्रीय श्रम अनुसंधान का भी केंद्र है जो जीवन और श्रम की परिस्थितियों को अंतर्राष्ट्रीय ढंग से मान्यता प्रदान करने के लिए उनसे संबंधित सभी विषयों पर मूल्यवान सामग्री को एकत्र, विश्लेषण और वितरण करता है। सदस्य देशों की सरकारों और श्रमिकों से वह निरंतर संपर्क रखता है। तीन प्रमुख अंगों अर्थात सम्मेलन, कार्यकारिणी और कार्यालय के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अन्य कई अंग

हैं, जैसे प्रादेशिक सम्मेलन, औद्योगिक समितियाँ तथा विशेष आयोग, जो प्रदेश विशेष अथवा उद्योग विशेष की विशिष्ट समस्याओं पर विचार करते हैं।

भारत अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के संस्थापक सदस्य राष्ट्रों में है और 1922 से उसकी कार्यकारिणी में संसार की आठवीं औद्योगिक शक्ति के रूप में वह रहता आ रहा है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ के बजट में भारत का योगदान 3.32 प्रतिशत है जो संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, रूस, फ्रांस, जर्मनी तथा कनाडा के बाद सातवें स्थान पर है।

15.4.2 संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को)

यूनेस्को संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन का लघुरूप है। अगर संयुक्त राष्ट्र की कोई ऐसी संस्था है जिसकी कार्यप्रणाली पर सबको यकीन है और जिसने सबसे अच्छा काम किया है तो वह यूनेस्को ही है। पेरिस में स्थित इस संस्था का उद्देश्य शिक्षा, विज्ञान संस्कृति और संचार के माध्यम से शांति और विकास का प्रसार करना है।

संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को) संयुक्त राष्ट्र का एक घटक निकाय है। इसका कार्य शिक्षा, समाज विज्ञान, संस्कृति तथा संचार के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय शांति को बढ़ावा देना है। संयुक्त राष्ट्र की इस विशेष संस्था का गठन 16 नवम्बर 1945 को हुआ था। इसका उद्देश्य शिक्षा एवं संस्कृति के अंतर्राष्ट्रीय सहयोग से शांति एवं सुरक्षा की स्थापना करना है ताकि संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में वर्णित न्याय, कानून का राज, मानवाधिकार एवं मौलिक स्वतंत्रता हेतु वैश्विक सहमति बन पाये। इसकी स्थापना के पीछे इस समझ का आदर्श है कि 'चूंकि युद्ध लोगों के मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं, इसलिए मनुष्य के मस्तिष्क में ही शांति की रक्षा का सृजन होना चाहिए।' इसका मुख्यालय पैरिस (फ्रांस) में स्थित है।

यूनेस्को मुख्यतः शिक्षा, प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक एवं मानव विज्ञान, संस्कृति एवं सूचना व संचार के जरिये अपनी गतिविधियां संचालित करता है। वह साक्षरता बढ़ाने वाले कार्यक्रमों को प्रायोजित करता है और वैश्विक धरोहर की इमारतों और पार्कों के संरक्षण में भी सहयोग करता है। यूनेस्को के प्रमुख उद्देश्य हैं-

1. सभी के लिए गुणवत्तायुक्त शिक्षा प्राप्त करना और जीवन पर्यन्त अधिगम।
2. सतत विकास के लिए नीति और विज्ञान की जानकारी को गतिशील बनाना।
3. उभरती हुई सामाजिक और नैतिक चुनौतियों का समाधान करना।
4. सूचना और संचार के माध्यम से समावेशी ज्ञान समाजों का निर्माण करना।
5. सांस्कृतिक विविधता, अंत:सांस्कृतिक बातचीत और शान्ति की संस्कृति को बढ़ावा देना।

यूनेस्को के 193 सदस्य देश हैं और सात सहयोगी सदस्य देश और दो पर्यवेक्षक सदस्य देश हैं। इसका मुख्यालय पेरिस(फ्रांस) में है। इसके ज्यादार क्षेत्रीय कार्यालय क्लस्टर के रूप में हैं, जिसके अंतर्गत तीन-चार देश आते हैं। इसके अलावा इसके राष्ट्रीय और क्षेत्रीय कार्यालय भी हैं। यूनेस्को के 27 क्लस्टर कार्यालय और 21 राष्ट्रीय कार्यालय हैं।

यूनेस्को या संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन, विभिन्न सभ्यताओं, संस्कृतियों और मनुष्यों के बीच सामुदायिक साझे मूल्यों के लिए सम्मान पर आधारित बातचीत के लिए वातावरण तैयार करता है। इस बातचीत के माध्यम से सतत् विकास को प्राप्त करने की आशा रखता है जिसमें मानवीय अधिकारों को मानना, परस्पर सम्मान और गरीबी उन्मूलन शामिल है। यूनेस्को का मिशन शांति निर्माण, गरीबी उन्मूलन, सतत विकास और शिक्षा के माध्यम से अंत:सांस्कृतिक वार्तालाप, विज्ञान, संस्कृति, संचार और सूचना में योगदान करना है। यह संगठन विशेष तौर पर निम्नलिखित दो प्राथमिकताओं पर केन्द्रीत रहता है- अफ्रीका तथा लैंगिक समानता।

भारत 1946 से यूनेस्को का सदस्य देश है। यूनेस्को का नई दिल्ली कार्यालय एशिया में इस संगठन का प्रथम विकेन्द्रीकृत कार्यालय है, जिसकी स्थापना सन् 1948 में हुई थी। अपने प्रारम्भ से यह 11दक्षिणी और केन्द्रीय एशियाई देशों अर्थात् अफगानिस्तान, बांग्लादेश, भूटान, भारत, ईरान, मालद्वीप, मंगोलिया, म्यांमार, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका में विज्ञान और प्रौद्योगिकी कार्यक्रमों पर कार्यवाही करता है। समय पर इसने सूचना कार्यक्रमों को शामिल किया है और उसके थोड़ा बाद शिक्षा और संस्कृति को शामिल करने के लिए इसका विस्तार किया गया।

15.4.3 विश्व स्वास्थ्य संगठन

7 अप्रैल 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ की एक अन्य सहयोगी और सम्बद्ध संस्था के रूप में दुनिया के 67 देशों ने मिल कर स्विट्जरलैंड के जेनेवा में विश्व स्वास्थ्य संगठन की नींव रखी थी। इसका मुख्य उद्देश्य दुनिया भर के लोगों के स्वास्थ्य के स्तर को ऊँचा उठाना है। हर इंसान का स्वास्थ्य अच्छा हो और बीमार होने पर हर व्यक्ति को अच्छे प्रकार के इलाज की अच्छी सुविधा मिल सके, इस एजेंसी का प्रमुख उद्देश्य है। इसका लक्ष्य है कि दुनिया भर में पोलियो, रक्ताल्पता(Anemia), नेत्रहीनता, कुष्ठ, टीबी, मलेरिया और एड्स जैसी भयानक बीमारियों की रोकथाम हो सके और मरीजों को समुचित इलाज की सुविधा मिल सके और समाज को बीमारियों के प्रति जागरूक बनाया जाए और उनको स्वस्थ वातावरण बना कर स्वस्थ रहना सिखाया जाए। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार शारीरिक, मानसिक और सामाजिक रूप से पूर्ण स्वस्थ होना ही मानव-स्वास्थ्य की परिभाषा है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वास्थ्य सम्बन्धी परामर्शदात्री एवं तकनीकी सेवाएँ प्रदान करती है। यह विश्व के देशों के स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं पर आपसी सहयोग एवं मानक विकसित करने वाली संस्था है। आज विश्व स्वास्थ्य संगठन के 193 सदस्य देश तथा दो सम्बद्ध सदस्य हैं। यह संयुक्त राष्ट्र संघ की एक अनुषांगिक(अतिरिक्त) इकाई है। विश्व स्वास्थ्य संगठन का मुख्यालय स्विटजरलैंड के जेनेवा शहर में स्थित है। इसके तीन अंग हैं- सभा, कार्यकारी-मंडल और सचिवालय। सचिवालय में एक महानिदेशक और उसका कर्मचारी वर्ग होता है। महानिदेशक विश्व स्वास्थ्य संगठन के प्रशासनिक एवं तकनीकी के लिए

उत्तरदायी होता है। मुख्य नीति निर्धारण साधारण सभा करती है, जिसमें सभी सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि रहते हैं।

भारत भी विश्व स्वास्थ्य संगठन का एक सदस्य देश है और इसका भारतीय मुख्यालय भारत की राजधानी दिल्ली में स्थित है। भारत ने पिछले कुछ सालों में तेजी के साथ आर्थिक विकास किया है, लेकिन इस विकास के बावजूद बड़ी संख्या में लोग कुपोषण के शिकार हैं जो भारत के स्वास्थ्य परिदृश्य के प्रति चिंता उत्पन्न करता है।

15.4.4 संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम

पर्यावरण प्रदूषण की समस्या पर सन् 1972 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने स्टॉकहोम(स्वीडन) में विश्व के देशों का पहला पर्यावरण सम्मेलन आयोजित किया था। इसमें 119 देशों ने भाग लिया और पहली बार एक ही पृथ्वी का सिद्धान्त मान्य किया। स्टॉकहोम सम्मेलन में पारित संविधान स्टॉकहोम घोषणापत्र 1972 के नाम से प्रसिद्ध है। इस घोषणा पत्र में 26 सिद्धान्त स्वीकार किये गये। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निम्न हैं-

1. मानवीय पर्यावरण की घोषणा।
2. मानवीय पर्यावरण के लिए कार्य योजना।
3. विश्व पर्यावरण दिवस घोषित किये जाने के लिए प्रस्ताव।
4. नाभिकीय शस्त्रों के परीक्षण पर प्रस्ताव।
5. दूसरा संयुक्त राष्ट्र मानवीय पर्यावरण सम्मेलन बुलाने के लिए सिफारिश।

पर्यावरण संरक्षण के लिए सम्मेलन द्वारा निम्न संस्थाएं स्थापित करने की संस्तुति की गयी-

1. पर्यावरण कार्यक्रम के लिए शासी परिषद- संक्षेप में इसे यू.एन.ई.पी. कहा जाता है।
2. पर्यावरण सचिवालय।
3. पर्यावरण कोष।
4. पर्यावरण समन्वय परिषद।

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम की स्थापना जून 1972 में संयुक्त राष्ट्र मानव पर्यावरण सम्मेलन के परिणामस्वरूप की गई थी तथा प्रति वर्ष 5 जून को पर्यावरण दिवस आयोजित करके नागरिकों को प्रदूषण की समस्या से अवगत कराने का निश्चय किया गया। संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम, संयुक्त राष्ट्र की पर्यावरण संबंधी गतिविधियों का नियंत्रण करता है। इसका मुख्य उद्देश्य पर्यावरण के प्रति जागरूकता लाते हुए राजनीतिक चेतना जागृत करना और आम जनता को प्रेरित करना है। इसका मुख्यालय नैरोबी में स्थित है। इसके साथ ही इसके छः अन्य देशों में भी क्षेत्रीय कार्यालय हैं।

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम संस्था द्वारा प्रतिवर्ष, उस वर्ष के पर्यावरणीय समस्याओं और मुद्दों को ध्यान में रखकर, एक विषय का चुनाव किया जाता है। इस विषय के अनुसार विश्व पर्यावरण दिवस के समस्त कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। प्रतिवर्ष विश्व पर्यावरण दिवस की शुरुआत 5 जून को संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम संस्था द्वारा घोषित एक मेजबान देश एवं एक नॉर्थ अमेरिकन शहर को मेजबान शहर घोषित किया जाता है, जहाँ से विश्व भर में

विश्व पर्यावरण दिवस के कार्यक्रमों की शुरुआत की जाती है। इन कार्यक्रमों में स्ट्रीट रैलीज, साइकिल का उपयोग, हरित उपभोक्ता सामग्री, निबन्ध एवं पोस्टर प्रतियोगिताऐं, प्लास्टिक के उपयोग को कम करने संबंधी कार्यक्रम, स्वच्छता अभियान, प्रदूषण नियंत्रण एवं पर्यावरण संरक्षण के कार्यक्रम, स्थानीय पर्यावरण समस्याओं पर लोगों का ध्यान आकर्षित करना इत्यादि शामिल होते हैं।

15.4.5 अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (जिसे विश्व बैंक के नाम से जाना जाता है) के साथ जुलाई, 1944 में ब्रेटन वुड्स, न्यू हैम्पशायर, संयुक्त राज्य अमेरिका में आयोजित 44 देशों के सम्मेलन में हुई थी। इसका निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को संवर्धित करने, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की संतुलित वृद्धि और विस्तार को सुसाध्य बनाने, मुद्रा विनिमय में स्थायित्व को बढ़ाने; भुगतानों की बहुपक्षीय पद्धति को स्थापित करने में सहायता देने; यथोचित सुरक्षा के अन्तर्गत भुगतान संतुलन की कठिनाइयों का सामना कर रहे इसके सदस्य देशों को अस्थायी रुप से इसे सामान्य संसाधन उपलब्ध कराने: और सदस्य देशों के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान संतुलनों में असंतुलन की स्थिति और अवधि को कम करने के लिए किया गया था। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था है जो अपने सदस्य देशों की वैश्विक आर्थिक स्थिति पर नजर रखने का काम करती है। यह अपने सदस्य देशों को आर्थिक और तकनीकी सहायता प्रदान करती है। यह संगठन अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दरों को स्थिर रखने के साथ-साथ विकास को सुगम करने में सहायता करता है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष सहकारी और स्थायी वैश्विक मौद्रिक ढांचे को संवर्धित करने के लिए स्थापित एक प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्था है।

इसका मुख्यालय संयुक्त राज्य अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन डी0सी0 में स्थित है। इसकी विशेष मुद्रा एसडीआर(स्पेशल ड्राइंग राइट्स) है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्त के लिए कुछ देशों की मुद्रा का इस्तेमाल किया जाता है, इसे एसडीआर कहते हैं। एसडीआर में यूरो, पाउंड, येन और डॉलर हैं।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कुल 186 सदस्य देश हैं। 29 जून 2009 को 'कोसोवो गणराज्य' 186वें देश के रूप में शामिल हुआ था। आईएमएफ का उद्देश्य आर्थिक स्थिरता सुरक्षित करना, आर्थिक प्रगति को बढ़ावा देना, गरीबी कम करना, रोजगार को बढ़ावा देना और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार सुविधाजनक बनाना है। सदस्य देशों की संख्या बढ़ने के साथ वैश्विक अर्थ-व्यवस्था में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का कार्य काफी बढ़ा है। कोई भी देश इसकी सदस्यता के लिए आवेदन कर सकता है। पहले यह आवेदन अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यपालक बोर्ड द्वारा विचाराधीन भेजी जाती है, इसके बाद कार्यकारी बोर्ड, बोर्ड ऑफ गर्वनेस को उसकी संस्तुति के लिए भेजता है। वहाँ स्वीकृत होने पर सदस्यता मिल जाती है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबंध एक प्रबंधक मंडल (बोर्ड आफ गवर्नर्स), कार्यकारी संचालक मंडल, प्रबंध संचालक तथा अन्य अधिकारियों एवं कर्मचारियों की सहायता से सम्पन्न होता

है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के बोर्ड आफ गवर्नर्स में एक गवर्नर और एक वैकल्पिक गवर्नर होता है जो प्रत्येक सदस्य देश से लिया जाता है। इसकी बैठक सामान्यतः वर्ष में एक बार होती है जो वार्षिक बैठकों के समय (सामान्यतः सितम्बर/अक्टूबर में)आयोजित होती है। आईएमएफ के बोर्ड आफ गवर्नर्स में वित्त मंत्री पदेन गवर्नर होता है। भारत आईएमएफ का संस्थापक सदस्य देश है। भारतीय रिजर्व बैंक का गवर्नर बोर्ड ऑफ गवर्नर्स में भारत का वैकल्पिक गवर्नर (वित्त मंत्री का विकल्प) होता है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का दिन-प्रतिदिन का प्रबंधन प्रबंध निदेशक द्वारा किया जाता है। कार्यकारी निदेशक बोर्ड जिसमें 24 निदेशक होते हैं और सदस्य देशों/देशों के समूह द्वारा नियुक्त/चुना जाता है। आईएमएफ का कार्यकारी निकाय होता है और प्रबंध निदेशक उसका अध्यक्ष होता है। इसमें तीन उप-प्रबंध निदेशक हैं। इसके अतिरिक्त बोर्ड आफ गवर्नर्स की अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक और वित्तीय समिति(आईएमएफसी) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के 24 गवर्नरों, मंत्रियों या समकक्ष रैंक के अन्य अधिकारियों जो अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यकारी बोर्ड के रुप में उन्हीं निर्वाचन क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं, द्वारा गठित एक परामर्शी निकाय है। इससे पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक और वित्तीय समिति अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की अन्तरिम समिति थी।

15.4.6 अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (विश्व बैंक)

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक अर्थात् विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना एक साथ 1944 में ब्रेटन वुड्स सम्मेलन के दौरान हुई थी। उस समय इसका मकसद द्वितीय विश्व युद्ध और विश्वव्यापी आर्थिक मंदी से जूझ रहे देशों में आयी आर्थिक मंदी से निपटना था। इसका मुख्य उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों को पुनर्निमाण और विकास के कार्यों में आर्थिक सहायता देना है। विश्व बैंक समूह पांच अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का एक ऐसा समूह है जो देशों को वित्त और वित्तीय सलाह देता है। इसके उद्देश्य निम्न हैं-

1. विश्व को आर्थिक तरक्की के रास्ते पर ले जाना।
2. विश्व में गरीबी को कम करना।
3. अंतर्राष्ट्रीय निवेश को बढावा देना।

विश्व बैंक समूह के मुख्यालय वाशिंगटन में है। विश्व बैंक का आधिकारिक लक्ष्य गरीबी को समाप्त करना है। इसका संगठन ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का है। विश्व बैंक का दिन-प्रतिदिन का प्रबंधन, प्रबंध निदेशक द्वारा किया जाता है। कार्यकारी निदेशक बोर्ड जिसमें 24 निदेशक होते हैं और सदस्य देशों/देशों के समूह द्वारा नियुक्त/चुना जाता है। विश्व बैंक का कार्यकारी निकाय होता है और प्रबंध निदेशक उसका अध्यक्ष होता है। इसमें तीन उप-प्रबंध निदेशक हैं। विश्व बैंक का प्रबंध एक प्रबंधक मंडल (बोर्ड ऑफ गवर्नर्स), कार्यकारी संचालक मंडल, प्रबंध संचालक तथा अन्य अधिकारियों एवं कर्मचारियों की सहायता से संपन्न होता है। इसके बोर्ड आफ गवर्नर्स में एक गवर्नर और एक वैकल्पिक गवर्नर होता है जो प्रत्येक सदस्य देश से लिया जाता है। इसकी बैठक सामान्यतः वर्ष में एक बार होती

है। विश्व बैंक का अध्यक्ष निदेशक मंडल की बैठकों की अध्यक्षता और बैंक के समग्र प्रबंधन के लिए जिम्मेदार है। परंपरागत रूप से बैंक के अध्यक्ष हमेशा अमेरिकी नागरिक होते हैं। विश्व बैंक का प्रत्येक सदस्य राज्य अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का भी एक सदस्य होता है। भारत विश्व बैंक का संस्थापक सदस्य देश है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात बहुराष्ट्रीय निगमों का प्रभाव काफी बढ़ा है। इनमें से कुछ के पास संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकांश देशों के संसाधन से ज्यादा संसाधन हैं। उनके सम्बन्ध में सूचना की कमी होने के कारण स्पष्ट स्थिति का आकलन नहीं किया जा सकता है, फिर भी उनकी शक्तियां निरंतर बढ़ती ही जा रही हैं। 1972 में आर्थिक एवं सामाजिक परिषद ने इनके प्रभाव के अध्ययन हेतु एक सुझाव दिया था, जिस पर 20 सदस्यीय समिति भी गठित हुई। समिति ने एक स्थायी आयोग की स्थापना पर बल दिया था। 1974 में संयुक्त राष्ट्र सचिवालय के अधीन बहुराष्ट्रीय निगम पर एक केंद्र की स्थापना हुई। गैट तथा अन्य आर्थिक प्रावधान इन्हीं प्रयासों का नतीजा है।

15.5 नवीनतम प्रवृतियाँ

वैश्विक घटनाक्रम की अधिकतर विशेषताऐं परिवर्तित हो चुकी हैं तथा आज घटनाओं का बिल्कुल वही प्रभाव पड़ता है जो संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के समय पड़ता था। संयुक्त राष्ट्र संघ को 21वीं शताब्दी की मांगों तथा अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए अपनी संरचना में सुधार तथा कार्यों को परिस्थितियों के अनुकूल बनाना चाहिए। भारत, ब्राजील, जापान जैसे काफी देश अपनी शक्ति के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भागीदारी चाहते हैं। सुरक्षा परिषद का गठन तथा 'वीटो' विवादास्पद मुद्दे बने गए हैं। दूसरे अंगों में भी सुधार की आवश्यकता समय-समय पर महसूस की गयी है। जिस तरह अमरीकी ही विश्व बैंक के अध्यक्ष होते हैं, उसी तरह अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रमुख कोई न कोई यूरोपीय होता है। हालांकि अब कोशिश हो रही है कि विकासशील देश के लोगों को भी विश्व बैंक के सर्वोच्च पद पर बैठाया जाए। क्योंकि जैसे-जैसे विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था मजबूत हो रही है वो भी अब विश्व बैंक के अध्यक्ष पद पर दावेदारी करने लगे हैं। इनके अतिरिक्त तृतीय विश्व का पर्यावरण सम्बन्धी मुद्दों पर अमेरिकी गुट पर दबाव भी असर करने लगा है। आवश्यकता है गरीब एवं पिछड़े राष्ट्रों के उद्धार की। अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियां तभी सफल मानी जा सकती हैं जब गरीबों की ओर अधिकतम प्रयास हों तथा स्वास्थ्य, शिक्षा आदि मुद्दों को वरीयता दी जाए।

अभ्यास प्रश्न-

1. विश्व का सबसे बड़ा अंतर्राष्ट्रीय संगठन क्या है ?
2. संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन कब किया गया था ?
3. अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना कब हुई?
4. यूनेस्को का मुख्यालय कहाँ है?
5. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक को बहुधा किस नाम से जानते हैं?

15.6 सारांश

संयुक्त राष्ट्र संघ को मानवता की रक्षा के लिए एक सुरक्षित तथा शांतिपूर्ण उपायों को सुनिश्चित करने वाली अंतिम उम्मीद के रूप में अपनाया गया था, जिसमें विश्व के सभी हिस्सों को सम्मिलित किया गया था। परन्तु इसे विश्व सरकार के पर्याय के रूप में विकसित होने के लिए इसके मार्ग में बहुत सी बाधाएं भी निहित हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की अत्यधिक महत्वपूर्ण कमजोरी यह है कि यह 1945 के विश्व राजनीति की वास्तविकताओं को प्रतिबिम्ब करता है। द्वितीय विश्व युद्ध से पहले वैश्विक घटनाक्रम की आधारभूत विशेषताओं में ब्रिटेन, फ्रान्स तथा संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भूतपूर्व सोवियत संघ जैसे परंपरागत राष्ट्रों की वैश्विक व्यवस्था में प्रभावी भूमिका थी, वहीं एशिया तथा अफ्रीका के विशाल क्षेत्र उपनिवेश थे। समकालीन 21वीं शताब्दी के समय में तृतीय विश्व के कुछ देश इनकी हरेक मोर्चों पर चुनौती प्रस्तुत कर रहे हैं। आज आवश्यकता बदलाव की है। ढांचागत सुधार समय की मांग है। निस्संदेह कुछ अंग अच्छा कार्य कर रहें है। ठीक ही कहा गया है "संयुक्त राष्ट्र संघ के निःशस्त्रीकरण एवं राजनीतिक कार्यों का खरगोश तो अभी भी झपकी ले रहा है, परन्तु इसकी संस्थाओं की प्राविधिक सहायता एवं सहयोग का कछुआ बहुत आगे बढ़ गया है।"

15.7 शब्दावली

संगठन- नीति-निर्माण एवं क्रियान्वयन हेतु व्यवस्थात्मक ढांचा, राष्ट्र संघ- 1920 में गठित एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन जो अपने उद्देश्यों में असफल रहा, अनुदान- आर्थिक सहायता, अधिनियम- कानून, प्रावधान- कानूनी व्यवस्था।

15.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. संयुक्त राष्ट्र संघ , **2.** 24 अक्टूबर 1945 को, **3.** 11 अप्रैल 1919 ई. को, **4.** पेरिस (फ्रांस) **5.** विश्व बैंक

15.9 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. एन0डी0पामर एवं एच0सी0पर्किन्स, 1965, इंटरनेशनल रिलेशन्स:वर्ल्ड कम्युनिटी इन ट्रांजिशन, साइंटिफिक बुक कंपनी, कलकत्ता।
2. महेंद्र कुमार, 2004, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक आयाम, शिव लाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा।
3. पुष्पेश पंत, 2012, 21वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, टाटा मैक्ग्रा हिल, नई दिल्ली।
4. जे0सी0जौहरी, 2008, विश्व राजनीति के बदलते आयाम, विशाल, नई दिल्ली।

15.10 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. कार्ल डायस, 1978, द एनालिसिस ऑफ इंटरनेशनल रिलेशन्स, प्रेन्टिस हाल, इंगलवुड-क्लिफ्स।
2. वी0एन0 खन्ना, 2014, अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
3. एम0पी0 राय, 2005, अंतर्राष्ट्रीय संगठन, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।

15.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. अंतर्राष्ट्रीय एजेंसी से आप क्या समझते हैं? विस्तार से बताईये।
2. संयुक्त राष्ट्र संघ के संगठन एवं इसकी भूमिका का विश्लेषण कीजिये।
3. अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के कार्यों का वर्णन कीजिये।
4. यूनेस्को की भूमिका का मूल्यांकन कीजिये।
5. विश्व स्वास्थ्य संगठन के कार्यों का वर्णन कीजिये।
6. संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम क्या है? इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।
7. अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष क्या है? इसकी भूमिका का मूल्यांकन कीजिये।

इकाई- 16 नीति-निष्पादन में सरकारी एजेन्सियों की भूमिका

इकाई की संरचना

16.0 प्रस्तावना
16.1 उद्देश्य
16.2 नीति-निष्पादन की प्रकृति एवं अर्थ
16.3 नीति-निष्पादन सम्बन्धी आवश्यक तत्व
16.4 प्रभावकारी नीति-निष्पादन की पूर्व शर्तें
16.5 नीति-निष्पादन में सरकारी एजेन्सियों की भूमिका
16.5.1 नीति-निष्पादन में कार्यपालिका की भूमिका
16.5.2 नीति-निष्पादन में न्याय पालिका एवं प्रशासनतंत्र की भूमिका
16.6 सारांश
16.7 शब्दावली
16.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
16.9 संदर्भ ग्रन्थ-सूची
16.10 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
16.11 निबंधात्मक प्रश्न

16.0 प्रस्तावना

नीतियों का कार्यान्वयन उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि उनका निर्माण। नीति-निष्पादन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक नीति के लक्ष्य एवं प्रतिज्ञाऐं पूरे किए जाते हैं नीति-निष्पादन एक प्रक्रिया है जिसमें कई चरण शामिल हैं। सबसे पहला चरण नीति वक्तव्य/दस्तावेज का अध्ययन करना एवं समझना है। निष्पादन एवं कार्यान्वयन एजेंसिया नीति दस्तावेज का गहन अध्ययन करते हैं तथा अस्पष्टता के बिन्दुओं और दिये गये बिन्दुओं पर स्पष्टीकरण की मांग करते हैं। इसके बाद नीति को विभिन्न खण्डों में बांटने का दूसरा चरण आता है। ऐसा करने के लिए लक्षित क्षेत्र समूह, आवश्यक साधनों, उपलब्ध साधनों, इत्यादि का विश्लेषण एवं निर्धारण आवश्यक है। साधनों का फैलाव नीति के विभिन्न विभाजित खण्डों के आधार पर किया जाता है। तीसरा चरण नीति के कार्यान्वयन से प्रभावित होने वाले व्यक्तियों के समूह तथा क्षेत्र में आवश्यक सूचनाऐं एवं आंकड़े इकट्ठा करने का है।

नीति निर्माण के लिए विधायिका अधिकारिक एजेंसी है तो नीतियों के निष्पादन के लिए कार्यपालिका अधिकारिक अंग है। नीतियों के कार्यान्वयन का कार्य, व्यवहार में प्रशासन तंत्र ही करता हैं। प्रशासन विधायिका द्वारा निर्मित नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए अपने अनुभव एवं विशेषता का इस्तेमाल करता है। तथापि विधायिका का नीति-निष्पादन में भी प्रशासन तंत्र के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि नीतियों के कार्यान्वयन के प्रति काफी सेचत होते हैं। विधायिका के पास कई ऐसे साधन होते हैं जिनके

द्वारा वह प्रशासन तंत्र को नीतियों को प्रभावी ढंग से एवं तीव्रता के साथ कार्यान्वित करने के लिए बाध्य कर सकती हैं।

नीति-निष्पादन में न्याय पालिका भी अपनी भूमिका निभाती है। ऐसा सामान्यतः तब होता है जब नीति के उद्देश्य सुस्पष्ट नहीं होते तथा उस नीति की कई व्याख्याएं की जा सकती हैं। ऐसे मामलों में न्यायालय अपना निर्णय देते हैं तथा उनका निर्णय अन्तिम मान लिया जाता है।

वैसे तो नीति-निष्पादन सरकार का प्रमुख दायित्व है, फिर भी गैर-सरकारी एजेंसिया जैसे- स्वैच्छिक संगठन, दबाव समूह एवं नागरिक भी नीति-निष्पादन प्रक्रिया में योगदान देते हैं। हाल के वर्षों में स्वैच्छिक सुरक्षा, गरीबों को कानूनी मदद, उपभोक्ता संरक्षण, मानव अधिकारों के संरक्षण, बाल कल्याण, इत्यादि में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे हैं।

16.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नीति-निष्पादन किस प्रकार होता है, जान पायेंगे।
- नीति-निष्पादन में कार्यपालिका की भूमिका को स्पष्ट कर सकेंगे।
- नीतियों का क्रियान्वयन किस प्रकार होता है, जान सकेंगे।

16.2 नीति-निष्पादन की प्रकृति एवं अर्थ

नीति सामान्य या विशिष्ट, व्यापक या सीमित, साधारण या जटिल, सार्वजनिक या व्यक्तिगत, लिखित या अलिखित, स्पष्ट या अन्तर्निहित, गुणात्मक या मात्रात्मक हो सकती है। नीति की प्रकृति चाहे कैसी भी हो इसका मुख्य लक्ष्य सरकार के कार्यों के लिए निर्देशन प्रदान करना होता है। कई बार नीतियों द्वारा उत्पादन या प्रतिफल की मात्रा पर जोर दिया जाता है तो दूसरी ओर उसके गुणात्मक पहलू पर। उदाहरणार्थ, भारत में शिक्षा के प्रसार के लिए चलाए गए अभियान में शिक्षितों की संख्या बढ़ाने पर ही जोर दिया गया, लेकिन अब यह पाया जा रहा है कि केवल शिक्षिकों की अधिक संख्या ही भारत की समस्याओं का हल प्रदान नहीं कर सकी बल्कि अच्छी शिक्षा और उच्च कोटि की या व्यावसायिक शिक्षा पर बल देना चाहिए। यदि इन नीतियों का क्रियान्वयन शिक्षा आयोग द्वारा सम्पन्न नहीं हो तो अच्छी से अच्छी नीति का कोई मतलब नहीं होता। वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में नीतियों के क्रियान्वयन में कार्यपालिका के साथ-साथ विभिन्न विभागों एवं उपविभागों की संलिप्तता पायी जाती है। संसदीय पद्धति वाले सभी देशों में सभी नीतियों को मंत्रीमण्डल का अनुमोदन प्राप्त करना पड़ता है और संसद में सभी महत्वपूर्ण नियम सरकार के मंत्रियों द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं। शासनतंत्र को सामान्यतः किसी भी देश में जैसा कि हम जानते हैं, तीन भागों में बांटा जाता है- विधानपालिका(विधायिका), कार्यपालिका और न्यायपालिका। विधानपालिका में जनता के प्रतिनिधि होते हैं। यह विधि-निर्माण के माध्यम से जनता की इच्छाओं को अभिव्यक्त करती है। इस विधि-निर्माण और जन-इच्छा की अभिव्यक्ति के उपरान्त कार्यपालिका की भूमिका शुरू

होती है। वह निर्मित विधि के आवरण में आवश्यक आदेशों को निर्गत करती है और विभागों, उपविभागों आदि के द्वारा विधि को क्रियान्वित करती है।

- नीति निष्पादक का अर्थ नीतियों के क्रियान्वयन से लिया जाता है। विधायिका नीतियों का निर्माण करती है तथा कार्यपालिका नीतियों का क्रियान्वयन अपने विभिन्न विभागों एवं उपविभागों के माध्यम से सम्पन्न करवाती है।
- संयुक्त राष्ट्र संघ के एक प्रकाशन के अनुसार एक वरिष्ठ प्रशासक विकासात्मक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए नीति-निर्माण करने के लिए परामर्श प्रदान करने और क्रियान्वयन के लिए साधनों का संग्रहण, संगठन और प्रबन्ध करने के लिए उत्तरदायी होता है।
- परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार राजनीतिशास्त्र को सरकारी संस्थाओं के अध्ययन का केन्द्र विन्दु माना जाता है एवं राजनीतिक क्रियाओं का केन्द्र सरकारी संस्थाऐं- व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका, नगर पालिका, राजनीतिक दल एवं दबाव समूह इत्यादि होते हैं। व्यक्तियों एवं वर्गों की गतिविधियॉं भी सरकारी संस्थाओं द्वारा निर्देशित होती हैं। अतः सार्वजनिक नीति सत्तात्मक रूप से सरकारी संस्थाओं द्वारा निर्धारित तथा क्रियान्वित की जाती है। सार्वजनिक संस्थाओं एवं नीति में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। आधारभूत रूप में कोई नीति उस समय सार्वजनिक बन जाती है, जब सरकारी एजेन्सी द्वारा उसे ग्रहण कर लिया जाये और क्रियान्वित किया जाये। इडवर्ड ने नीति-क्रियान्वयन की परिभाषा करते हुए अभिव्यक्त किया है कि नीति-क्रियान्वयन नीति की स्थापना और संबंधित जनता पर उसके प्रभाव के महत्व का वर्णन है।
- नीति-क्रियान्वयन के सम्बन्ध में जिन अन्य विचारकों द्वारा गहन अध्ययन किया गया उनमें से रिपले और फ्रेंकलिन, बैरेट और फज, डनशायर, स्मिथ, चार्ल्स एवं ब्राडच के नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि इन्होंने नीति-क्रियान्वयन को भिन्न पहलू से देखने की चेष्टा की है। परन्तु सभी इस विचार से सहमत हैं कि नीति-क्रियान्वयन, नीति-निर्माण के स्तर से घनिष्ठ रूप से गुंथा हुआ है। नीति के क्षेत्र में किए गए आरम्भिक अध्ययन केवल नीति-निर्माण पर संकेन्द्रित थे। इसी संदर्भ में पालुम्बो और मैनार्ड न्यूडी ने नीति सम्बन्धी क्रियान्वयन अन्तराल की चर्चा करते हुए यह अभिमत व्यक्त किया कि नीति-क्रियान्वयन पक्ष पर विशेष और पृथक ध्यान नहीं दिया गया। आज इस मत के सम्बन्ध में कोई मतभेद व्याप्त नहीं है कि क्रियान्वयन पक्ष नीति का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण पक्ष है। नीति-निर्माण और नीति-क्रियान्वयन घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। नीति चाहे कितनी भी श्रेष्ठ क्यों न हो, नीति द्वारा निर्धारित उद्देश्य चाहे कितने भी उत्तम क्यों न हो, तब तक प्राप्त नहीं किए जा सकते जब तक कि उनको प्राप्त करने के लिए ईमानदारी और कुशलता से कार्यवाही न की जाय।

16.3 नीति-क्रियान्वयन सम्बन्धी आवश्यक तत्व

- नीति-क्रियान्वयन में नीति संबंधी निम्नलिखित सक्रियाऐं सम्मिलित होती है-
- उत्पादन करना- बिजली, इस्पात इत्यादि।
- निर्माण करना- भवन, पुल, सड़के इत्यादि।
- वितरण करना- खाद्य पदार्थ, जल, गैस, कोयला, बिजली आदि।
- संग्रहण या संचयन करना- सेवा सम्बन्धी फीस, राजस्व, खाद्य पदार्थ आदि।
- सेवा प्रदान करना- व्यावसायिक और तकनीकी कुशलता के लिए।
- जाग्रति उत्पन्न करना- नीति की सफलता के लिए सामान्य जनता या निर्दिष्ट वर्ग में चेतना उत्पन्न करना। जैसे जनसंख्या विस्फोट या पर्यावरण प्रदूषण।

उपर्युक्त क्रियाओं के लिए निम्नलिखित तत्वों की आवश्यकता होती है, जिनका निर्धारण नीति-निर्माण के दौरान की जाने वाले पूर्व योजना में ही करना अपेक्षित है।

1. धन- क्रियान्वयन का सम्बन्ध चाहे उत्पादन से हो या फिर निर्माण से या फिर वितरण से, प्रत्येक कार्य के लिए धन एक मौलिक आवश्यकता होती है। अतः यह आवश्यक है कि नीति-निष्पादन में अपेक्षित गतिविधियों सम्बन्धी धन का आंकलन किया जाय एवं उन स्रोतों को भी साथ में दर्शाया जाय।

2. निष्पादन संरचना- होगवुड और गुन्न, डनशायर नाकामुरा और स्मालवुड, कैडेन ने अन्य तत्वों के साथ-साथ संरचना को आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। नीति में निहित उद्देश्यों के अनुरूप संरचना को पहचानना आवश्यक है। यह संरचना सरकार में पूर्व स्थिति विभिन्न संरचनाओं में ही विद्यमान हो सकती है या फिर उसके लिए नवीन संस्था की स्थापना की जा सकती है। उदाहरणार्थ, यदि महिला विकास सम्बन्धी नीति अपनायी जाती है तो उसे आसानी से महिला और बाल विकास विभाग को क्रियान्वयन के लिए सौंपा जा सकता है। परन्तु यदि यह विभाग सरकार में विद्यमान है तो उस विभाग की स्थापना अवश्यम्भावी होगी।

3. मानव संसाधन- नीति संबंधी नवीन परियोजनाओं को कार्यरूप में परिणित करने के लिए अनुकूल मानवीय संसाधनों की आवश्यकता होती है। यदि विद्यमान मानवीय संसाधन उपयुक्त नहीं हैं तो अनुकूल मानव संसाधन की संख्या का निर्धारण करना और उन्हें स्थायी आधार पर या ठेके पर प्राप्त करना क्रियान्वयन संस्था को गति प्रदान करने के लिए आवश्यक है। यदि अनुकूल मानव संसाधन उपलब्ध न हों तो संस्था में उनके आवश्यक प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना, ताकि क्रियान्वयन संबंधी आवश्यक कौशल को प्राप्त किया जा सके। भौतिकी तत्वों से भिन्न एवं अत्यन्त अपरिहार्य तत्व है। मानव शक्ति नीति के निष्पादन के लिए आवश्यक, कुशल और प्रतिबद्ध मानव नीति में निहित लक्ष्यों को साकार करने में कार्यकारी होते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उपलब्ध मानव शक्ति को नीति के अनुरूप प्रशिक्षण दिया जाय और उसमें निहित जनहित की ओर उन्मुख किया जाय।

4. उपकरण- विशिष्टता के युग में प्रत्येक नीति किसी न किसी परियोजना से संबंधित होती है, जिसके लिए आधुनिक प्रबन्धकीय यंत्रों और उत्पादकीय उपकरणों की आवश्यकता होती है।

5. आंकड़े और सूचना- नीति सम्बन्धी आंकड़े और विश्वसनीय सूचना क्रियान्वयन के लिए आवश्यक तत्व हैं। उदाहरणार्थ, यदि अनुसूचित जाति के कल्याण के लिए कोई रोजगार योजना आरम्भ करनी है तो यह आवश्यक होता है कि अनुसूचित जाति की कुल जनसंख्या उनकी शिक्षा दर, बेरोजगारों की आयु एवं शिक्षा स्तर इत्यादि के आंकड़े होना आवश्यक है, ताकि लक्षित वर्ग का निर्धारण किया जा सके।

16.4 प्रभावकारी नीति-निष्पादन की पूर्व शर्तें

निष्पादन सम्बन्धी मौलिक तत्वों की पर्याप्तता के साथ-साथ निष्पादन को प्रभावकारी बनाने के लिए निम्नलिखित पूर्व शर्तों का होना आवश्यक है।

1. नीति की स्पष्टता और नीति की सही व्याख्या- नीति की अस्पष्टता और नीति की गलत व्याख्या नीति सम्बन्धी मूल उद्देश्य से भ्रमित कर सकती है। अतः आवश्यक है कि नीति का निरूपण स्पष्ट शब्दों में व्यापक रूप से किया जाय, ताकि उसे समझना आसान हो। नीति सम्बन्धी प्राथमिकताऐं स्पष्ट रूप से निर्धारित की जाय। इस स्तर पर नीति-क्रियान्वयन की विवेचना स्तरबद्ध रूप से की जाय।

2. प्रतिबद्धता- मात्र औपचारिकता के लिए नीति का क्रियान्वयन निर्धारित लक्ष्य को दूरगामी बना सकता है। यदि नीति पूर्ण लग्नता, विश्वास एवं प्रतिबद्धता के साथ क्रियान्वित की जाय तभी व्यवहार में साकार हो सकती है। प्रतिबद्धता के अभाव में क्रियान्वयन को सामाजिक उद्देश्य के स्थान पर स्वार्थ पूर्ति के लिए प्रयोग किया जाता है तो भ्रष्टाचार पनपने लगता है।

3. समयबद्धता- निष्पादन कार्य यदि समयबद्ध हो तो नीति की प्रशासनिक, आर्थिक एवं सामाजिक उपयोगिता बढ़ जाती है। क्रियान्वयन सम्मत समय सीमा का उल्लंघन सार्वजनिक कोष पर आर्थिक भार को बढ़ा देता है और उसे सामाजिक रूप से निरर्थक बना देता है।

4. मितव्ययिता- उपलब्ध साधनों मानवीय तकनीकी एवं भौतिक का अधिकतम उपयोग क्रियान्वयन को मितव्ययी बना सकता है। संस्थापन पर व्यय को कम से कम करना और सेवाओं के लिए इन समस्त स्रोतों का प्रयोग करना सफल क्रियान्वयन के लिए आवश्यक शर्तें हैं।

5. सहभागिता- निष्पादन को एक व्यक्ति या एक संस्था का दायित्व न मानते हुए सामूहिक अभ्यास मानना उपयोगी होगा। अतः अच्छे क्रियान्वयन के लिए आवश्यक है कि उच्च सरकारी अधिकारी निम्न अधिकारियों को पर्याप्त सत्ता का हस्तांतरण करें। यह सहभागिता प्रशासनिक अधिकारियों एवं राजनीतिक अधिकारियों के मध्य भी हो सकती है, ताकि प्रजातांत्रिक व्यवस्था में नीति का लाभ अधिकाधिक जरूरतमंद वर्ग को प्राप्त हो। एक सफल क्रियान्वयन के लिए गैर-सरकारी इकाइयों, स्वयंसेवकों या स्वयंसेवी वर्ग को भी सहभागी बनाना उपयोगी माना जाता है। यह सहभागिता केन्द्र राज्य एवं स्थानीय स्तरों पर प्राप्त की जा सकती है।

6. समन्वय- नीति संबंधी प्रयासों, समस्तरीय और लम्बस्तरीय को सामंजस्यपूर्ण बनाना ताकि वे एक-दूसरे के पूरक बन सके। यदि नीति का सम्बन्ध एक से अधिक विभागों या अभिकरणों के साथ है तो एक अन्तर-विभागीय समन्वयक/इकाई का होना आवश्यक है। इसका कार्य क्रियान्वयन सम्बन्धी उन अवरोधों को दूर करना है जो कि आपसी सहयोग के अभाव से उत्पन्न होते हैं।

7. संसाधनों की पर्याप्तता- क्रियान्वयन का कार्य अक्सर साधनों (आर्थिक, भौतिक एवं संरचनात्मक) की अपर्याप्तता के कारण अवरूद्ध हो जाता है। साधनों की अपर्याप्तता क्रियान्वयन को इतना अधिक विलम्बित कर देती है कि जहाँ एक और उससे संबंधित व्यय अप्रत्याशित रूप से बढ़ जाता है, वहीं दूसरी ओर निर्धारित समय पर समाप्त न होने पर यह सामाजिक हित की दृष्टि से भी अप्रासंगिक बन सकती है और सम्भावित लाभ से हाथ धोना पड़ता है।

8. लचीलापन- नीति-निर्माण की अवधि में दीर्घकालिक क्रियान्वयन सम्बन्धी पूर्व अनुमान लगाना न केवल कठिन ही होता है, बल्कि असम्भव भी होता है। क्योंकि व्यवहार में कई अप्रत्याशित विकास पूर्व नियोजन को अवरूद्ध कर सकते हैं। अतः क्रियान्वयन की प्रक्रिया में ग्रहण किए गए अनुभव और उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों के आधार पर निर्धारित कार्यक्रम में आवश्यक समायोजन होना आवश्यक है। इन समायोजनों के लिए क्रियान्वयन सम्बन्धी लचीलापन लाभप्रद होता है।

9. पुनर्निवेश या नियंत्रण- नीतियों के क्रियान्वयन को सफल बनाने के लिए प्रभावकारी नियंत्रण रखना आवश्यक है अतः क्रियान्वयन की प्रक्रिया के प्रत्येक स्तर पर क्रियान्वयन सम्बन्धी प्रतिवेदन समय और लागत सम्बन्धी लक्ष्य को आश्वस्त करता है। इसी पुनर्निवेशन से ही उन कारणों, स्थितियों या अवरोधों का पता लगाया जा सकता है जिनके आधार पर नीति संबंधी पुनर्विचार किया जा सकता है और उसमें आवश्यक संशोधन सुझाए जा सकते हैं। खुलापन एवं पारदर्शिता नीति-निष्पादन के लिए बहुत ही आवश्यक है। पारदर्शिता का संदेश है- 'आवश्यक सूचना तत्काल उपलब्ध हो।'

उपर्युक्त शर्तों की उपस्थिति यदि नीतियों के क्रियान्वयन को उद्देश्य उन्मुखी बनाती हैं तो इनकी अनुपस्थिति क्रियान्वयन को उद्देश्य से विमुख कर सकती है। आवश्यकता है, प्रशासनिक व्यवस्था में ऐसा वातावरण बनाने की, जिससे यह शर्तें स्वतः ही सम्भव हो सके।

16.5 नीति-निष्पादन में सरकारी एजेन्सियों की भूमिका

नीति-निष्पादन के सम्बन्ध में लोक प्रशासक के कार्यों का विस्तार पूर्वक उल्लेख करते हुए उसके द्वारा समय-सयम पर सरकार को क्या सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं, आदि का विवेचन करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार हम नीतियों के क्रियान्वयन में सरकारी एजेन्सियों से संबंधित विभिन्न पहलुओं का यहाँ विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे।

16.5.1 नीति-निष्पादन में कार्यपालिका की भूमिका

प्रत्येक देश में प्रशासन के शीर्ष पर एक अभिकरण होता है, जिसे मुख्य कार्यपालिका कहा जाता है। मुख्य कार्यपालिका से हमारा तात्पर्य उस व्यक्ति या व्यक्ति समूह से होता है जो किसी देश की प्रशासनिक व्यवस्था का अध्यक्ष होता है। राजकीय इच्छा की अभिव्यक्ति कार्यपालिका द्वारा होती है। प्रत्येक राज्य का प्रशासनिक संगठन पिरामिड प्रकार का होता है, जिसमें आधार की व्यापकता ऊपर की ओर अग्रसर होते हुए धीरे-धीरे इतनी सीमित हो जाती है कि त्रिकोण के दोनों भाग एक बिन्दु पर जाकर मिल जाते हैं। कार्यपालिका इसी पिरामिड का शिखर है। लोक प्रशासन में मुख्य कार्यपालिका की स्थिति केन्द्रीय होती है। वह देश के प्रशासन का प्रधान होता है। इसे ही सम्पूर्ण प्रशासनिक प्रबन्ध व्यवस्था में नेतृत्व करना होता है। शासनतंत्र को सामान्यतः किसी भी देश में जैसा कि हम जानते हैं तीन भागों में बांटा जाता है- विधान पालिका(विधायिका), कार्यपालिका और न्यायपालिका, विधान पालिका में जनता के प्रतिनिधि होते हैं। यह विधि-निर्माण के माध्यम से जनता की इच्छाओं को अभिव्यक्ति करती है। इस विधि-निर्माण एवं जन इच्छा की अभिव्यक्ति के उपरान्त कार्यपालिका की भूमिका शुरू होती है। वह निर्मित विधि के आवरण में आवश्यक आदेशों को निर्गत करती है और विभागों एवं उपविभागों के जरिये विधि को क्रियान्वित करती है। इस प्रकार किसी भी देश का शासन कार्यपालिका द्वारा चलता है। इसके प्रधान को मुख्य कार्यपालिका, मुख्य निष्पादक अथवा मुख्य प्रशासन का नाम दिया जाता है। कार्यपालिका का रूप चाहे जो भी हो, असल जिम्मेदारी मुख्य प्रशासक की ही होती है। उसी के यहाँ से निर्मित विधि आवश्यक आदेशों, निर्देशों के साथ प्रारम्भ होती है और आगे बढ़ते-बढ़ते अन्त में सुख-सुविधाओं के रूप में जनता तक पहुँचती है। मुख्य कार्यपालिका शासन के शिखर-बिन्दु पर होती है और विधि के लागू होने के संदर्भ में उसके पास मुख्यतः तीन अस्त्र होते हैं- निर्देशन, पर्यवेक्षण और नियंत्रण, जिनसे विधि को प्रवाह मिलता है। इस प्रकार समुचा शासन यंत्र संचालित होता रहता है। नीति-निष्पादन के संदर्भ में प्रत्येक शक्ति मुख्य प्रशासक या मुख्य कार्यपालिका से ही मिलती है।

अमेरिकी लेखकों ने मुख्य प्रशासक की शक्तियों और कार्यों का अवलोकन किया है और वे उस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मुख्य प्रशासक की भूमिका सामान्य प्रबन्धक की होती है। जैसा कि हम जानते हैं कि बड़े- बड़े व्यापारिक उद्यमों में एक सामान्य प्रबंधक का पद होता है जो अपने सामान्य निरीक्षण और निर्देशन के माध्यम से अपने समस्त उद्यम को संचालित करता है। जैसा कि हम जानते हैं निदेशक मंडल वह निकाय है जो कानूनों का निर्माण करता है और इन कानूनों का क्रियान्वयन कार्यपालिका विभाग द्वारा किया जाता है जो अन्ततः इस विधान सभा के प्रति ही उत्तरदायी होता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार व्यापारिक संस्थाओं में निदेशक मंडल द्वारा निर्मित विधि व आदेश के अधीन उस संस्था का सामान्य प्रबन्धक निरीक्षण, नियंत्रण और निर्देश का कार्य सम्पादित करता है। इस प्रकार शासन के क्षेत्र में विधि निर्माण शाखा को महाप्रबन्धक के रूप में चित्रित किया जाता है। एक मुख्य प्रशासक किसी देश की शासन व्यवस्था में या तो जनता या उसके प्रतिनिधियों की सभा व्यवस्थापिका के प्रति

उत्तरदायी रहकर निर्मित विधियों और आदेशों का क्रियान्वयन कर शासन प्रबन्ध का कार्य सम्पादित करता है।

16.5.2 नीति-निष्पादन में प्रशासन तंत्र एवं न्याय पालिका की भूमिका

वैसे तो यह माना जाता है कि प्रशासनतंत्र का प्रमुख कार्य नीतियों का क्रियान्वयन है। तथापि आज लोक कल्याणकारी राज्य के प्रादुर्भाव ने प्रशासनतंत्र की उक्त परम्परागत धारणा को बदल दिया है। प्रशासन तंत्र न केवल नीतियों का क्रियान्वयन करता है, अपितु नीति-निर्माण में भी प्रभावी भूमिका का निर्वाह करता है। यह कार्यपालिका के वृहद नीति क्षेत्र को पहचानने, बड़े नीति प्रस्तावों को तैयार करने, सामाजिक समस्याओं जिन पर तुरन्त ध्यान की आवश्यकता होती है, के विभिन्न विकल्पों तथा समाधानों का विश्लेषण, मुख्य नीतियों को उपनीतियों में बदलना, कार्य की योजना निर्धारित करना, वर्तमान नीतियों में इसके अनुभव के आधार पर निष्पादन के स्तर पर संशोधन का सुझाव देने में सहायता प्रदान करता है।

नीति-क्रियान्वयन में प्रशासनतंत्र की भूमिका को तीन मोटी-मोटी क्रियाओं में विभाजित किया जा सकता है- विश्लेषण करना, परामर्श देना तथा सूचना देना।

1. विश्लेषण करना- नीति-निर्माण बहुत ही जटिल प्रक्रिया है। अतः प्रशासनतंत्र ही ऐसे महत्वपूर्ण मसलों पर, जिन पर तुरन्त ध्यान देने की आवश्यकता होती है को पहचानने के बाद उन नीतियों से संबंधित प्रस्तावों के गुण-दोषों का विश्लेषण करता है और यह देखता है कि जो नीतियाँ सामाजिक हित के लिए बनायी गयी हैं कहीं उसका परिणाम खराब तो नहीं आयेगा, आदि बातों को ध्यान में रखते हुए नीतियों को प्रशासन लागू करवाता है और पुर्न संभरण के माध्यम से जनता से उसकी कमियों का पता चलता है, जिससे बाद में उसमें आवश्यक संशोधन किये जाते हैं। यह प्रशासन तंत्र का ही दायित्व है कि नीति प्रस्तावों को संविधान के उपबन्धों, संसदीय विधियों तथा प्रचलित नियमों तथा उपनियमों के संदर्भ में विश्लेषित करें।

2. परामर्श देना- प्रशासनतंत्र को विशेष रूप से सचिवालय स्तर पर सरकार का मस्तिष्क समझा जाता है। चूंकि यह सदैव राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं पर सोचता रहता है, इसी कारण यह नीति के निर्माण के साथ नीति-निष्पादन में बहुत बड़ी भूमिका का निर्वाह करता है और नीतियों में त्रुटि होने पर यह आवश्यक परामर्श कार्यपालिका को देता है। यह अपने विचारों को इस ढंग से प्रस्तुत करता है कि वे राजनीतिक कार्यपालिका के परामर्श के रूप में कार्य करते हैं। ये परामर्श प्रशासनिक दक्षता तथा प्रशासन तंत्र की योग्यता पर आधारित होते हैं। भारत में कैबिनेट सचिवालय जिसका प्रमुख कैबिनेट सचिव होता है, परामर्श के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। कैबिनेट सचिव मंत्रीमण्डल तथा उसकी समितियों की सभी बैठकों में उपस्थित रहता है। वह विचरणीय विषयों की तैयारी करने, मसालों की प्राथमिकताएं तय करने तथा प्रधानमंत्री की सलाह पर मंत्रीमण्डलीय समितियों को विषयों का आवंटन करने के लिए भी उत्तरदायी है। पिछले कुछ वर्षों से प्रधानमंत्री कार्यालय भी नीति सम्बन्धी परामर्श देने में प्रभावी भूमिका निभा रहा है।

3. सूचना देना- नीति-निष्पादन की तैयारी का मुख्य कार्य प्रशासनतंत्र के द्वारा किया जाता है। नीतिगत मुद्दों को पहचानने तथा नीतिगत प्रस्तावों को आकार देने के लिए वर्तमान समस्याओं के व्यवस्थित विश्लेषण की आवश्यकता होती है। किसी भी नीति को निचले स्तर तक लागू करने का कार्य प्रशासनतंत्र का होता है। संक्षेप में नीति-निष्पादन में प्रशासनतंत्र की सूचना संबंधी भूमिका नीति प्रस्तावों की व्यवस्थित रचना के लिए वस्तुगत आधार तैयार करने तथा प्रस्तावों को प्रमाणित करने के लिए आवश्यक आंकड़े प्रदान करने से संबंधित है तथा उसी के अनुरूप नीतियों को क्रियान्वयन करने से भी है।

नीति-निष्पादन में न्याय पालिका भी अपनी भूमिका निभाती है। ऐसा सामान्यतः तब होता है जब नीति के उद्देश्य सुस्पष्ट नहीं होते हैं तथा उस नीति की कई व्याख्याऐं की जा सकती हैं। ऐसे मामलों में न्यायालय अपना निर्णय देते हैं तथा उनका निर्णय अन्तिम मान लिया जाता है। भारत में कई क्षेत्रों में किसी भी अधिनियम या नीति के निष्पादन से संबंधित विवादों के निपटारे के लिए प्रशासनिक न्यायालयों की स्थापना की गई है।

अभ्यास प्रश्न -

1. नीति-निष्पादन सम्बन्धी तत्वों में निम्नलिखित में कौन नहीं है?

क. धन ख. मानव संसाधन ग. उपकरण घ. लचीलापन

2. प्रभावकारी क्रियान्वयन के लिए नीति की स्पष्टता और नीति की सही व्याख्या जरूरी होती है। सत्य/असत्य

3. नीति-निष्पादन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक नीति के लक्ष्य पूरे किए जाते हैं। सत्य/असत्य

4. निम्नलिखित में कौन सी एजेन्सी नीति-निष्पादन के कार्यों में भाग नहीं लेती है?

क. स्वैच्छिक संगठन ख. कार्यपालिका ग. न्यायपालिका घ. विधायिका

16.6 सारांश

लोक प्रशासन एक विज्ञान, कला अथवा विषय के रूप में जब पाठकों के समक्ष आता है तो दिलचस्पी के बावजूद उनमें कुछ शिथिलता का समावेश देखने को मिलता हैं। इसका प्रमुख कारण शास्त्र में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के चलते होता है। ऐसे शब्दों में नीति (Policy)शब्द भी एक है। पाठकों को इस शब्द का स्पष्ट अर्थ समझ लेना चाहिए, क्योंकि एक तो लोक प्रशासन आधुनिक जीवन में अनिवार्य और अभिन्न तत्व के रूप में उभर कर आया है। और दूसरे इसके अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले शब्दों को स्पष्टतः समझ लेने से इसका अध्ययन भी सफल और सार्थक होता चला जायेगा।

नीति संबंधी दूसरा चरण क्रियान्वयन का होता है। साधारण शब्दों में क्रियान्वयन या निष्पादन का अभिप्राय है नीति की अभिपूर्ति या नीति का परिपालन। अर्थात नीति सम्बन्धी कार्यवाही नीति- निर्माण एवं नीति-क्रियान्वयन घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। नीति चाहे कितनी भी श्रेष्ठ क्यों न हो यदि पूर्ण प्रयास और निहित भाव के अनुरूप क्रियान्वित नहीं की जाती तो उसकी श्रेष्ठता जाती रहती है।

नीति-निर्माण यदि नीति सम्बन्धी वैचारिक पक्ष है तो नीति-क्रियान्वयन व्यवहारिक आवश्यकता है। दोनों पक्षों के समायोजन की नीति-निर्माण करते समय उसकी क्रियान्वयन सम्बन्धी आवश्यकताओं- मानव-संसाधनों, आवश्यक सामग्री, उपकरणों, आर्थिक स्रोतों इत्यादि को पूर्व परिभाषित एवं पूर्व निर्धारण की आवश्यकता होती है। अतः नीति-निर्माण के दौरान ही नीति-क्रियान्वयन सम्बन्धी पूर्व-आयोजन अपरिहार्य है जो कि दीर्घकालिक और अल्पकालिक हो सकती है। वैसे तो नीति-निष्पादन सरकार का प्रमुख दायितव है फिर भी गैर-सरकारी एजेंसियां जैसे स्वैच्छिक संगठन, दबाव समूह एवं नागरिक भी नीति-निष्पादन प्रक्रिया में योगदान देते हैं। वर्तमान समय में नीतियों के क्रियान्वयन में स्वयंसेवी संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन हो रहा है। हाल के वर्षों में स्वैच्छिक संगठन समकालीन मुद्दों जैसे पर्यावरण, सुरक्षा, शिक्षा, गरीबों के कानूनी मुद्दे, उपभोक्ता संरक्षण मानव अधिकारों के संरक्षण, बाल कल्याण इत्यादि में सक्रिय रूप से भाग ले रहे हैं। कभी-कभी एक नीति का समाज के कुछ तबकों पर नकारात्मक प्रभाव भी पड़ता है। ऐसे प्रभावित तबके नीति-क्रियान्वयन में बांधा भी डाल सकते हैं। इस सम्बन्ध में एकत्रित सूचनाओं से सरकारी एजेंसियां सुधार के लिए प्रतिकारी उपाय, कदम और कार्य नीति पहले ही अपना सकती हैं। अन्त में नीति-कार्यान्वयन के लिए सम्बन्धित एजेंसियां मानकों तथा मानदण्डों का निर्धारण करती हैं।

16.7 शब्दावली

निष्पादन- क्रियान्वयन, अनुमोदन- सहमति, जागृति- चेतना, प्रदूषण- गन्दगी, अभिकरण- विभाग, पुनर्निवेश- क्रियान्वयन के बाद नीतियों की कमियां का सरकारी तंत्र के पास आना।

16.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. घ, **2.** सत्य, **3.** सत्य, **4.** घ

16.9 संदर्भ ग्रंथ-सूची

1. गौर, इन्द्रजीत ''लोक प्रशासन ''नए क्षितिज्ञ'' एस0बी0पी0डी0 पब्लिशिंग हाउस, आगरा।
2. फाड़िया, बी0एल0, लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा, 2013
3. अवस्थी एवं माहेश्वरी, भारत में लोक प्रशासन, आगरा, 2000
4. सिंह, वीरकेश्वर प्रसाद, लोक प्रशासन, ज्ञानदा प्रकाशन नई दिल्ली, 2006
5. भट्टाचार्य, मोहित, लोक प्रशासन के नये आयाम।

16.10 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. भाम्भरी, सी0पी0 ''पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया'' ।
2. जैन, पुखराज, लोक प्रशासन, एस0वी0पी0डी0 पब्लिकेशन, आगरा, 2009,
3. बसु, रूमकी, लोक प्रशासन।

16.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. नीति-निष्पादन से आप क्या समझते? इसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालें।

2. एक औंस क्रियान्वित नीति का महत्व 'मन भर' लिखित नीतियों से कहीं अधिक है।'' इस कथन की विवेचना करते हुए नीति-क्रियान्वयन के मार्ग में उत्पन्न होने वाली बाधाओं का उल्लेख कीजिए और ऐसे उपाय सुझाइऐ, ताकि नीति-क्रियान्वयन को प्रभावकारी बनाया जा सके।

इकाई- 17 नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियों की भूमिका

इकाई की संरचना

17.0 प्रस्तावना
17.1 उद्देश्य
17.2 नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियों का महत्व
17.3 नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेसियों की भूमिका
17.3.1 नीति-क्रियान्वयन का व्यापक क्षेत्र
17.3.2 प्रशासनिक मशीनरी की सीमित पहुँच
17.3.3 प्रशासनिक अधिकारियों की कार्यों के सापेक्ष सीमित संख्या
17.3.4 लालफीताशाही
17.3.5 प्रशासनिक अधिकारियों को क्षेत्र विशेष की समस्याओं की सीमित जानकारी
17.3.6 अपव्यय पर रोक
17.3.7 व्यापक जन सहभागिता एवं अन्तिम व्यक्ति तक पहुँच
17.3.8 भारतीय परिप्रेक्ष्य में नीति-निष्पादन में एन0जी0ओ0 की भूमिका
17.4 सारांश
17.5 शब्दावली
17.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
17.7 संदर्भ ग्रन्थ-सूची
17.8 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
17.9 निबंधात्मक प्रश्न

17.0 प्रस्तावना

नीति-निष्पादन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक नीति के लक्ष्य एवं प्रतिज्ञाएं पूरी की जाती हैं। वर्तमान समय में नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियाँ अपनी अहम भूमिका निभा रही है। वैसे तो नीति-निष्पादन सरकार का प्रमुख दायित्व है फिर भी गैर-सरकारी एजेंसियां जैसे स्वैच्छिक संगठन, दबाव समूह एवं नागरिक भी नीति-निष्पादन प्रक्रिया में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। उसका प्रमुख कारण सरकारी प्रशासन तंत्र पर कार्य का अत्यधिक बोझ एवं उनकी अन्तिम व्यक्ति तक पहुँच न होना प्रमुख कारण माना जा रहा है। इसके साथ-साथ कम व्यय एवं कम समय में नीतियों का क्रियान्वयन गैर-सरकारी एजेंसियों के माध्यम से सम्भव हो रहा है। वर्तमान समय में सरकार द्वारा जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों में गैर-सरकारी संगठनों द्वारा सहयोग लिया जा रहा है, चाहे वह शिक्षा के विकास से सम्बन्धित पहलू हो या फिर स्वास्थ्य से जुड़ी बात हो। प्रत्येक क्षेत्र में एन0जी0ओ0 अपनी स्पष्ट भूमिका निभा रहा है। भारत में समाज सेवा और स्वेच्छी सेवा संबंधी उच्च भावना की प्राचीन परम्परा विद्यमान रही है। ब्रिटिश काल में भी अनेक स्वयंसेवी संस्थाऐं विभिन्न सामाजिक कल्याण की गतिविधियों जैसे- निर्धनों की सहायता तथा शिक्षा का प्रसार इत्यादि में संलग्न रही। स्वयं महात्मा गांधी का राष्ट्रीय स्वतंत्रता

आन्दोलन आरम्भिक स्तर पर सामाजिक पुर्ननिर्माण, स्वयं सेवा और गरीबों में से सबसे अधिक गरीब की सेवा संबंधी संदेश पर आधारित था, जिसका मुख्य आधार था स्वैछिक कार्यवाही। इस प्रकार वर्तमान समय में भी नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका बढ़ गयी है। ये संगठन निःस्वार्थ भाव से और अवैतनिक आधार पर सेवाऐं प्रदान कर रहे हैं और सरकार की प्रत्येक योजना को अन्तिम व्यक्ति तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

17.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियों की भूमिका को जान सकेंगे।
- नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियों कहाँ तक सफल है, यह भी आप अध्ययन के उपरान्त जान पायेंगे।
- गैर-सरकारी एजेंसियों की कार्य प्रणाली से भी अवगत हो सकोगे।

17.2 नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियों का महत्व

लोकतांत्रिक समाज में केवल नीतियों का निर्माण कर देने से समाज का विकास एवं भला नहीं हो जाता है। विशेष कर विकासशील देशों में नीतियों तो बहुत बनती हैं, पर उनका सही क्रियान्वयन न हो पाना एक बड़ी समस्या है। बहुत सारी नीतियां प्रशासनिक औपचारिकता के चक्कर में रूकी पड़ी रहती और हैं और काफी समय तक अधिकारी के पटल पर पड़ी रहकर धूल खाती रहती हैं। अधिक समय बीत जाने पर अधिकारी का भी स्थानान्तरण हो जाता है, जिससे अन्तिम व्यक्ति तक नीतियों का लाभ नही मिल पाता है। वर्तमान समय में गैर-सरकारी स्वयंसेवी संस्थाओं ने नीतियों को कम समय में अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचाने का कार्य किया है, जससे इसका महत्व बढ़ गया है। दुनिया भर के तमाम देशों में स्वयंसेवी संस्थाऐं बढ़-चढ़कर सरकारी नीतियों के निर्माण से लेकर नीतियों के क्रियान्वयन तक अहम भूमिका निभा रही हैं। नीतियों का क्रियान्वयन जब तक अन्तिम व्यक्ति तक न पहुँचे तब तक उसके निर्माण का कोई महत्व नहीं होता, चाहे नीतियां कितनी हो अच्छी क्यों न हो।

17.3 नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेंसियों की भूमिका

इस इकाई के अन्तर्गत हम नीति-क्रियान्वयन में गैर-सरकारी संगठन के प्रभाव का व्यापक अध्ययन करेंगे तथा साथ ही साथ भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में गैर-सरकारी एजेसियां कहाँ तक सफल हैं, इसका विस्तारपूर्वक अध्ययन किया करेंगे।

17.3.1 नीति-क्रियान्वयन का व्यापक क्षेत्र

नीति-निष्पादन का क्षेत्र बहुत ही बड़ा होता है। सरकारी एजेंसियां बिना स्वयंसेवी संगठनों के सहयोग के पूरा करने में असमर्थ होती हैं। चूंकि व्यापक क्षेत्र होने के कारण सरकारी कर्मचारी उतनी मात्रा में नहीं हैं, जिससे कम समय में नीतियों का क्रियान्वयन किया जा सके। बहुत सी ऐसी सार्वजनिक नीतियां होती हैं जो बिना एन0जी0ओ0 के वर्तमान समय में पूरी नहीं की जा

सकती। वर्तमान समय में कल्याणकारी राज्य का स्वरूप अपनाये जाने के कारण कार्य का बोझ इतना ज्यादा बढ़ गया है कि बिना गैर-सरकारी एजेन्सी के सहयोग के नीतियों का लाभ अन्तिम व्यक्ति तक नहीं पहुँचाया जा सकता है। सभी राज्यों में एन0जी0ओ0 बहुत ही लगन से कार्य कर रहा है। पोलियो उन्मूलन कार्यक्रम, राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण कार्यक्रम आदि नीतियों का क्रियान्वयन गैर-सरकारी संगठनों के माध्यम से ही संचालित हो रहे हैं। इसके अलावा जागरूकता कार्यक्रम, शासकीय कार्यक्रमों की जानकारी उपलब्ध कराना, पाठ्य पुस्तकों का वितरण स्वास्थ्य शिविर व औषधि निर्माण और वितरण जैसे कार्यक्रमों का बहुत ही बड़े पैमाने पर एन0जी0ओ0 द्वारा सम्पन्न कराया जा रहा है। सभी वास्तविक गैर-सरकारी संगठन एक-दूसरे के पूरक हैं। किसी एक संगठन की किसी दूसरे संगठन के साथ कोई स्पर्धा नहीं होती। यह क्षेत्र अत्यन्त उदार है और हजारों संगठन किसी एक विषय क्षेत्र में कार्य कर सकते हैं एवं कार्य कर रहे हैं। सभी गैर-सरकारी संगठन उच्चतम आदर्शों और विशिष्ट सामाजिक मूल्यों की स्थापना के लिए कार्य करते हैं, इसलिये उनकी नेटवर्किंग के माध्यम से विभिन्न सूचनाऐं और सहयोग भी उपलब्ध हो जाता है।

भारत एक लोकतांत्रिक राष्ट्र है, जहाँ जनता के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन चलाया जाता है। भारत की स्वाधीनता के साथ ही देश के नये भाग्य विधाताओं ने कल्याणकारी राज्य की कल्पना को मूर्त रूप प्रदान करने के लिये राज्य और केन्द्र की सरकारों का स्वरूप निर्धारित किया था। इन सरकारों के अंतगर्त जन विकास और कल्याण के लिए अनेक विभाग निर्मित हुए। इन विभागों ने अपने कार्यों को क्रियान्वित करने के लिए गैर-सरकारी एजेंसियों का सहयोग ले रखा है।

17.3.2 प्रशासनिक मशीनरी की सीमित पहुँच

वर्तमान समय में सरकारी कार्यों का क्षेत्र व्यापक हो गया है एवं कार्यों के सापेक्ष सरकारी तंत्र उतना चुस्त एवं संसाधन युक्त नहीं रह गया है। जिस कारण नीतियों के सफल क्रियान्वयन के लिए गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका बढ़ जाती है और उन्हीं के माध्यम से नीतियों का सफल क्रियान्वयन सम्भव हो पाता है। कोई भी योजना का लाभ अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचाने के लिए सरकारी विभाग अन्य गैर-सरकारी एजेसियों का सहयोग लेते हैं। चूंकि प्रशासन में इतना ज्यादा लाल फीताशाही, भ्रष्टाचार व्याप्त है कि ज्यादातर योजनाऐं अन्तिम व्यक्ति तक नहीं पहुँच पाती है, आधे रास्ते में ही दम तोड़ देती है। चूँकि उनकी सामाजिक सहभागिता बहुत ही सीमित होती है। चूँकि गैर-सरकारी संगठन जन-संस्कृति के साथ ताल-मेल को तत्पर रहते हैं। खुद को जनता का हिस्सा मानते हैं व जन-मनोविज्ञान को समझाने की चेष्टा करते हैं। विकास की समग्रता व निरंतरता ही उनका सबसे बड़ा मुद्दा होता है। मशीनी प्रक्रिया और लक्ष्य पर आधारित कार्य उनके लिये स्पष्ट होते हैं। उनके मन में सामाजिक मूल्य तथा विशेष अवधारणाऐं होती हैं। इन्हीं की स्थापनाओं के लिए वे कार्य करते हैं। वर्तमान समय में कहीं पर भी राष्ट्रीय आपदा आने पर सरकारी मशीनरी के पहुँचने से पहले स्वयंसेवी एवं गैर-सरकारी संगठन पहुँच जाते हैं और व्यक्तियों को उस आपदा से निकालने का प्रयास करते हैं। जैसे- बाढ़, भूकम्प, भू-स्खलन

चक्रवाती तूफान, सूनामी आदि क्षेत्र में उनके सराहनीय कार्यों को देखा जा सकता है। वर्तमान समय में गैर-सरकारी संगठनों की पहुँच प्रत्येक क्षेत्र में एवं जन-जन तक हो चुकी है। गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका को एवं उनके द्वारा कराये जा रहे कार्यों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। जबलपुर की भूकंप त्रासदी की एक घटना 1997 में घटी थी उसमें कुछ गांवों में खासी तबाही मचा दी थी। सरकार से पहले गैर-सरकारी संगठनों ने पहल की थी और राहत के बढ़िया कामों के जरिये सबका ध्यान खींचा था।

गैर-सरकारी संगठन अपनी स्वनिर्मित कार्य पद्धति के कारण ही अपनी स्वतंत्र पहचान रखते हैं। व्यक्तित्व की सहजता, विचारों की स्पष्टता और अधिक से अधिक लोगों तक पहुँच बनाने की सरलता उसकी पूँजी होती है। संगठन के व्यक्तित्व में सरलता का गुण अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। इसी सरलता के कारण नये-नये लोग संगठन से जुड़ते हैं। यदि संगठन अपने द्वार बन्द कर ले या अपने तौर-तरीके इतने जटिल बना ले कि सामान्य व्यक्तियों के साथ संवाद कायम न होने पाये तो ऐसा संगठन अपने ही दायरों में सिमट कर रह जाता है। गैर-सरकारी संगठन के लोग सहज भाव से अपने लक्ष्य को केन्द्रित करके आम नागरिकों से मिलकर उनको सरकारी योजनाओं के विषय में समुचित जानकारी देते हैं। भारत में सरकार ने एक ऐतिहासिक निर्णय लिया है कि सरकारी कामकाज की पड़ताल और मूल्यांकन करने के लिए निजी क्षेत्र से परामर्श किया जायेगा और गैर-सरकारी संगठनों को जोड़ा जायेगा।

भारत सरकार का प्रशासनिक विभाग एक टीम गठित कर रही है जो प्रत्येक मंत्रालय और विभागों को भ्रमण करेगी तथा उनके कार्य निष्पादन एवं प्रदर्शन का मूल्यांकन करेगी। यह खास तौर पर उन विभागों के लिये होगी जो सरकारी सेवा क्षेत्र से संबंधित है जैसे- पुलिस, स्वास्थ्य, और शिक्षा। यह भी मूल्यांकन किया जायेगा कि सरकारी वादों को कितना निभाया गया। फिलहाल यह योजना केंद्र सरकार के विभागों के लिये है, किन्तु बाद में इसे राज्यों तक विस्तारित किया जायेगा।

17.3.3 प्रशासनिक अधिकारियों की कार्यों के सापेक्ष सीमित संख्या

प्रशासनिक अधिकारियों एवं कर्मचारियों की संख्या कार्यों की अपेक्षा बहुत ही सीमित है। जिससे गैर-सरकारी संगठनों के सहयोग से कार्यों को सम्पन्न किया जाता है। नीतियों का निर्माण विधायिका द्वारा कर दिये जाने के उपरान्त नीतियों का क्रियान्वयन सही ढंग से नहीं हो पाता है। उसके पीछे सबसे बड़ा कारण प्रशासनिक अधिकारियों की सीमित संख्या होना है। इसलिए गैर-सरकारी संगठन जो सरकार के सिद्धान्तों पर कार्य करते हैं उनको वह कार्य सौंप दिया जाता है। चूंकि उनकी संख्या बहुत होती है और उनका नेटवर्क शहरों से लेकर गांवों तक फैला होता है इसलिए वह कम समय में अपने सारे कार्यों को अंजाम तक पहुँचा देते हैं। वर्तमान समय में विश्व के लगभग तमाम देशों में गैर-सरकारी संगठन सरकार के समानांतर कार्य कर रहे हैं। वर्तमान समय में गैर-सरकारी संगठनों की बाढ़ सी आ गयी है। वर्तमान युग जनतंत्र का युग है, जिसमें जनमत की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। कोई भी संगठन चाहे वह निजी हो या सरकारी, लोगों के सामने उसे अपनी उपलब्धियों को प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। चूंकि

यह युग कल्याणकारी सरकार का है। इस समय दुनिया के लगभग सभी देशों में कल्याणकारी सरकार की स्थापना हो चुकी है, इसलिए यह और नितान्त आवश्यक हो जाता है कि सरकारी नीतियों का सही ढंग से एवं त्वरित क्रियान्वयन हो, जिससे जनता का अधिकतम कल्याण हो सके। यह गैर-सरकारी संगठनों के बिना सम्भव नहीं है कि कम समय में उन नीतियों को क्रियान्वित किया जा सके। सरकारी विभागों के संचालन के लिए बड़े नौकरशाह अफसर और कर्मचारियों की फौज नियुक्त की गयी। सरकारी व्यवस्था का जो स्वरूप आज हमें दिखाई देता है, उसका आधार और बनावट का अधिकांश रूप अंग्रेजों से 'जंस का तस' ले लिया गया है। यहॉ तक कि सरकार के उद्देश्यों में भी अंग्रेजी मानसिकता की ही झलक मिलती है।

अंग्रेजी शासन व्यवस्था का उद्देश्य था भारतवासियों पर अंग्रेजी राज की जड़ें मजबूत करना तथा गुलाम भारतीयों और शासक(अंग्रेजों) के रूप में दो वर्गों को समाज में बनाये रखना। दुर्भाग्य से यह मानसिकता स्वतंत्र भारत में भी मौजूद है। इसे बड़ी आसानी से सरकारी दफ्तरों में बैठे हुए आला-अफसरों के व्यवहार और आचरण में आज भी देखा जा सकता है। इसका नतीजा यह हुआ कि हमारी शासन व्यवस्था एक अजीब किस्म के द्वैत में काम करने के लिए अभिशप्त हो गयी है। जिस नौकरशाही को गरीबों, पीड़ितों और वंचितों के प्रति जवाबदेह बनकर उनके विकास और कल्याण के लिए कार्य करने का जिम्मा सौंपा गया है, वही नौकरशाह गरीबों, पीड़ितों और वंचितों पर शासन करने की मानसिकता से प्रेरित हैं। इस स्थिति में गैर-सरकारी संगठन जो सहज भाव से गरीबों, असहायों एवं पीड़ितों के कल्याण के लिए संलग्न हैं, उनकी भूमिका और बढ़ जाती है।

सरकारी अमला कल्याण और विकास कार्यक्रमों की सम्पन्नता और निरंतरता के साथ भी कोई सरोकार नहीं रखता। उन्हें तो केवल उतने ही अंश से मतलब होता है, जितने का उनकी नौकरी और निर्धारित कर्तव्यों से रिश्ता होता है। इतना ही नहीं, सरकारी अमला एक ऐसी मशीनी प्रक्रिया का आदी भी बन गया है जो लक्ष्य धारित कार्यशैली के रूप में जानी जाती है। आंकड़ों की बाजीगरी ही उनके संतोष का श्रोत बन गयी है। इसके अलावा गैर-सरकारी एजेंसियां समाज के विकास और लोगों के कल्याण के लिए अपनी गतिविधियों को मूर्त रूप देने के लिए जिस तरह की कार्यविधि को विकसित करते हैं, वह कहीं अधिक कारगर रूप से क्रियान्वयन कर पाने में सफल होती है।

17.3.4 लालफीताशाही

विश्व भर में नौकरशाहों द्वारा नियमों और प्रक्रियाओं का पालन किए जाने की उम्मीद की जाती है जो वास्तव में उत्तम शासन के लिए महत्वपूर्ण है। लेकिन सरकारी कर्मचारियों द्वारा प्रत्येक फाइल पर इतना ज्यादा समय लिया जाता है, जिससे किसी योजना को अच्छी गति नहीं मिल पाती है। कभी-कभी तो लालफीताशाही के चक्कर में उस योजना का दम निकल जाता है। गैर-सरकारी एजेंसियों में ऐसा नहीं होता, वहॉ पर कार्य काफी तेजी से होता है। लोक प्रशासन में प्रशासनिक कार्य की गति धीमी रहती है तथा प्रशासनिक प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप लालफीताशाही में भ्रष्टाचार, अक्षमता जैसी प्रशासनिक बुराइयों का बोल बाला होने

लगता है। नीति-निष्पादन को प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा पत्रों के उत्तर विलम्ब से दिये जाते हैं तथा प्रशासकीय मशीन में शिथिलता आ जाती है। इसके विपरीत गैर-सरकारी संगठन के क्षेत्र में प्रशासनिक कार्य तेज गति से सम्पन्न किये जाते हैं और निर्णय लेने में विलम्ब नहीं होता है। आधुनिक अफसर शाही से सभी दृष्टि में उच्च स्तर की व्यावसायिक योग्यता अपेक्षित है। अफसरशाही की जो स्थिति आज है, वह इसकी शोचनीय व्यावसायिक अयोग्यता के कारण है। परियोजनाऐं चाहे राज्य स्तर की हों या केन्द्र स्तर की कार्यान्वयन स्तर पर कार्य कुशलता के अभाव में न केवल उन्हें पूरा करने में अत्यधिक समय लगता है, बल्कि लागत बढ़ जाती है। भारतीय आर्थिक आयोजन की बिडम्बना यह है कि राष्ट्रीय स्तर पर तो इसमें अत्यधिक आधुनिक तकनीकें अपनायी जा रही है, परन्तु कार्यान्वयन स्तर पर प्रत्यक्षत गुणवत्ता में गिरावट आ रही है। इसके लिए उच्च पदस्थ नौकरशाह कुछ कम उत्तरदायी नहीं हैं। भारतीय अफसरशाही की सबसे बड़ी कमजोरी यही रही है कि वह आधुनिक प्रबन्ध की पद्धतियों को जानने, तकनीकी सीखने और व्यावसायिक कुशलता को अद्यतन करने के प्रयास नहीं करती। भारत में राजनीतिक व्यवस्था को बनाये रखने में नौकरशाही या प्रशासनतंत्र का बड़ा हाथ है।

17.3.5 प्रशासनिक अधिकारियों के क्षेत्र विशेष की समस्याओं की सीमित जानकारी

गैर-सरकारी संगठनों के सन्दर्भ में परियोजना का ज्ञान, क्रियान्वयन की क्षमता और सम्पादित करने की पद्धतियों से परिपक्व परिचय एवं क्षेत्र विशेष से संबंधित आर्थिक, सामाजिक एवं उस क्षेत्र में रहने वाले नागरिक की वास्तविक स्थिति की जानकारी सरकारी कर्मचारियों की अपेक्षा गैर-सरकारी एजेंसियों को ज्यादा रहती है। इस कारण वे किसी भी परियोजना को सरकारी विभागों की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से क्रियान्वित करने का प्रयास करते हैं।

किसी विषय क्षेत्र का लगभग समग्र ज्ञान तथा उस ज्ञान का निरंतर परिमार्जन नवाचार और शोधात्मक प्रवृत्ति से ही हासिल की जा सकती है। कोई भी संगठन विशेषता हासिल किये बिना सफल नहीं हो सकता। अपने चुने हुए कार्य-क्षेत्र जैसे शिक्षा, साक्षरता, पर्यावरण, स्वच्छता, स्वास्थ्य, औषधीय, पौंधे, समूह निर्माण आदि से संबंधित साहित्य का अधिक से अधिक संकलन और संग्रहण करने की प्रवृत्ति ने ही गैर-सरकारी संगठनों को अधिक उपयोगी बना दिया। गैर-सरकारी संगठन अपनी स्वनिर्मित कार्य पद्धति के कारण ही अपनी स्वतंत्र पहचान रखते हैं। व्यक्तित्व की सहजता, विचारों की स्पष्टता और अधिक से अधिक लोगों तक पहुँच बनाने की सरलता उसकी पूँजी होती है।

गैर-सरकारी संगठन अपने कार्यक्षेत्र/लक्ष्यक्षेत्र के साथ गहरे और अनौपचारिक संबंध बनाते हैं। शहरी/ग्रामीण/मलीन बस्तियां आदि उनकी अनुसंधानशाला और धीरे-धीरे शाला बन जाती है। क्षेत्र विशेष से संबंधित ढाँचे के समस्त अंगों एवं उपायों से इस तरह व्यवस्थित करना जिससे समग्रता में परिणाम प्राप्त किये जा सके। एक गैर-सरकारी संगठन के लिए प्रबंधन का अर्थ है- उसके संचालन से संबंधित विभिन्न पक्षों की सर्वोत्तम और आनुपातिक सुव्यवस्था निर्मित करना। यह तभी संभव हो पाता है जब गैर-सरकारी संगठनों से जुड़े हुए विभिन्न कारकों का सुचारू व्यवस्था हो। गैर-सरकारी संगठन जन संस्कृति के साथ गहरा ताल-मेल स्थापित करने

के लिए सदैव तत्पर रहता है। जन संस्कृति से तात्पर्य यह है कि उन्हें यदि आदिवासी समुदाय के साथ काम करना है तो वे सबसे पहले आदिवासी जीवन शैली परम्पराओं तथा उनकी समस्याओं की सूक्ष्म जानकारी प्राप्त कर लेते हैं।

17.3.6 अपव्यय पर रोक

लोक कल्याणकारी राज्य में विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन में सरकारी मशीनरी द्वारा सरकारी धन का बड़े पैमाने पर अनावश्यक शिष्टाचार में अत्यधिक व्यय होता है। नियंत्रण और निरोध के होते हुए भी शासन का व्यय बढ़ता जाता है, इसकी तुलना में गैर-सरकारी एजेंसियां अनावश्यक, शिष्टाचार एवं अपव्यय को कम करके अपने लक्ष्यों एवं कार्यों के क्रियान्वयन को एक सही दिशा देती है। इसलिए सरकार भी चाहती है कि योजनाओं के क्रियान्वयन में गैर-सरकारी संगठनों की अधिक से अधिक भागीदारी हो, जिससे अनावश्यक अपव्यय को रोका जा सके। प्रचलित नीति के अनुसार जो कार्य हो रहे हैं, उन पर यथासम्भव कम से कम खर्च करने का प्रयत्न गैर-सरकारी संगठनों द्वारा किया जाता है। अनावश्यक ताम-झाम से गैर-सरकारी संगठन हमेशा दूर रहते हैं। उनका उद्देश्य सिर्फ योजनाओं को मूर्त रूप देना होता है, जिससे उन योजनाओं का लाभ गरीब एवं समाज का अन्तिम व्यक्ति प्राप्त कर सके। गैर-सरकारी संगठनों का चूंकि नेटवर्क एवं कर्मचारियों की संख्या बहुत अत्यधिक होती है, उनको कम वेतन पर शिक्षित बेरोजगार युवा पर्याप्त मात्रा में मिलते रहते हैं। चूंकि ये स्थायी पद से तो नौकरी देते नहीं हैं। जब ये कर्मचारी अच्छा कार्य करते हैं, तभी उनको वहां रखा जाता है अन्यथा उनको निकाल दिया जाता है। इसलिए सरकारी कर्मचारियों की तुलना में वे ज्यादा ईमानदारी एवं निष्ठा से योजनाओं को क्रियान्वित करते हैं।

17.3.7 व्यापक जन सहभागिता एवं अन्तिम व्यक्ति तक पहुँच

उस समय गैर-सरकारी एजेंसियों की भूमिका और बढ़ जाती है, जब उनकी जन सहभागिता एवं अन्तिम व्यक्ति तक पहुँच सरकारी मशीनरी से अधिक हो जाती है। वर्तमान समय में गैर-सरकारी एजेंसियों का नेटवर्क प्रत्येक देश के हर कोने तक फैला हुआ है। किसी भी योजना का निर्माण तभी सार्थक होता है, जब वह अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचा दिया जाता है या उसका लाभ देश-प्रदेश के प्रत्येक नागरिक को मिल जाता है। इस कार्य को पूरा करने में गैर-सरकारी एजेंसियाँ निर्णायक भूमिका अदा कर रही हैं।

गैर-सरकारी एजेसियों का लक्ष्य कार्यक्षेत्र में उनका प्रवेश किसी वी0आई0पी0 या उच्च नौकरशाह की तरह नहीं होता। वे इतने सहज भाव से अंतरण करते हैं, जैसे मित्रों के घर में प्रवेश होता है। विकास की समग्रता व निरंतरता ही उनका सबसे बड़ा मुद्दा होता है। एन0जी0ओ0 लोकप्रियता की बजाय जन-आस्था की ललक से भरपूर होते हैं। इन सब स्वयंसेवी संगठनों के साथ-साथ राजनीतिक दल, दबाव समूह, किसान यूनियन, व्यापारी गुट, शिक्षक गुट, छात्र-सभा आदि संगठन सरकार की नीतियों के क्रियान्वयन को अपने पक्ष में प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। जिसमें दबाव समूह प्रशासनिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग बन चुके हैं। ये समूह देश की प्रशासनिक और राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभाव डालने का प्रयास

करते हैं, ताकि उनके हितों को बढ़ावा मिल सके अथवा कम से कम उनके हितों की उपेक्षा न की जा सके। दबाव समूह न केवल नीति-निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं अपितु प्रशासनिक अधिकारियों को प्रभावित करके नीति का क्रियान्वयन अपने हितों के अनुकूल करा लेते हैं। वे नागरिकों एवं नीति निर्णायकों के बीच एक सेतु का कार्य करते हैं। मायनर वीनर ने लिखा है कि ''भारत में संगठित समूह अधिकांशतः प्रशासनिक प्रक्रिया को ही प्रभावित कर पाते हैं न कि नीति-निर्णय को। पश्चिम के विकसित देशों में दबाव समूह अपने आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि हितों को सुरक्षित रखने के लिए निर्विवाद रूप से संगठित हैं, जबकि भारत में ये समूह साम्प्रदायिक, क्षेत्रीय एवं जातीय मुद्दों के आस-पास ही संगठित हैं। ये संगठन व्यापक रूप से अन्तिम व्यक्ति तक पहुँच रखते हैं।''

17.3.8 भारतीय परिप्रेक्ष्य में नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका

आधुनिक राज्य कानून व्यवस्था का पालन करवाने वाला पुलिस राज्य नहीं हैं, बल्कि जन-कल्याण से संबंधित अनेक सकारात्मक कार्य करने वाले लोककल्याणकारी राज्य हैं। वह नागरिकों के जीवन को खुशहाल बनाने के लिए अनेक सुविधाऐं जुटाने का महत्वपूर्ण काम भी करते हैं। इन सुविधाओं में शिक्षा स्वास्थ्य रोजगार के व्यापक अवसर और बेहतर परिवहन व्यवस्था का प्रबंध भी शामिल है। वस्तुतः आज नागरिक और प्रशासन के आपसी सम्पर्क में बहुत अधिक वृद्धि होने के बावजूद प्रत्येक स्तर पर कार्य का सही ढंग से निष्पादन नहीं हो पाता है, इसलिए गैर-सरकारी एजेंसियों की कार्यपूर्ति के लिए उनकी सेवा ली जाती है। आज भारत में लगभग अस्सी हजार एन0जी0ओ0 रजिस्टर्ड हैं।

भारत में गैर-सरकारी संगठन वह संस्था है जो कि संघ पंजीकरण अधिनियम, सहकारिता संघ अधिनियम, सार्वजनिक न्यास अधिनियम और कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत होते हैं। इसमें एक सामान्य सभा, कार्यकारी परिषद, मुख्य कार्यकारी, अध्यक्ष, कुछ वैतनिक स्टाफ और स्वयंसेवक होते हैं। ये संगठन स्थानीय, जिले या राज्य स्तर पर औपचारिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, महिला शिक्षा, हरिजन उद्धार, अस्पतालों और औषधालयों की स्थापना, वृद्धों के संरक्षण तथा इसके साथ-साथ सरकार द्वारा दिये गये कल्याणकारी कार्य का क्रियान्वयन करते हैं।

लगभग 10,000 से भी अधिक गैर-सरकारी संगठन समाज कल्याण विभाग, सामाजिक अधिकारिता मंत्रालय, महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के साथ कार्य कर रहे हैं। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना के पश्चात इन संगठनों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई, क्योंकि इसके द्वारा सामाजिक कल्याण के विभिन्न कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए इन संगठनों को वित्तीय सहायता प्रदान करने का प्रावधान किया गया। 1970 के दशक में स्वीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत विकासात्मक परियोजनाओं में स्वेच्छी सेवाओं का प्रावधान किया गया। छठी पंचवर्षीय योजना के प्रलेख में सहभागिता विकास के महत्व को पहचानते हुए गैर-सरकारी संगठनों के माध्यम से जनता में जाग्रति उत्पन्न करने पर बल दिया गया।

अब सरकार एवं प्रशासन इस तथ्य को स्वीकार कर चुके हैं कि भारत जैसे विकासशील देश में केवल अफसरशाही के बल पर गरीब एवं असहाय लोगों तक पहुँचना संभव नहीं है और स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका विकास कार्य में काफी मददगार है। स्वयंसेवी संस्थाऐं सरकार के कार्यों को जाँचती-परखती है, उन पर अमल करवाने में मदद करती है और यह भी देखती है कि सरकार की कोई विशेष नीति किसी विशेष क्षेत्र में किस प्रकार से और सुधारी जा सकती है।

अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि विकास प्रशासन में गैर-सरकारी एजेंसियों की महत्वपूर्ण एवं प्रभावी भूमिका है। वे सरकारी प्रयासों का सम्पूरक(Supplement) हैं। वे ग्रामीण स्तर पर लोगों के 'आंख एवं कान' की भूमिका निभाती है। सूचनाओं का प्रसारण करती है और व्यवस्था को सक्रिय एवं जबावदेह बनाती है। हाल के वर्षों में स्वैच्छिक संगठन समकालीन सामाजिक मुद्दों जैसे पर्यावरण संरक्षण, गरीबों को मुफ्त कानूनी सहायता, उपभोक्ता संरक्षण, मानव अधिकारों की रक्षा, हरिजन एवं जनजाति विकास, बाल कल्याण आदि क्षेत्रों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे हैं। चिपकों आन्दोलन ने पर्यावरण समस्याओं पर सामाजिक जाग्रति पैदा की। भारत में गैर-सरकारी एजेंसियां सरकारी उपक्रमों के साथ कंधा से कंधा मिलाकर उपभोक्ता संरक्षण समूह, उत्पादक प्रधान अर्थ व्यवस्था में उपभोक्ता के हितों की सुरक्षा एवं सरकारी योजनाओं का सफलता पूर्वक क्रियान्वयन कर रही है।

अभ्यास प्रश्न-

1. गैर-सरकारी संगठन किसे कहते हैं?

क. जो सरकार द्वारा संचालित होते हैं। ख. जो व्यक्तियों द्वारा संचालित होते हैं।

ग. जो सरकार द्वारा संचालित नहीं होते हैं। घ. जिन पर सरकार का नियंत्रण नहीं होता है।

2. लोक कल्याणकारी राज्य किसे कहते हैं?

क. ऐसे राज्य जो कानून एवं व्यवस्था को देखते हैं।

ख. ऐसे राज्य जो कानून एवं व्यवस्था के साथ-साथ सार्वजनिक हित में कार्य करते हैं।

ग. ऐसे राज्य जो दूसरे राज्यों की सेवा करते हैं।

घ. ऐसे राज्य जो गरीबों को दान देते हैं।

3. वर्तमान समय में भारत में कितने रजिस्टर्ड गैर-सरकारी संगठन कार्यरत हैं?

क. 50 हजार ख. 45 हजार ग. 20 हजार घ. 80 हजार

4. नीति-निष्पादन से आप क्या समझते हैं?

क. नीतियों का निर्माण। ख. नीतियों का क्रियान्वयन।

ग. नीतियों की रूपरेखा तैयार करना। घ. नीतियों को स्पष्ट करना।

17.4 सारांश

वर्तमान समय में किसी भी जनतांत्रिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए शासन की नीतियों को जनता तक पहुँचाना पड़ता है। लोककल्याणकारी राज्य होने के नाते सरकार के कार्यों में लगातार वृद्धि होती जा रही है, जिससे प्रशासकीय अधिकारियों के कार्य करने का

स्वरूप बदल गया है। अब केवल सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन तक ही गैर-सरकारी एजेंसियों काम सीमित नहीं हैं, उनके माध्यम से नीतियों को अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचाया जा रहा है, इसलिए इनकी भूमिका और महत्वपूर्ण होती जा रही है। भारत सहित दुनिया के तमाम देशों में गैर-सरकारी एजेंसियों की बाढ़ सी आ गई है और उनके कार्य करने की शैली एवं ढंग कहीं न कहीं सरकारी कर्मचारियों से बेहतर है, इसलिए उनकी भूमिका को अब दरकिनार नहीं किया जा सकता है। सही ढंग से नीति-क्रियान्वयन वर्तमान समय में एक चुनौती है। वर्तमान उदारीकरण एवं भूमण्डलकरण तथा कल्याणकारी राज्य होने के नाते सरकार के समक्ष विकास से संबंधित विभिन्न प्रकार की योजनाऐं होती हैं, जिनका सही ढंग से क्रियान्वयन किया जाना अति आवश्यक होता है। दुनिया के तमाम देश इस समस्या से ग्रसित हैं। चूंकि नीति-निर्माण सरकार का कार्य होता है। प्रत्येक देश की विधायिका नीतियों को बनाती है। जितनी मेहनत एवं कठिनाई नीतियों के निर्माण में होती है, उससे कहीं अधिक नीतियों के निष्पादन में होती है। सरकारों के पास वर्तमान समय में मानव संसाधन की कमी के साथ- साथ लालफीताशाही, लेट-लतीफी, भ्रष्टाचार, कामचोरी, समय पर काम न करना आदि बुराईयां घर कर गयी हैं, जिस कारण सही समय पर नीति-निष्पादन का कार्य सरकार के समक्ष एक बड़ी चुनौती है। उस चुनौती से निपटने के लिए प्रत्येक देश की सरकारें गैर-सरकारी संगठन, स्वैच्छिक संगठन, स्वयं सहायता समूह आदि संगठनों को नीति-क्रियान्वयन में सहयोग की अपेक्षा करती हैं। गैर-सरकारी संगठन वर्तमान समय में विश्व के लगभग सभी देशों में नीतियों व सरकार की बड़ी-बड़ी योजनाओं को सफल बनाने के लिए प्रयासरत हैं। भारत में भी बड़ी-बड़ी योजनाऐं और परियोजनाओं का मॉडल राष्ट्रीय विकास परिषद एवं योजना आयोग के माध्यम से तैयार किया जाता है। केन्द्र, राज्य तथा निचले स्तर पर पंचायतों के माध्यम से उन योजनाओं को अमली जामा पहनाया जाता है, जिसमें गैर-सरकारी एजेसियां उन नीतियों के क्रियान्वयन में अपनी पूरी क्षमता का परिचय देती हैं। इसके साथ ही साथ गैर-सरकारी एजेंसियाँ आम नागरिकों के बीच जाकर उन नीतियों एवं योजनाओं के विषय में उन्हें जागरूक करती हैं। अतः देश एवं समाज के लिए यह जरूरी है कि एक ऐसे प्रशासनिक ढांचे का विकास किया जाए जो योजना की चुनौतियों का सामना कर सकें। सामान्य रूप से पंचवर्षीय योजनाओं का प्रशासनिक पक्ष योजनाओं के क्रियान्वयन की ओर ध्यान खींच नहीं पाया है। योजनाओं को सही ढंग से क्रियान्वित करने के लिए नौकरशाही प्रवृत्ति एवं भ्रष्टाचार को सही करना होगा, जिससे नीतियों एवं योजनाओं को आम आदमी तक थोड़े समय में पहुँचाया जा सकें और जिससे सही समय पर आम नागरिक उन नीतियों का लाभ उठा सकें। चूंकि यह कहा गया है कि जब सही वक्त पर व्यक्ति को योजना का लाभ नहीं मिलता तो बाद में उसका कोई मतलब नहीं रह जाता। जैसे किसानों को सही समय पर खाद, बीज व दवाऐं नहीं मुहैया करायी जाऐं तो बाद में उसका कोई मतलब नहीं होता।

17.5 शब्दावली

गैर-सरकारी एजेंसियां(संगठन)- ऐसे संस्थान या संगठन जिन पर सरकार का आंशिक या पूर्ण किसी भी प्रकार का हस्ताक्षेप नहीं होता, आकांक्षाऐं- अपेक्षाऐं, कल्याणकारी राज्य- ऐसा राज्य जहाँ पर सरकार कानून एवं व्यवस्था के साथ जरूरत-मंद लोगों के भलाई के लिए उपकरणों एवं सेवाओं का प्रबंध करता है, नियोजन- कार्य के लिए व्यवस्थित तैयारी, सार्वजनिक क्षेत्र- सरकारी उपक्रम, मूल्यांकन- परीक्षण करना या जांचना।

17.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. घ **2.** ख **3.** घ **4.** ख

17.7 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

1. फाड़िया, बी.एल. (2013), लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. सिंह, बीरकेश्वर प्रसाद (2006), लोक प्रशासन, ज्ञानदा प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. लक्ष्मीकांत, एम0 (2000), लोक प्रशासन, टाटा मेक्ग्रॉहिल, नई दिल्ली।
4. कौर, इन्द्रजीत (2010) लोक प्रशासन नए क्षितिज, एस0बी0पी0डी0 पब्लिशिंग हाउस आगरा।

17.8 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. शर्मा एवं सड़ाना, एम0पी0बी0एल0 (2012) लोक प्रशासन सिद्धान्त एवं व्यवहार, नई दिल्ली।
2. भाभ्भरी, सी0पी0 पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया।
3. राय, राजेन्द्र चंद्रकांत, गैर-सरकारी संगठन (2010) नई दिल्ली।
4. जैन, पुखराज (2010), लोक प्रशासन, एम0बी0पी0डी0 प्रकाशन, आगरा।

17.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण के दौर में नीति-निष्पादन में गैर-सरकारी एजेसियों की कार्य प्रणाली की विवेचना कीजिए।
2. नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में गैर-सरकारी एजेंसियों के महत्व पर प्रकाश डालिए।
3. भारत में गैर-सरकारी संगठनों की नीतियों के क्रियान्वयन में भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

इकाई- 18 नीति-निष्पादन की समस्याऐं

इकाई की संरचना

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 नीति-निष्पादन की प्रमुख चुनौतियां
18.3 नीति-निष्पादन में आने वाले अवरोध
18.3.1 जटिल कानूनी शब्दावली
18.3.2 नीति का स्पष्ट न होना और दूरदर्शिता का अभाव
18.3.3 वृहद लक्ष्य और अल्पावधि
18.3.4 योजनाओं के लिए आम जनता के समर्थन का अभाव
18.3.5 वित्तीय बाधाएँ और समुचित स्टाफ का अभाव
18.3.6 राजनीजिक दबाव
18.4 नीति-निष्पादन में सहयोगी संगठनों की भूमिका
18.4.1 वित्तीय और बुनयादी संरचना की समस्याएँ
18.4.2 सहयोगी भावना का अभाव
18.4.3 समय का अभाव
18.4.4 लक्ष्यों से कार्य में निष्क्रियता
18.5 जनता का नकारात्मक दृष्टिकोण
18.6 भ्रष्टाचार एंव अन्य कारण
18.7 राजनीतिक दबाव
18.8 सारांश
18.9 शब्दावली
18.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
18.11 संदर्भ ग्रन्थ-सूची
18.12 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
18.13 निबंधात्मक प्रश्न

18.0 प्रस्तावना

कहा जाता है कि लोक नीतियां वो नीतियां होती हैं, जिनकी कार्यप्रणाली व प्रकृति सार्वजनिक होती है। जैसा कि हम जानते हैं ये एक राजनीतिक प्रक्रिया द्वारा बनायी व संचालित की जाती है। यहाँ पर राजनीतिक प्रक्रिया का आशय सत्ता प्राप्त राजनीतिक दल से है। लोक नीतियां समाज को बेहतर व सार्वजनिक लक्ष्यों को पूर्ण करने के लिये बनायी जाती है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि लोक नीतियां कुछ विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति से सम्बन्धित निर्णय लेती है। इन लोक नीतियों का तब कोई अर्थ नहीं रह जाता है जब ये सार्वजनिक लक्ष्यों को प्राप्त करने से भटक जाती हैं या अति बिलम्ब के साथ उन लक्ष्यों को पूरा करती हैं। एक निश्चित

समयावधि में लक्ष्यों को पूरा न कर पाने पर लोकनीति का सार्वजनिक उत्थान का ध्येय पूर्ण नहीं हो पाता। सरकार विभागों के लम्बित कार्यों व धीमी गति की कार्य प्रणाली को देखते हुए नीति-निष्पादन हेतु गैर-सरकारी संगठनों का भी प्रयोग करती हैं। इस कार्य में गैर-सरकारी संगठन, स्वैछिक संगठन और दबाव समूह सरकार के साथ मिलकर सरकार के नीति-निष्पादन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ऐसा माना जाता है कि नीति-निष्पादन की पद्धति प्रभावी एवं पर्याप्त नहीं हैं। इसका प्रमुख कारण यह भी है कि नीति निष्पादकों के समक्ष विभिन्न स्तरों पर बहुत सी चुनौतियां तथा समस्याऐं हैं।

18.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- समझ पायेंगे कि नीति-निष्पादन में आने वाली प्रमुख समस्याएँ क्या हैं।
- नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में प्रमुख अवरोध कौन से हैं, उनसे कैसे निपटा जा सकता है, जिससे कि लोकनीति की प्रक्रिया को त्वरित व प्रभावकारी बनाया जा सके, इस संबंध में जान पायेंगे।
- यह समझने का प्रयास करेंगे कि नीति-निष्पादन के कार्य को कैसे सरलता से किया जा सकता है।
- सरकारी कार्यों में नीति-निष्पादन की प्रक्रिया को भ्रष्टाचार कैसे प्रभावित करता है, इस संबंध में जान पायेंगे।

18.2 नीति-निष्पादन की प्रमुख चुनौतियां

प्रत्येक नीति निष्पादक के समक्ष प्रत्येक स्तर पर चुनौतियां व समस्याऐं हैं। नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में इन चुनौतियों व समस्याओं का समाधान कैसे किया जाये इस पर सरकार व उसके विभाग एवं सरकार को सहयोग देने वाली संस्थाएं मिल कर कार्य करती हैं और नीतियों को उनके लक्ष्यों तक पहुँचाने का प्रयास करती हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि भारत में अधिकतर निष्पादन के कार्य स्थाई कार्यपालिका करती है। सरकारी तंत्र के शीर्ष अधिकारी व प्रशासक या लोक सेवक इन कार्यों को करने के लिये पर्याप्त ज्ञान व कुशलता रखते हैं। सभी प्रशासक व नौकरशाह अनुभवी व विलक्षण बुद्धि का प्रयोग कर सरकार द्वारा बनायी गयी नीतियों के निष्पादन हेतु सकुशल क्रियान्वयन करने का प्रयास करते हैं, जिससे की नीतियां उन लक्ष्यों तक पहुँच सके जिन लक्ष्यों को केन्द्र में रख कर उन्हें बनाया गया है। भारत में विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था व बड़े स्तर पर नौकरशाहों के होने के बाद भी नीति-निष्पादन की प्रक्रिया दोषपूर्ण है, जिसके चलते नीतियों के निष्पादन में बिलम्ब होता है। भारत के सन्दर्भ में यदि नीति-निष्पादन के विलम्ब के कारणों को देखा जाये तो यह प्रश्न उभरता है कि यदि नौकरशाही या प्रशासक कुशल व बुद्धिमान है, साथ ही उनके पास अनुभव है तो हमें नीति-निष्पादन में दोष व लम्बी समयावधि का सामना क्यों करना पड़ता है। इसके लिये हम स्थाई कार्यपालिका को दोषी

मानकर मुक्त नहीं हो सकते हैं बल्कि हमें उन समस्याओं की खोज कर उनका समाधान करना होगा, ताकि हम नीति-निष्पादन की प्रक्रिया को प्रभावी व निश्चित समयावधि में पूर्ण कर लें।

18.3 नीति-निष्पादन में आने वाले अवरोध

नीति-निष्पादन की प्रक्रिया को समुचित लक्ष्यों तक पहुँचाने के लिये सरकारी संस्थानों में कई चरणों से गुजरना पड़ता है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में प्रायः हम यह देखते हैं कि विधायिका द्वारा नीति प्रस्ताव पारित होने के बाद केन्द्रीय स्तर पर नीतियों का संवैधानिक अध्यक्ष राष्ट्रपति व राज्यों के स्तर पर बनने वाली नीतियों का अध्यक्ष राज्यपाल होता है। इनकी सहमति के बाद ही किसी नीति का निष्पादन किया जाना तय होता है। जिसे नीति विवरण के नाम से जाना जाता है। इस विवरण में नीति के उद्देश्यों व लक्ष्यों को स्पष्ट किया जाता है, तथा उन लक्ष्यों व उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये कार्य राष्ट्रपति व राज्यों में राज्यपाल की सर्वसम्मति से प्रारम्भ किया जाता है। प्रायः यह देखते हैं कि नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में कई अवरोध देखने में आते हैं। जिनको निम्न रूप से देख सकते हैं-

18.3.1 जटिल कानूनी शब्दावली

किसी भी सरकारी कार्य को जो कि जन हित में सरकार करना चाहती है, वह सरलता व सहज भाषा में होनी चाहिये ताकि वह व्यक्ति जो उसका लाभ लेना चाहता है वह भी यह जान पाये कि उसे सरकार क्या व किस तरह का लाभ दे रही है। सरकारी कामकाज की भाषा इतनी जटिल होती है कि उसे आम व्यक्ति नहीं समझ सकता है। नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में जटिल कानूनी भाषा भी अवरोध का कारण बन जाती है। सरकारी भाषा जानने के लिये कानून के जानकार व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है। ऐसा भी देखा जाता है कि नीति विवरण या सराकारी कार्य की भाषा स्पष्ट शब्दों में नहीं लिखी होती है, जिस कारण सरकारी प्रशासन के उच्चाधिकारियों द्वारा इसे जारी कर सम्बन्धित संस्थाओं या सहयोगी संगठनों को दे दिया जाता है जो इन कार्यों के निष्पादन के लिये प्रशासन पर निर्भर रहती हैं।

18.3.2 नीति का स्पष्ट न होना और दूरदृष्टिता का अभाव

नीति-निष्पादन में दूसरा सबसे बड़ा अवरोध नीति का स्पष्ट न होना व कार्मिकों या सहायकों में दूरदृष्टिता का अभाव है। कई बार ऐसा भी देखने में आया है कि सरकारी नीति जो सार्वजनिक हित के लिये बनायी गयी है वो स्पष्ट व्याख्या नहीं करती है, जिस कारण सहायक सेवक भी उस नीति को समझने में अक्षम हो जाते हैं। नीति-निर्धारक की नीतियों के निर्माण के समय, स्पष्ट दूरदृष्टि व दीर्घकालीन नियोजन की स्थितियां पारदर्शी होनी चाहिये। अत्यधिक नीतियां व उनका विरोध नीति-निष्पादन की प्रक्रिया के लिये घातक सिद्ध हो सकती है। दूसरी तरफ कई-कई बार ऐसा भी देखा जाता है कि सरकारी भाषा को सहायक कर्मी अपने तरीके से समझने व गलत व्याख्या करके उसका समुचित लाभ लाभार्थी को नहीं दिला पाते हैं जो उनकी दूरदृष्टिता के अभाव को दर्शाती है।

18.3.3 वृहद लक्ष्य व अल्पावधि

सरकार का प्रमुख अंग होता है- कार्यपालिका, जिसका प्रमुख कार्य होता है सरकारी योजनाओं को क्रियान्वित करना। सरकार जब अपनी योजनाओं को बनाती है तो वह इन योजनाओं को आमजन तक पहुँचाने के लिये कार्यपालिका तंत्र का प्रयोग करती है। कभी-कभी हम ये भी देखते हैं कि सरकार अपने वृहद लक्ष्यों को लेकर योजना का निर्माण तो करती है, लेकिन उसकी कार्य को करने की समयावधि कम रखती है जिससे वह कार्य या तो पूर्ण नहीं हो पाता या अपने लक्ष्य को प्राप्त करने से वंचित रह जाता है, जिससे आम जनता को लाभ का हक नहीं मिल पाता है। दूसरी तरफ यह भी देखा गया है कि वृहद लक्ष्य वाली योजनाएं निश्चित समयावधि में पूर्ण नहीं हो पाती और सरकारें बदल जाती हैं, जिससे लाभान्वित योजनाऐं लक्ष्य विहीन हो कर धीरे-धीरे खत्म हो जाती है।

18.3.4 योजनाओं के लिए आम जनता के समर्थन का अभाव

सरकारें जो योजनाएं जन-कल्याण के लिये बनाती हैं उन योजनाओं को आमजन का समर्थन नहीं मिल पाता है, जिस कारण ऐसी योजनाऐं ठन्डे बस्ते में चली जाती हैं। योजनाओं को या सरकारी आदेशों को समर्थन न मिल पाने के कारण भी नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में बांधा आती है।

18.3.5 वित्तीय बाधाएं व समुचित स्टाफ का अभाव

नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में सबसे बड़ी चुनौती के रूप में वित्तीय बाधाओं व समुचित स्टाफ का ना होना भी है। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि सरकारी कार्यों में वित्तीय संकटों के कारण कई योजनाऐं या तो प्रारम्भ नहीं हो पाते हैं या फिर समुचित व तकनीकी व जानकार स्टाफ के न होने के कारण वो कार्य धरे के धरे रह जाते हैं और जो लक्ष्य सरकार ने रखें हैं उन लक्ष्यों तक यह योजनाऐं नहीं पहुँच पाती हैं। नीतियों के निष्पादन की प्रक्रिया स्टाफ के पर्याप्त होने के कारण भी सकुशल सम्पन्न नहीं हो पाती हैं। शासन को पार्याप्त तथा पारदर्शी बनाने के लिये और नीति निष्पादक बिना किसी आरोपों के कार्य कर सके इसके लिये कई सहयोगी संगठनों को बनाया गया है जो शासन की कार्य प्रणाली में सहयोग कर नीति-निष्पादन की प्रक्रिया को सुगम बना सकें।

18.3.6 राजनीतिक दबाव

कई बार सरकार ऐसी योजनाओं व कार्यों में पहल करती है जो सभी के लाभ व हित के लिये होती है। परन्तु इन कार्यों में राजनीतिक व्यक्तियों का प्रभाव पड़ने लगता है जिससे सरकारी कार्य-योजनाऐं प्रभावित होने लगती हैं। राजनीतिक दबाव के कारण सरकारी अधिकारी व कर्मचारी भी प्रभावित होते हैं, जिसके चलते वह अपने कार्यों को पूर्ण मनोयोग के साथ नहीं कर पाते हैं। दूसरी ओर अत्यधिक राजनीतिक दबाव के कारण सरकारी कार्यों को मिलने वाला राजनीतिक सहयोग भी पूर्ण रूप से नहीं मिल पाता, जिस कारण योजनाऐं या सरकारी कार्य अपने लक्ष्य तक पहुँचने में वंचित हो जाते हैं। सारांशतः हम यह कह सकते हैं कि राजनीतिक दबाव नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में सबसे बड़ी बांधा है।

18.4 नीति-निष्पादन में सहयोगी संगठनों की भूमिका

जैसा कि हम जान चुके हैं कि नीति-निष्पादन स्थाई कार्यपालिका का कार्य होता है। किसी भी सरकारी कार्य को क्रियान्वित करने के लिये जो नीति बनायी जाती है, उसको संचालित करने के लिये सहयोगी संगठनों की भी आवश्यकता होती है। ऐसा भी कभी-कभी देखा जाता है कि नीति-निष्पादन प्रक्रिया सहयोगी संगठनों के ठीले रवैये या आपसी तालमेल न होने के कारण भी प्रभावित होती है, ऐसी स्थिति में निष्पादकों पर उत्तरदायित्वों का अतिरिक्त बोझ पड़ जाता है। निष्पादक को नीतियों के निष्पादन में सहायक सेवाओं की कमी होने के कारण असंख्य समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। निष्पादन की प्रक्रिया में सहयोगी स्तर पर आने वाली समस्याओं को हम निम्न स्तर पर अध्ययन कर सकते हैं।

18.4.1 वित्तीय और बुनियादी संरचना की समस्याऐं

सामान्यतः हम यह देखते हैं कि निष्पादक नीति के क्रियान्वयन के लिये योजना तैयार करता है। किसी योजना को तैयार करने के लिये भी हमें योजना के क्रियान्वयन से पूर्व भी वित्त की आवश्यकता होती है। कई बार सार्वजनिक क्षेत्र में ऐसा भी देखा जाता है कि बजट समय से न मिल पाने के कारण योजना के निमार्ण व निष्पादन की क्रिया इतनी मंद हो जाती है, जिससे कि योजना जिसको लेकर बनायी जाती है उसमें निष्क्रियता आ जाती है या वो योजना उतनी प्रासंगिक नहीं रह पाती जितनी की वो विचार करते समय थी। दूसरा बड़ा कारण यह भी है कि नियोजन के निष्पादन स्तर पर पहुँचने के लिये वित्तीय तथा उचित संसाधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। वित्त ही किसी नियोजन को निष्पादन करने के लिये आवश्यक व बुनियादी संसाधन उपलब्ध करवाता है। जैसा कि हम जानते हैं कि प्रत्येक नये कार्यक्रम को पूर्ण करने के लिये धन की आवश्यकता होती है, जिसके लिये नीति निर्माणकर्ता नीति लक्ष्यों को क्रियान्वित करने के लिये धन के उपबन्धों का निमार्ण करता है। लेकिन धन के लिये बनाया गया साधारण उपबन्ध पर्याप्त नहीं होता, क्योंकि स्वीकृत धनराशि निष्पादक ऐजेंसी तक समय पर नहीं पहुँच पाती है।

18.4.2 सहयोगी भावना का अभाव

हम इस बात पर पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि नीतियों का निष्पादन सामान्यतः निचले स्तर से ही होता है। जो ऐजेन्सी कार्ययोजना में सहयोग करती है वह मुख्य रूप से मार्गदर्शन हेतु कार्यपालिका पर ही निर्भर रहती है। कार्यदायी एजेन्सियों के मुख्य कार्यपालिका के निर्देशन में कार्य करने के कारण, निचले स्तर पर जहाँ कार्य योजना का क्रियान्वयन होना है, उनके साथ सहयोगी व सहज नहीं हो पाती है क्योंकि उन्हें सारे कार्य उपर के आदेशों के आधार पर करने होते हैं। यहां यह कह सकते हैं कि निचले स्तर पर कार्य करने के लिये उन्हें पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं बनाया गया है। दूसरी तरफ मुख्य कार्यपालिका का कार्यालय स्टाफ क्षेत्रीय कार्यालयों द्वारा मांगी गयी जानकारी को तुरंत नहीं देता हैं।

18.4.3 समय का अभाव

जो भी नीति बनयी जाती है, उसका पूर्ण लाभ लेने के लिये निश्चित समयावधि होना भी लाभकर नहीं होता है। कई बार नीति का निर्धारण त्वरित गति से कर दिया जाता है, लेकिन

उसका लाभ सार्वजनिक जन-जीवन पर धीरे-धीरे पड़ता है और उस नीति का सही परिणाम हम दीर्घकाल में ही अध्ययन कर पाते हैं। लेकिन कई बार हमारे निष्पादकों के उपर इतना दबाव होता है कि वो नीति निर्माण की प्रक्रिया को इतनी त्वरित गति से करते हैं कि योजना का मूल तत्व या तो छूट जाता है या उस पर विचार ही नहीं हो पाता है।

18.4.4 बड़े लक्ष्यों से कार्य में निष्क्रियता

हम यह जानते हैं कि किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में सबसे बड़ी शक्ति जनता के पास होती है और हमारे नीति-निर्माता जनता को लुभाने के लिये आये दिन नई-नई घोषणाऐं करते रहते हैं, क्योंकि वो जनता द्वारा चुने जाते हैं और जनता के प्रतिनिधि होते हैं। जनता को दिखाने के लिये कि उन्होंने क्या किया, ताकि उनकी व उनके दल की छवि जनता के बीच में अच्छी बन सके इसके लिये वो नई-नई नीतियों के साथ जनता तक अपना अत्यधिक काम पहुँचाना चाहते हैं। इसके लिये वो बड़ी-बड़ी योजनाओं की घोषणा करते हैं जिससे निष्पादकों के उपर अत्यधिक कार्यभार व बड़े लक्ष्यों का दबाव आ जाता है, जिसके कारण वो एक कार्य को पूर्ण मनोवेग के साथ नहीं कर पाते हैं और उनके कार्य में निष्क्रियता आ जाती है। साथ ही कार्य की गुणवत्ता में भी इसका प्रभाव पड़ता है।

18.5 जनता का नकारात्मक दृष्टिकोण

कभी-कभी ऐसा भी देखने में आया है कि सरकार द्वारा बनायी गयी समस्त नीतियां जनता या लाभार्थी द्वारा पूर्ण रूप से नहीं स्वीकारी जाती हैं। यदि जनता द्वारा नीतियों के लिये आवश्यक आज्ञाकारी सम्मान दर्शाया जाता है तो ये माना जाता है कि सरकार की आधी से अधिक समस्याऐं समाप्त हो जाती हैं। जब कोई योजना बनायी जाती है तो नीति-निर्माता जनता को केन्द्र में रख कर कार्य करता है, लेकिन कई बार ऐसी परिस्थितियां आ जाती हैं कि जनता योजनाओं को अपने लिये लाभकारी न मान कर, बिना मूल्यांकन करे खारिज कर देती हैं, जिससे निष्पादकों के सामने एक बड़ी समस्या ऐसी योजनाओं के क्रियान्वयन को लेकर आ जाती है। हम जानते हैं कि एक लोकतांत्रिक प्रणाली में सरकार न केवल लोगों के द्वारा निर्मित होती है बल्कि लोगों के लिये भी होती है। इसलिये नीति-निर्माता प्रयास करता है कि जिस जनता के बीच से वो चुन कर आया है उस जनता को वो किसी भी प्रकार से नाराज न करे। ऐसी स्थिति में नीति निष्पादकों के उपर नीति निर्माताओं द्वारा एक दायित्व ये आ जाता है कि वो नीतियों को ऐसे संचालित करें जिससे नागरिकों को लाभ भी हो और उन्हें न्याय एवं समय-समय पर जो भी उनका देय होता है वो भी मिलता रहे। जब नीति निष्पादक जनता के सीधे संपर्क में आ जाते हैं तब जनता नीति निष्पादकों पर अधिक निर्भर हो जाती है, क्योंकि जन प्रतिनिधि जनता के बीच जिन योजनाओं को घोषित करते हैं, नीति निष्पादक उन योजनाओं को क्रियान्वित करते हैं। ऐसी स्थिति में नीति निष्पादक ये प्रयास करता है कि जनता में उनके कार्यों को लेकर नकारात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न न हो जाये।

18.6 भ्रष्टाचार एवं अन्य कारण

आज के युग में नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में भ्रष्टाचार भी एक बड़ी समस्या के रूप में हमें देखने को मिलता है। नीति-निष्पादन की क्रिया में वित्तीय हित नीति निष्पादकों को भ्रष्टाचार की ओर ले जाने के लिये प्रेरित करते हैं। कई ऐसे अधिकारी जो वित्तीय लोभ में आकर भ्रष्टाचार करते हैं, जिससे नीति-निष्पादन की प्रक्रिया प्रभावित होती है। सरकारी तंत्र में हमें ऐसे अधिकारियों का उदाहरण अक्सर सुनने और देखने को मिल जाते हैं। निहित हित निष्पादक को ही नहीं वरन निष्पादन के कार्यों को भी प्रभावित करते हैं। निहित हित अधिकारियों को भ्रष्ट बनाते हैं। कई बार ऐसा देखा जाता है कि जिसके पास असीमित शक्ति, अनेकानेक स्रोत व संसाधन होते हैं, ऐसे निष्पादकों में लालफीताशाही की प्रवृति पनपने के पर्याप्त अवसर होते हैं, जिसके फलस्वरूप कई अधिकारी भ्रष्टाचार की चपेट में आ जाते हैं। दूसरी तरफ इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि सकारी संगठनों में कार्मिकों के मनोबल को बढ़ाने के लिये आर्थिक प्रयास नहीं किये जाते हैं। कार्मिकों से भरपूर कार्य की आशा तो की जाती है, लेकिन आर्थिक लाभ को लेकर सरकार उदासीन रहती है। जिससे कार्यप्रणाली में भ्रष्टाचार आसानी से घर कर जाता है। ऐसे कार्मिकों का मनोबल गिर जाता है और मनोबल की कमी के कारण नीतियों के निष्पादन में व कार्य सम्पादन में वो अपनी पूर्ण गुणवत्ता नहीं देते, जिससे कार्य जिस स्तर का होना चाहिये उस स्तर का नहीं हो पाता है। इसे भी हम एक प्रकार का भ्रष्टाचार ही कह सकते हैं। हम जानते हैं कि सरकारी तंत्र में अधीनस्थ अधिकारी वरिष्ठ अधिकारी के प्रति कार्य के प्रति जबावदेह होते हैं। वरिष्ठ अधिकारी उन्हें नीति-निष्पादन का कार्य सौंपता है, लेकिन समन्वय की कमी के कारण कार्ययोजना सफल नहीं हो पाती और कई बार ऐसा भी देखा गया है कि अधीनस्थ व वरिष्ठ अधिकारी के बीच समन्वय अच्छा होता है, लेकिन वरिष्ठ या अधिनस्थ अधिकारी के कार्य के बीच में स्थानान्तरण हो जाने के कारण कार्ययोजना प्रभावित हो जाती है।

18.7 राजनीतिक दबाव

निष्पादकों को राजनीतिक नेताओं, सत्ताधारियों व विपक्ष के लोगों के नेताओं के बीच रह कर तालमेल के साथ काम करना पड़ता है। कई बार राजनीतिक दलों के नेता कार्य प्रणाली में अपना सीधा दखल रखते हैं, जिससे नीति निष्पादकों को राजनीतिक दबाव को सहना पड़ता है। सत्ताधारी राजनीतिज्ञ कार्ययोजना को अपने मस्तिष्क व कल्पना के अनुसार चलाना चाहते हैं। वो यह जानते हैं कि इस कार्य के नीति निर्माता वो खुद या उनके समर्थन की सत्ताधारी राजनीतिक दल है, इसलिये वो इस कार्य को अपना अधिकार समझते हैं। सरकार के कार्यों के बीच सीधे दखल करने में वो जनता के बीच में अपनी वाहवाही लूटना चाहते हैं और जनता को अधिक से अधिक लाभ देने का दावा करना अपना दायित्व समझते हैं। जब राजनीतिक नेता सरकार के कार्यों को करने वाली ऐजेन्सियों पर अपना दबाव बनाते हैं तो कार्य प्रभावित होता है और कार्य में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। कार्य की गति देखना उसकी गुणवत्ता की

जाँच करना उचित है। लेकिन कार्य को करने में राजनीतिक व्यवधान डालना उचित नहीं होता है, जिससे नीति-निष्पादन की प्रक्रिया बांधित होती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में अधिकतर नीति-निष्पादन का कार्य कौन करता है?
2. नीति-निष्पादन में आने वाले अवरोध क्या हैं?
3. लोकतांत्रिक व्यवस्था में सबसे बड़ी शक्ति किसके पास होती है?

18.8 सारांश

इस इकाई में हमने नीति-निष्पादन की समस्याओं को गहता से चिन्तन किया। हमने इस इकाई के माध्यम से समझा कि नीति-निष्पादन को किस तरह के व्यवधानों से होकर अपना कार्य सकुशला के साथ जनता के हित में करना होता है। एक तरफ जहाँ सरकारें नई नीतियां बनाती हैं, ठीक दूसरी तरफ सरकारी, गैर-सरकारी व राजनीतिक समस्याएं नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में बांधक हो जाती हैं। वो कौन सी बाधाऐं हैं और किस प्रकार नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में अपना प्रभाव डालती हैं, इन सबका अध्ययन हमने इस अध्याय में किया।

18.9 शब्दावली

पूर्ण मनोवेग- पूरे मन से किसी कार्य को करना, निहित हित- स्वयं के हित, अनेकानेक- एक से अधिक या अनेक, वृहद- बड़ा, अल्पावधि- कम समय, निष्क्रियता- सक्रिय न होना या सजग न होना, अवरोध- रूकावट, क्लिष्ट- कठिन

18.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. स्थाई कार्यपालिका, **2.** जटिल कानूनी शब्दावली, नीति का स्पष्ट न होना और दूरदर्शिता का अभाव, **3.** जनता के पास

18.11 संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. भारत की राजव्यस्था- एम0 लक्ष्मीकांत, मैग्रोहिल प्रकाशन।
2. लोक प्रशासन- डॉ0 बी0 एल0 फड़िया, साहित्य भवन प्रकाशन।
3. लोक सम्पर्क- हरियाणा साहित्य अकादमी।
4. साभार- लोक नीतिः इन्दिरा गॉधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

18.12 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. भारत की राजव्यस्था- एम0 लक्ष्मीकांत - मैग्रोहिल प्रकाशन।
2. लोक प्रशासन – डॉ0 बी0एल0 फड़िया - साहित्य भवन प्रकाशन।

18.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. नीति-निष्पादन की प्रक्रिया में बांधा डालने वाले कारणों की विस्तृत चर्चा करें।
2. नीति-निष्पादन की प्रमुख चुनौतियां क्या हैं?
3. जनता का नकारात्मक दृष्टिकोण क्या है?

इकाई- 19 भूमि सुधार

इकाई की संरचना

19.0 प्रस्तावना
19.1 उद्देश्य
19.2 भूमि सुधार
19.2.1 भूमि सुधार का अर्थ
19.2.2 स्वतन्त्रता के पूर्व भारत में भूमि व्यवस्था
19.2.3 स्वतन्त्रता के बाद भारत में भूमि सुधार
19.2.4 भूमि सुधार नीति
19.2.5 भारत में भूमि सुधार की आवश्यकता व महत्व
19.3 भूमि सुधार की समस्याऐं
19.4 भारत में भूमि सुधार की कमियाँ
19.5 भारत में भूमि सुधार को पूर्ण लागू करने के लिए सुझाव
19.6 भूमि सुधार कार्यक्रमों का मूल्यांकन
19.7 सारांश
19.8 शब्दावली
19.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
19.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
19.11 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
19.12 निबंधात्मक प्रश्न

19.1 प्रस्तावना

भारत में नीतिगत स्तर पर भूमि सुधार से संबंधित कई कानून बनाए गये हैं। हाल ही में संसद में 'भूमि अधिग्रहण, पुनर्वास एवं पुनर्स्थापना में उचित क्षतिपूर्ति एवं पारदर्शिता का अधिकार अधिनियम 2013' पारित हुआ है। उस कानून से भूमि अधिग्रहण के मुआवजे में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। जिस व्यक्ति की जमीन ली जानी है, उसकी सहमति, पुनर्वास और उसको राहत देना, किसी भी प्रकार के अधिग्रहण का अनिवार्य एवं अभिन्न अंग बना दिया गया है। प्रभावित व्यक्तियों की आजीविका के संरक्षण के लिए कानून में अनेक सुरक्षा के उपाय किये गए हैं, जिसमें जमीन के बदले जमीन, अधिग्रहीत भूमि के विक्रय से होने वाले लाभ में हिस्सेदारी और अन्य प्रकार के प्रक्रियात्मक सुरक्षा के उपाय शामिल है। अन्ततः यही कहा जा सकता है कि मानव समाज को प्रकृति के साथ अपने संबंधो को बड़ी विनम्रता और सहजता से आकार देना होगा। ये संबंध उसी समझ पर आधारित होंगे कि किसी राष्ट्र की समृद्धि तभी स्थाई रुप ले सकती है जब आर्थिक सोपान के अन्तिम पायदान पर खड़ा व्यक्ति भी उसमे योगदान करने में प्रसन्नता का अनुभव करे।

भारत में भूमि सुधार को समझने के लिए यह जरूरी है कि भूमि सुधार का अर्थ क्या है, भूमि सुधार का तात्पर्य क्या है? इसको समझना जरूरी है। किसी भी देश के विकास के लिए यह आवश्यक है कि प्राकृतिक संसाधनों तथा कृषि योग्य भूमि पर राज्य के सभी नागरिकों का अधिकार प्राप्त हो। भारत में स्वतन्त्रता के उपरान्त देश के सर्वांगीण विकास एवं देश के पुनर्निर्माण के दृष्टिकोण से भूमि-सुधार को राष्ट्रीय विकास योजना के साथ संबद्ध करने की योजना को जोड़ा गया।

19.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भूमि सुधार क्या है, इस संबंध में जान पायेंगे।
- स्वतंत्रता से पहले भारत में भूमि सुधार व स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधार की क्या स्थिति थी, इस संबंध में जान पायेंगे।
- भारत में भूमि सुधार की आवश्यकता और महत्व के संबंध में जान पायेंगे।
- भारत में भूमि सुधार की समस्याऐं और कमियों के संबंध में जान पायेंगे।

19.2 भूमि सुधार

विकासशील देशों में भूमि सुधार देश में गरीबों की पहुँच में सुधार लाने के उद्देश्य से किया जाता है। भारत में भूमि सुधार गरीबी में कटौती करने के लिये किया गया। देश में भूमिजोत की असमानता कम करने और किसी भी व्यक्ति के पास ज्यादा भूमि न रहे और कोई भी व्यक्ति भूमि से वंचित न रहे इसीलिये भूमि सुधार अपनाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह निर्धारित होगा कि वह एक निश्चित मात्रा में ही भूमि अपने पास रख सकेगा। भूमि सुधार का सबसे ज्यादा फायदा गरीब, भूमिहीनों को प्राप्त होता है क्योंकि थोड़ी सी जमीन मिलने पर भी उनका जीवनयापन चल जाता है उनके अन्दर आत्मसम्मान एवं आत्म-विश्वास आता है।

19.2.1 भूमि सुधार का अर्थ

भूमि सुधार (Land Reforms) का अर्थ दो प्रकार से लगाया जाता है पहला- ''भूमि सुधार से अर्थ छोटे कृषकों एवं कृषि श्रमिकों के लाभ के लिए भूमि स्वामित्व के पुनः वितरण से है।'' लेकिन विस्तृत अर्थ में ''भूमि सुधार, किसी संगठन या भूमि व्यवस्था; (Land tenures) की संस्थागत व्यवस्था में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन से है।'' इस प्रकार भूमि सुधार में वे समस्त कार्य शामिल कर लिये जाते हैं जिनका संबंध भूमि स्वामित्व (Land ownership) एवं भूमि जोत (Land Holding) दोनों में होने वाले सुधारों से है। इसमें लगान कानून, उचित लगान निर्धारण, मध्यस्थों का उन्मूलन, जोतों की सुरक्षा, अधिकतम व न्यूनतम भूमि सीमा निर्धारण, सहकारी खेती, चकबन्दी आदि सभी शामिल है।

एक समतावादी समाज की स्थापना करना और सामाजिक असमानता को खत्म करने के लिए तीन मुख्य व्यवस्थाओं-जमींदारी, महलवाड़ी तथा रैयतवाड़ी में भूमि अधिकार संबंधी सुधारों

के पूर्व काश्तकारों के दो वर्ग थे- स्थायी काश्तकार तथा अस्थायी काश्तकार। 19वीं तथा 20वीं शताब्दी के बनाये हुए कानूनों ने जमींदारी क्षेत्रों के अन्तर्गत स्थायी काश्तकारों के लगान संबंधी नियमों को वैसा ही मान लिया ताकि काश्तकार तथा भूस्वामियों के संबंध बिगड़ने न पाए। काश्तकारों के दूसरे वर्ग(अस्थायी काश्तकार) की रक्षा किसी कानून द्वारा नहीं की गई। उसका भूमि के ऊपर कोई स्थाई अधिकार नहीं था। स्वतन्त्रता के बाद बहुत से राज्यों ने अस्थाई काश्तकारों की सुरक्षा के लिये कुछ कानून पास किये और वे भी कुछ परिस्थितियों में स्वामित्व के अधिकार पाने के अधिकारी हैं। भूमि अधिकार पास होने के पूर्व साधारण रूप से 3 प्रकार के स्थाई काश्तकार थे, पहला- ऐसे मध्यमवर्गीय काश्तकार जो अपनी पारिवारिक भूमि रखते थे। किन्तु उसे स्वयं न जोतकर अस्थायी काश्तकारों को दिया करते थे। दूसरा- स्थाई काश्तकारों से भूमि लेने वाले काश्तकार, जिन्होंने अब जमींदारी उन्मूलन कानून के अन्तर्गत पूरे अधिकार प्राप्त कर लेते हैं।, तीसरा- रैयतवाड़ी क्षेत्रों के काश्तकार जो जमीन को किराये पर जोता करते थे। इन क्षेत्रों में साधारण रूप से भू-स्वामी जमीन स्वयं नहीं जोतते थे, अपितु उसे किराये पर काश्तकारों को दे देते थे।

विभिन्न राज्यों में भूमि अधिकारों की सुरक्षा के नियम विभिन्न प्रकार के हैं और उनमें व्यापक अन्तर है। इस दृष्टि से राज्यों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है-

पहला- वे राज्य, जहाँ भूमि अधिकारों की पूरी सुरक्षा है, इन राज्यों में उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली सम्मिलित हैं।

दूसरा- वे राज्य जहाँ भूमि अधिकारों की सीमित सुरक्षा है और भू-स्वामियों के व्यक्तिगत सीमित क्षेत्र बेदखल किये जा सकते हैं। यह व्यवस्था मुम्बई, पंजाब, राजस्थान, हैदराबाद, हिमाचल प्रदेश, असम, मध्य प्रदेश, उड़ीसा में हे। इनमें से कुछ राज्यों में काश्तकारों के लिए कम से कम एक निश्चित क्षेत्र छोड़ दिया गया है। पंजाब में यह कम से कम 5 एकड़ और हैदराबाद में यह न्यूनतम सीमा लाभकारी भूमि वाली मानी गई और इसी तरह अन्य राज्यों में भी है।

तीसरा- वे राज्य जहां बेदखली का अधिकार स्थायी रूप से अभी भी चल रहा है या जहाँ सुरक्षा के लिए कार्य करना बाकी है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कहा गया कि 'यह (भूमिसुधार) राष्ट्रीय महत्व का एक मौलिक मुद्दा है।' पूर्व प्रधानमंत्री इंदिरा गॉधी ने कहा कि ''भूमि सुधार जो हमारे राजनीतिक व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण परीक्षा है जीवित रहने के लिए जरुरी है।'' भूमि सुधार इसलिए कृषि के महत्वपूर्ण पहलुओं में एक बन गया। भारत में भूमि सुधार उपायों के महत्वपूर्ण उद्देश्य थे।

19.2.2 स्वतंत्रता के पूर्व भारत में भूमि व्यवस्था

स्वतंत्रता के समय सन् 1947 में भारत में विभिन्न प्रकार की भूमि व्यवस्था पायी जाती थी, जिनको तीन प्रमुख व्यवस्थाओं में बाँटा जा सकता है- **1.** रैयतवारी, **2.** महलवारी **3.** जमीनदारी। ऐसा अनुमान है कि कुल कृषि क्षेत्र का 52प्रतिशत भाग रैयतवारी में, 40 प्रतिशत भाग जमीनदारी में व शेष महलवारी व अन्य में था।

1. रैयतवारी व्यवस्था- इस प्रणाली में भूमि पर स्वामित्व राज्य का होता था। जब तक वह भूमि पर राज्य को नियमित रूप से कर(Tax) देता रहता था उसे बेदखल नहीं किया जा सकता था। उसको भूमि को काम में लेने, उसे बेचने या हस्तांतरित करने या किसी अन्य प्रकार से उपयोग में लाने का अधिकार होता था। भूमि पर मालगुजारी का निर्धारण राज्य द्वारा 20-30 वर्ष के पश्चात भूमि की उर्वरा शक्ति तथा आज के अनुसार तय किया जाता था।

2. महलवारी व्यवस्था- इस प्रणाली में सरकार द्वारा पूरे वर्ष के लिए एक रकम मालगुजारी के रुप में तय कर दी जाती थी जिसको देने का उत्तरादायित्व गाँवों के सभी भूमि वाले स्वामियों का होता था जिन्हें 'सहभागी' कहते थे और लाभ की भूमि को 'महाल' करते थे। जो भूमि गाँवों में खाली होती थी उस पर ग्राम-समाज का अधिकार होता था। गाँव का लम्बरदार मालगुजारी एकत्र करता था जिसके लिए उसे कमीशन मिलता था। सहभागी को भूमि अपने इच्छानुसार अपने प्रयोग में लाने का अधिकार होता था। उसकी भूमि उसके परिवार की निजी सम्पत्ति मानी जाती थी। यदि कोई सहभागी उस भूमि को छोड़ देता था तो उस पर ग्राम-समाज का अधिकार माना जाता था।

3. जमीनदारी व्यवस्था- इस प्रणाली में जमींदार भूमि का स्वामी माना जाता था, तथा भूमि सम्बन्धी सभी अधिकार उसके हाथ में होते थे। सरकार से कृषक का सीधा सम्बन्ध नहीं होता था बल्कि एक मध्यम वर्ग के माध्यम से होता था जिसे जमींदार कहते थे। इस प्रकार भूमि जोतने वाले का भूमि में स्वामित्व नहीं होता था। जमींदार द्वारा उस कृषक को हटा दिया जाता था जो कि कम लगान देते थे और उनकी भूमि उन व्यक्तियों को दे दी जाती थी जो अधिक लगान देते थे। इससे किसानों के मन में अस्थिरता रहती थी। इस प्रकार जमींदारी प्रथा में निम्न दोष पाये जाते थे - लगान में वृद्धि, कृषि का पतन, जमींदारों द्वारा शोषण, सरकारी आय में स्थिरता, मध्यस्थों की संख्या में वृद्धि, भूमि के उप-विभाजन में वृद्धि, समाज में असंतुलन और विवादों में वृद्धि।

19.2.3 स्वतंत्रता के बाद भारत में भूमि सुधार

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय विभिन्न प्रकार की भूमि व्यवस्थाऐं थी, जिसके परिणाम स्वरूप वास्तविक काश्तकार एवं भूमि स्वामी के बीच कई मध्यस्थ आ गये थे जो भूमि उपज का एक बड़ा भाग लगान के रूप में लेते थे। लेकिन फिर भी काश्तकार को प्रति वर्ष गारण्टी नहीं देते थे, जिससे भूमि में स्थायी सुधार नहीं हो पाता था। साथ ही खेत के छोटे होने से उत्पादन भी कम होता था। स्वतंत्रता के पश्चात भारत में भूमि सुधार के निम्न प्रयास किए गए-

1. 1971 का भूमि सुधार- भू-हदबंदी को सिंचित क्षेत्र में 28 एकड़ और असिंचित क्षेत्रों में 54 एकड़ तक सीमित करना। भू-धारण के लिए इकाई निर्धारित करते समय परिवार के सदस्यों की न्यूनतम पांच सदस्यों की सीमा पर लेन-देन। भू-हदबंदी से बचाव के कम उदाहरण हैं। बेनामी लेन-देन के संबंध में पुराने आवेदन पत्रों को अवैध करार देना। मूल अधिकार के हनन के आधार पर न्यायालय में जाने की संभावना पर यथासंभव रोक लगाना।

2. राष्ट्रीय मार्गदर्शिका-1972- भू-हदबंदी की सीमा-इस प्रकार से निर्धारित की गई हैः सर्वश्रेष्ठ कृषि भूमि के लिए प्रति परिवार 10 एकड़, द्वितीय कोटि के कृषि भूमि के लिए प्रति परिवार 18-27 एकड़, पर्वतीय और मरूस्थलीय क्षेत्रों के लिए अपेक्षाकृत अधिक क्षेत्र तक निर्धारण। भू-हदबंदी को लागू करने के दो पहलू हैं- पहला- भावी भू-धारण पर हदबंदी और दूसरा- वर्तमान भू-धारण पर हदबंदी। इनमें से प्रथम पहलू को पहली पंचवर्षीय योजना के दायरे में लिया गया था, जबकि द्वितीय पहलू को दूसरी पंचवर्षीय योजना में लागू किया गया था।

19.2.4 भूमि सुधार नीति

भूमि सुधार की निम्नलिखित नितियां लागू की गयी-

क. मध्यस्थतों एवं जमींदारों का उन्मूलन- भूमि सुधार प्रयत्नों में सबसे पहला प्रयत्न मध्यस्थों व जमींदारों की समाप्ति के लिए किया गया जिनके पास कुल भूमि का 40 प्रतिशत क्षेत्र था। इस संबंध में मद्रास में 1948, बम्बई व हैदराबाद में 1949-50, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश व असम में 1951, पंजाब, राजस्थान व उड़ीसा में 1952 में तथा हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक व पश्चिमी बंगाल में 1954-55 में भूमि सुधार से संबंधित अधिनियम पारित किये गये। इन विभिन्न राज्य अधिनियमों के द्वारा अब तक लगभग दो करोड़ काश्तकारों का राज्य के साथ सीधा संबंध हो गया है और उनको मालिकाना हक दे दिये गये हैं तथा 57.7 लाख हेक्टेयर भूमि, भूमिहीन कृषकों को वितरित की जा चुकी है। जमींदारी उन्मूलन के फलस्वरूप क्षतिपूर्ति की राशि 670 करोड़ रुपये आंकी गई है।

विभिन्न राज्य सरकारों ने जमींदारी उल्मूलन के लिए जो अधिनियम बनाये थे उनमें निम्न विशेषतायें थीं-

1. **अधिकारों का उन्मूलन एवं क्षतिपूर्ति-** जम्मू एवं कश्मीर राज्य को छोड़कर शेष सभी राज्यों में जमींदारों के अधिकारों का उन्मूलन कर दिया गया और इसके बदले में उनको मुआवजा या क्षतिपूर्ति दी गई।
2. **क्षतिपूर्ति का आधार-** जमींदारों को क्षतिपूर्ति का आधार अलग-अलग राज्यों मे अलग-अलग रखा गया जैसे उत्तर प्रदेश में ''शुद्ध संपत्ति'' रखा गया था जब कि असम, राजस्थान एवं मध्यप्रदेश में ''शुद्ध आय'' था। कुछ राज्यों में जमींदारों को निम्न दर से छोटे जमींदारों को ऊंचीदर से क्षतिपूर्ति की गई। कुछ राज्यों में क्षतिपूर्ति एक सी दर से दी गयी लेकिन छोटे जमींदारों को पुनर्वास हेतु अतिरिक्त अनुदान दिये गये।
3. **क्षतिपूर्ति का भुगतान-** क्षतिपूर्ति का भुगतान कुछ राज्यों ने पूर्णतः नकदी में किया जबकि कुछ राज्यों ने कुछ नकदी व कुछ बाण्डों में। जिन राज्यों में बाण्डों में भुगतान किया गया उन्होंने अपने राज्यों में ''जमींदारी उन्मूलन कोष'' की स्थापना की। इस कोष में उस रकम को जमा किया गया जो भूमिधारी काश्तकार बनने के लिए कृषक ने सरकार को दी।

4. **जमींदारों को वैयक्तिक कृषि के लिए भूमि रखने की छूट-** विभिन्न अधिनियमों में यह व्यवस्था भी की गयी थी जो कि जमींदारी जितनी भूमि को स्वयं जोतते थे उसे उनके पास ही छोड़ देने की छूट थी।
5. **सामान्य भूमि पर राज्य सरकारों का अधिकार-** जमींदारी उन्मूलन के पश्चात गाँव में जो सामान्य भूमि ¼Common Land½ से बंजर भूमि, वन, हाट की भूमि, चरागाह की भूमि आदि, बची उस पर राज्य सरकारों का अधिकार हो गया।
6. **लगान देने का दायित्व-** इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गयी थी कि जमींदारी उन्मूलन के पश्चात काश्तकार या आसामी अपनी भूमि पर लगान सीधा ही सरकार को देगा और लगान देने की उसकी स्वयं की जिम्मेदारी होगी।
7. **जमींदारी पुनः पनपने पर प्रतिबंध-** इसके लिए यह व्यवस्था की गयी कि प्रत्येक काश्तकार की भूमि को स्वयं ही जोतना अनिवार्य होगा लेकिन, विधवा, फौज में कार्य करने वाले सैनिक वर्ग, बन्दी व रोग से पीड़ित व्यक्ति अपनी भूमि को लगान पर दूसरों को उठा सकते हैं।

जमींदारी उन्मूलन का प्रभाव

जमींदारी उन्मूलन ग्रामीण क्षेत्रों के लिए निम्न प्रकार से लाभकारी रहा है-

- शोषण का अन्त;
- उत्पादन में वृद्धि;
- सरकारी आय में वृद्धि;
- कृषकों का सरकार से प्रत्यक्ष संबंध;
- कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में सहायता;
- सामन्तवाद का अन्त।

हम कह सकते हैं कि जमींदारी उन्मूलन से भूमि व्यवस्था में सुधार हुआ है, और जमींदारों का वर्ग जो काफी प्रबल था वह अब पूर्णतया निर्बल होकर समाप्त हो चुका है। इस कदम को हम समाजवादी समाज की दिशा में एक कदम कह सकते हैं।

ख. काश्तकारी व्यवस्था में सुधार- विभिन्न जमींदारी उन्मूलन अधिनियमों के अन्तर्गत छूट दी गयी थी कि विधवाएँ, अवयस्क, सैनिक या असमर्थ लोग अपनी भूमि को दूसरे को जोतने के लिए दे सकते हैं। इस व्यवस्था को पट्टीदारी कहते हैं। पट्टेदारी व्यवस्था में भी सुधार की आवश्यकता को महसूस करते हुए यह आवश्यक समझा गया कि इस ओर भी कुछ प्रयत्न किये जायें। अतः इस ओर निम्न सुधार किये गये हैं -

1. **लगान का नियमन किया गया-** लगान-नियमन के कानून बनने से पूर्व पट्टेदार को सामान्यतः कुल उपज का आधा भाग भूमि के मालिक को लगान के रूप में देना पड़ता था। अतः प्रथम योजना में इस बात की सिफारिश की गयी कि ऐसा लगान कुल उपज के 20 से 25 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए। बाद में विभिन्न राज्यों ने

इस संबंध में भिन्न-भिन्न अधिनियम बनाये जिनके अनुसार लगान की उचित दर पंजाब व हरियाणा में 33.5 प्रतिशत, मद्रास में सिंचित भूमि का 40 प्रतिशत तथा शुष्क भूमि का 25 प्रतिशत, आन्ध्र-प्रदेश में सिंचित भूमि का 30 प्रतिशत व सूखी भूमि का 25 प्रतिशत निर्धारित की गयी। जम्मू व कश्मीर में लगान की दर 25 प्रतिशत से 50 प्रतिशत तक है। शेष सभी राज्यों में यह दर 25 प्रतिशत से अधिक नहीं है।

2. **पट्टे को सुरक्षा प्रदान की गयी-** पट्टेदार को पट्टे की स्थायी सुरक्षा होनी चाहिए जिससे कि पूंजी लगाने की भावना बनी रहे और वह भूमि में पक्की मेड़े व कुऐं बनवा सकें तथा भूमि की उपजाऊ शक्ति में वृद्धि कर सके और उसको बेदखल होने का भय न रहे।
3. अतः भिन्न-भिन्न राज्यों ने सुरक्षा संबंधी अधिनियम पारित किये हैं। इन अधिनियमों को बनाते समय इस बात का ध्यान रखा गया कि बड़े पैमाने पर पट्टेदारों की बेदखली न हो,भूमि के मालिकों को केवल स्वयं काश्त के लिए ही भूमि पुनः प्राप्त करने की अनुमति हो तथा भूमि को प्राप्त करने पर पट्टेदारों के पास निश्चित न्यूनतम भूमि अवश्य रहने दी जाए।
4. **पट्टेदारों को स्वामित्व अधिकार-** कई राज्यों में पट्टेदारों को स्वामित्व अधिकार दिलाने के लिए वैधानिक व्यवस्था की गयी है जिसके अन्तर्गत पट्टेदार क्षतिपूर्ति के बाद भूमि पर स्वामित्व अधिकार प्राप्त कर सकता है।

ग. जोतों की अधिकतम सीमाओं का निर्धारण- स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधार कार्यक्रमों के अन्तर्गत जोतों की अधिकतम सीमा का निर्धारण किया गया है। ऐसा करने के चार उद्देश्य हैं, पहला- बड़े भूखण्डों को उचित आकार के खण्डों में बदलना जिससे कि उनका प्रबंध उचित प्रकार से हो सके तथा उत्पादन बढ़ाया जा सके। दूसरा- अधिशेष ¼Surplus½ भूमि को भूमिहीनों में बाँटकर सामाजिक न्याय करना। तीसरा- अधिक व्यक्तियों को रोजगार सुविधायें उपलब्ध कराना। एवं चौथा- अधिशेष भूमि पर बंजर कृषकों, कारीगरों व शिल्पकारों को घर बनाने की सुविधा देना है।

भूमि सुधार पैनल की रिपोर्ट के अनुसार ''सभी संसाधनों में भूमि की पूर्ति सबसे अधिक सीमित है किन्तु इनको प्राप्त करने वालों की संख्या बहत अधिक। अतः कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर यह अन्यायपूर्ण होगा कि कोई एक व्यक्ति भूमि के किसी बड़े भाग का शोषण करता रहे। यही नहीं, भारत के वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक वातावरण को देखते हुए भी भूमि का समान वितरण आवश्यक है। विभिन्न राज्यों में जोतों की सीमा इस प्रकार है- आन्ध्र प्रदेश में 4.1 से 21.9 हेक्टेयर, असम में 6.7 हेक्टेयर, बिहार में 6.1 से 18.2 हेक्टेयर, गुजरात में 4.1 से 21.9 हेक्टेयर, हरियाणा में 7.3 से 21.9 हेक्टेयर, हिमाचल प्रदेश में 4.1 से 12.1 हेक्टेयर, जम्मू व कश्मीर में 3.7 से 7.8 हेक्टेयर, कर्नाटक में 4.1 से 21.98 हेक्टेयर, केरल में 4.9 से 6.1 हेक्टेयर, मध्य प्रदेश में 4.1 से 21.9 हेक्टेयर, उड़ीसा में 7 से 21.8

हेक्टेयर, त्रिपुरा में 4 से 12.3 हेक्टेयर, उत्तर प्रदेश में 7.3 से 18.3 हेक्टेयर व पश्चिमी बंगाल में 5 से 7 हेक्टेयर।

घ. कृषि का पुनर्गठन- भूमि सुधार के कार्यक्रमों के अन्तर्गत भूमि का पुनर्गठन भी किया गया है। जिसके लिए तीन उपायों को काम में लिया गया है -

1. **चकबन्दी-** चकबन्दी वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा ''स्वामित्वधारी कृषकों को उनके इधर-उधर बिखरे हुए खेतों के बदले में इसी किस्म के कुल एक ही आकार के एक या दो खेत लेने के लिए राजी किया जाता है।'' इसमें एक कृषक के बिखरे हुए खेतों को एक स्थान पर दे दिया जाता है। यह चकबन्दी दो प्रकार से की जा सकती- ऐच्छिक चकबन्दी और अनिवार्य चकबन्दी।

   ऐच्छिक चकबन्दी में कृषकों की इच्छा पर चकबन्दी होती है जिसकी शुरुआत 1921 में पंजाब राज्य में हुई थी जबकि अनिवार्य चकबन्दी कानूनी रूप से लागू की जाती है। इसकी शुरुआत भी 1928 में आंशिक चकबन्दी के रूप में मध्य प्रदेश में हुई थी। उस समय एच्छिक चकबन्दी गुजरात, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल में लागू थी। आन्ध्र, अरुणान्चल प्रदेश, मिजोरम, मणिपुर, मेघालय, त्रिपुरा, नागालैण्ड, तमिलनाडु व केरल में चकबन्दी संबंधी कानून नहीं हैं, लेकिन शेष सभी राज्यों में अनिवार्य चकबन्दी संबंधी कानून लागू हैं।
2. **सहकारी खेती-** सहकारी खेती से अर्थ कृषकों के द्वारा सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर संयुक्त रूप से कृषि करने से है। भारत में सभी भूमि सुधारों का अंतिम लक्ष्य सहकारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की स्थापना करना है। इसलिए पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारी खेती पर काफी जोर दिया गया है। इस समय 10 हजार से अधिक सहकारी समितियाँ कार्य कर रही हैं, जिनके पास 5.7 लाख हेक्टेयर भूमि है तथा जिनके सदस्यों की संख्या 3.25 लाख है।
3. **भूदान-** यह भूमि सुधार कार्यक्रम ऐच्छिक है और उसके जन्मदाता आचार्य विनोबा भावे हैं। यहाँ भूदान से अर्थ स्वेच्छा से भूमिदान से है। इसका उद्देश्य बताते हुए आचार्य भावे ने एक बार कहा था कि यह न्याय तथा समानता पर आधारित है कि भूमि में सभी का अधिकार है इसलिए हम भेंट में भूमि की भीख नहीं मांगते बल्कि उस भाग की मांग करते हैं जिसमें निर्धनों का न्यायपूर्ण हक है।

19.2.5 भारत में भूमि सुधार की आवश्यकता व महत्व

स्वतंत्रता के पश्चात भारत में भूमि सुधारों की आवश्यकता निम्न कारणों से थी-

1. कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए- स्वतंत्रता के समय एवं उसके पश्चात भारत में कृषि पदार्थों की बड़ी भारी कमी थी। अतः इस बात की आवश्यकता महसूस की गई कि कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए भूमि सुधार कार्यक्रम लागू किये जायें।

2. नियोजित विकास के लिए- देश में नियोजित विकास को बढ़ावा देने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि भूमि सुधार किये जायें।

3. सामाजिक न्याय एवं समानता के लिए- स्वतंत्रता के पश्चात सामाजिक न्याय दिलाने के लिए यह उचित समझा गया कि अधिक भूमि को भूमिहीनों में वितरित कर दिया जाये।

4. गैर-कृषि उद्योगों के विकास के लिए- भारत में सुधार की आवश्यकता इस कारण भी पड़ी कि उद्योगों के विकास के लिए धन एवं कच्चा माल कृषि से मिल सकता है।

भूमि सुधारों की आवश्यकता पर बल देते हुए डॉ0 राधा कमल मुखर्जी ने अपनी पुस्तक 'LandReform in India' में लिखा था कि ''वैज्ञानिक कृषि अथवा सहकारिता को हम कितना ही लें, पूर्ण सफलता हमें तब तक नहीं मिलेगी जब तक कि हम भूमि व्यवस्था में वांछित सुधार नहीं कर देते।'' प्रो0 सैम्युलसन के अनुसार ''सफल भूमि सुधार के कार्यक्रमों ने अनेक देशों में (साहित्यिक भाषा में) मिट्टी को सोने में बदल दिया है।''

19.3 भूमि सुधार की समस्याऐं

देश की लगभग 75 करोड़ ग्रामीण खेतिहर जनसंख्या में से अब तक केवल 5 करोड़ से भी कम लोग लाभान्वित हो सकें, इसके लिए ग्रामीण क्षेत्र एवं रोजगार मंत्रालय ने जो कारण बताए वो इस प्रकार हैं-

1. पाँच से अधिक सदस्य वाले परिवारों द्वारा भू-परिसीमन कानून में निर्धारित सीमा से दुगुनी भूमि को अपने पास बनाये रखने का प्रावधान।
2. परिवार मे बालिग पुत्रों के लिए अलग से भू-परिसीमन सीमा का प्रावधान।
3. संयुक्त परिवार के प्रत्येक भागीदार को भू-परिसीमन सीमा के लिए अलग इकाई माने जाने का प्रावधान।
4. भू-परिसीमन सीमा का अतिक्रमण करके चाय, कॉफी, रबड़, इलायची की खेती तथा धार्मिक और खैराती संस्थाओं के लिए दी गई छूट।
5. भू-परिसीमन सीमा को वंचित करने के लिए भूमि के बेनामी और फर्जी हस्तान्तरण।
6. छूटों का दुरूपयोग तथा भूमि का गलत वर्गीकरण।
7. पूँजी के विनिवेश के द्वारा नये सिंचाई के साधनों से तैयार की गयी भूमि पर आयुक्त भू-परिसीमन कानून को लागू न किया जाना।
8. किसान की खेती में काफी बढ़ोत्तरी हो रही है और स्पष्ट है कि इनमें से अधिकांश को काश्तकारी संविदा के अन्तर्गत आना चाहिए।
9. बीसवीं सदी के अंतिम दशक में किसानों के आधे से अधिक सीमांत किसान होते थे। उनको देखते हुए ही यह अनुमान लगाना कठिन होता था कि खेती से ठीक-ठाक आजीविका चल भी सकती है या नहीं।
10. एक और समस्या पर पूरे देश में कम ध्यान दिया गया है, वह है भूमि की उत्पादकता में निरंतर आती कमी। इससे कृषि की उत्पादकता काफी घटी है।उसी समय से बंजर और बेकार भूमि का प्रतिशत भी बढ़ा है। इससे कृषि-भूमि का क्षेत्रफल घटा है।
11. निश्चित ही प्रतिकूल मौसम और कम वृष्टि भी संबद्ध मुद्दे हैं पर खेती के तरीकों ने निश्चित ही भूमि की गुणवत्ता घटाई है। नुकसान उठकार खेती करते जाने की अपेक्षा

छोटे किसान दूसरे पेशों के लिए घर छोड़ते जा रहे है। इसीलिए सरकारों को भूमि को फिर से उपजाऊ बनाने वाली परियोजनाओं पर ध्यान देकर उसे ग्रामीण रोजगार योजना का अंग बनाना चाहिए।

19.4 भारत में भूमि सुधार की कमियाँ

भारत में भूमि सुधार की कमियाँ निम्नलिखित हैं-

1. आजादी के बाद बहुत से राज्यों में जोतदारों और राज्य के बीच बिचौलियों को कम करने के लिए बहुत से कानून बने। व्यवहार में इन बिचौलियों को कानून ने जमींदारों के बराबर मान लिया। इस तरह रैयतवाड़ी के अन्तर्गत बहुत से अनुपस्थित जमींदार और लगान वसूलने वाले इन कानूनों की गिरफ्त से बच गए।
2. हालांकि कुछ प्रयास पहले भी हुए थे पर वास्तविक प्रयास 1948 में शुरू हुए। पश्चिम बंगाल अनुपस्थित जमींदारों के जुल्म से सबसे अधिक प्रभावित था, पर वहां कानून 1954-55 में बने।
3. लगान की दरें ऊंची थी इसीलिए बहुत से राज्यों ने दरों का पहले नियमन किया। फिर भी विभिन्न राज्यों की दरों में काफी अंतर है।
4. यद्यपि कानून हैं, परन्तु वे ठीक से लागू नहीं होते। हर नियम के बावजूद बहुत सी अनौपचारिक समझौते गावों में चलते रहे हैं। अधिकांश बटाईदारी आदि बिना लिखित के यूं ही चलती रही है।
5. पंजाब, हरियाणा, जम्मू कश्मीर और आन्ध्र प्रदेश में कोई स्थाई लगान दर नहीं है।
6. बहुत सी प्रशासकीय असुरक्षाएं शेष हैं क्योंकि बहुत सी व्यवस्थाएं अनौपचारिक हैं।
7. भूमि की खरीद-बिक्री का कोई अनुमान नहीं हैं।
8. भूमि सीलिंग कानून ने ढेरों गलत और बेनामी सौदों को हवा दी।
9. 1972 से न्यायिक हस्तक्षेप के कारण अतिरिक्त भूमि प्राप्त करने में व्यवधान के कारण नए कानून बने। इसलिए थोड़ी बहुत अतिरिक्त भूमि वितरण के लिए उपलब्ध हो पाई।
10. भूमि सुधार कानून अलग-अलग बने हैं। उन्हें किसी व्यापक सुधार कार्यक्रमों से जोड़ा नहीं गया है।
11. भूमि सुधार का अंतिम उद्देश्य तो सहकारी ग्राम व्यवस्था होनी चाहिए पर ऐसा हुआ नहीं।
12. भूमि सुधारों में बहुत सी छूटे हैं- जैसे गन्ने की खेती, फलों के बगीचे, आम चारागाह, दान-धर्म वाली जमीनें, मवेशियों के पोषण वाले फर्म आदि। इनका इस्तेमाल सीलिंग से बचने के लिए किया जाता है।
13. कुछ राज्यों में जमींदारों ने जमीनें बटाईदारों को और परिवार के सदस्यों को दे दी और सीलिंग से बच निकले।

14. इस देश में कृषि-भूमि 14 करोड़ 20लाख हेक्टेयर है। इसमें से 31 मार्च 2002 तक चकबंदी केवल 6 करोड़ 61 लाख हेक्टेयर में हो सकी है। पूरा काम केवल हरियाणा और पंजाब में हुआ है।

15. भूमि सुधार कार्यक्रम में भिन्नता।

16. प्रभावशाली क्रियान्वयन का अभाव।

17. भूमि संबंधी प्रलेखों का अपूर्ण होना।

18. भूमि सुधार कानून का धीमा क्रियान्वयन होना।

19. भूमि सुधारों में एकीकृत कार्य का अभाव।

19.5 भारत में भूमि सुधार को पूर्ण लागू करने के लिए सुझाव

भारत में भूमि सुधार को पूर्ण लागू करने के लिए निम्नलिखित सुझाव हैं-

1. बटाई या दूसरे तरह से जमीन को एक तरह से किराए पर देने की प्रथा पर पूरी तरह से रोक लगाना तो सामाजिक रूप से वांछित होगा न प्रशासकीय दृष्टि से व्यावहारिक। इसलिए तर्क संगत यही होगा कि इस संबंध में बने कानूनों की कमियों को यथासंभव दूर किया जाए।

2. बदनीयती से किए मालिकाने के अन्तरण को निश्चित ही दूर किया जाना चाहिए क्योंकि उससे भूमि सुधार का मर्म ही पराजित हो जाता है।

3. अतिरिक्त भूमि के वितरण में मुख्य व्यवधान मुकदमेबाजी रही है। इसमें 10.65 लाख एकड़ भूमि फंसी थी। केन्द्र ने राज्यों से इस संबंध में कुछ करने का आग्रह किया है ताकि स्वामित्व का मामला मुकदमेबाजी से मुक्त हो।

4. साथ ही भू-नीति को ग्रामीण क्षेत्र में ऊर्जा का संचार करना चाहिए ताकि कच्चा माल और अतिरिक्त खाद्यान्न बाजार तक पहुंच सके।

5. 'जमीन जोतने वाले की नीति' का प्रभावी कार्यान्वयन।

6. दस्तावेजों को 'अपडेट' करने का काम तेजी से होना चाहिए।

7. सहकारी संस्थाओं तथा बैंकों से ऋण देकर, नए भूस्वामियों को आधार प्रदान किया जाए।

8. नवीन रिकार्ड तैयार किये जायें।

9. कुशल प्रशासनिक मशीनरी की स्थापना।

10. भूमि सुधार अदालतों की स्थापना।

11. खेतिहर श्रमिकों व बटाई वालों में संघ की स्थापना।

12. वित्तीय व्यवस्था का प्रबन्ध।

13. कानून का प्रचार।

14. भूमि सुधार कानूनों को संविधान की नवीं सूची में शामिल करना।

15. भूमि सुधार को लागू करने की विधियों को सरल बनाना।

भूमि सुधार, नियमन में व्यवधान, नौकरशाही में दिलचस्पी की कमी और राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी के कारण ठीक से लागू नहीं हो सके हैं। संभावित प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रखते हुए एक व्यापक नीति बनाई जानी चाहिए जो यथासंभव सभी पक्षों का ध्यान रख सके। हदबंदी को सिंचित क्षेत्र में 28 एकड़ तक असिंचित क्षेत्र में 54 एकड़ तक सीमित करना।

19.6 भूमि सुधार कार्यक्रमों का मूल्यांकन

भारतीय संविधान की 46वीं धारा के अनुसार राज्यों को समाज के कमजोर वर्गों की रक्षा करनी चाहिए और उन्हें सामाजिक अन्याय तथा हर प्रकार के शोषण से बचना चाहिए। भूमि सुधारों का अंतिम लक्ष्य है, खेती करने वालों को व्यापक स्तर पर स्वामित्व का अधिकार दिला कर सामाजिक न्याय स्थापित करना।

भूमि सुधार, भूमि की उत्पादकता और किसानों की आर्थिक स्थिति को बेहतर बनाने की एक समेकित प्रक्रिया है। ऐसा होने से किसानों और काश्तकारों को प्रेरणा मिलेगी। कृषि में बेहतरी आए तो वितरण में न्याय बढ़ सकता है। शोषण को खत्म या कम कर एक समता मूलक समाज की ओर बढ़ा जा सकता है। 'जमीन जोतने वाले की' नारे के साथ किसानों को स्वामित्व दिलाने की एक व्यवस्था कायम है की जा सकती है, इससे लोगों की आमदनी बढ़ेगी जिससे उपभोक्ता सामग्री की मांग बढ़ सकती है। भूमि सुधार का आधारभूत उद्देश्य है पूंजी और श्रम का किसी तरह का अपव्यय रोक कर भूमि का सर्वोत्तम उपयोग करना ताकि कमजोर लोगों के बीच कृषि-योग्य भूमि का वितरण हासिल किया जा सके। जहाँ तक बिचौलियों का सवाल है कुछ ही का खात्मा हुआ है जैसे महाराष्ट्र में देवास्थान, उड़ीसा के जागीरदार, गोवा में कम्युनिदाद। काश्तकारों को सुरक्षा हर राज्य में प्रदान की गयी है। बची हुई जमीन का मुकदमेबाजी के कारण पूरी तरह अधिग्रहण नहीं हो पाया हैं। भूमि का तीन-चौथाई भाग भूस्वामियों के पास है, वो किसानों का एक चौथाई हिस्सा है। इसलिए स्वामित्व का वितरण ठीक से नहीं हो सका है। ग्रामीण श्रमशक्ति में परिवर्तन हुआ है। अपना पेशा करने वालों की संख्या गिरी हैं। भूमिहीनों और सीमांत किसानों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है। पिछले कुछ वर्षों के दौरान बटाईदारी प्रथा का स्थान स्थायी देनदारी प्रथा लेती जा रही है। पहले आधे-आधे की बटाईदारी ही चलती थी इसमें जमींदार जरूरी पूंजी पहले दे देता है या किसी पेशगी की व्यवस्था नहीं होती। किसानों के लिए बनी बहुत सी परियोजनाओं का भी लाभ उन्हें नहीं मिलता। उन्हें आपदा मुआवजे भी नहीं मिलते। बीज, खाद, कीटनाशक और औजारों के लिए मिलने वाली किसी भी तरह की सहायता से वे वंचित रह जाते हैं। भारत सरकार ने सारे भूमि सुधार कानूनों को इकट्ठा करके संविधान के 9वें अनुसूची में डाल दिया है ताकि मुकदमेबाजी में फंसी अतिरिक्त जमीनों को आसानी से वितरित किया जा सके। भारत सरकार ने भूमि सुधार की रफ्तार बढ़ाने के लिए 5 उपाय सुझाए हैं-

1. किसी भी विवाद से मुक्त अतिरिक्त जमीनों का वितरण किया जाना चाहिए।
2. किसी भी न्यायालय में विवादित भूमि को मुक्त कराने के लिए जल्दी फैसले करवाने के प्रयास किए जाने चाहिए।

3. संविधान की धारा 323 बी के अन्तर्गत फैसले जल्दी करवाने के प्रावधान में सीलिंग संबंधी कानूनों को शामिल कर लेना चाहिए और इसके लिए न्यायाधिकरण गठित किए जाने चाहिए।
4. सभी काश्तकारों और बटाईदारों के दस्तावेज तैयार करा कर उन्हें स्वामित्व के अधिकार दे दिए जाने चाहिए।
5. आज के कानूनों के 'लूप होल' को बंद कर देना चाहिए ताकि उदाहरण के लिए जनजातियों के अलगाव को रोका जा सके और जिनकी जमीनें छिनी हैं उन्हें जमीन वापस मिल सके। हर तरह के भ्रम दूर कर दिए जाने चाहिए।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में कौन भूमि संबंधी व्यवस्था लागू की थी?
2. भारतीय संसद में भूमि अधिग्रहण, अधिग्रहण पुनर्वास एवं पुनर्स्थापना में उचित क्षतिपूर्ति एवं पारदर्शिता का अधिकार अधिनियम किस वर्ष पारित किया गया?
3. भूमि सुधार का उद्देश्य क्या हैं?
4. भारत के संदर्भ में भूमि सुधार कार्यक्रमों में किसे शामिल किया जाता है?
5. जमींदारी प्रथा में क्या दोष थे?
6. भूमि सुधार कार्यक्रम के अन्तर्गत भूमि का पुनर्गठन किन उपायों द्वारा किया गया?

19.7 सारांश

भारत मे भुमि सुधार और तेजी से होना चाहिए। भारत की 70 प्रतिशत आबादी गावों में रहती है जिसकी मुख्य आजीविका कृषि ही है। स्वतंत्रता के पूर्व अंग्रेजों द्वारा भूमि व्यवस्था का बन्दोबस्त किया गया तथा स्वतंत्रता के बाद अब तक छोटे किसानों, भूमिहीनों व श्रमिकों के हित मे काफी भूमि सुधार किया गया है फिर भी भारत में बहुत से लोग ऐसे हैं जिनके पास आजीविका का कोई साधन नहीं हैं। ऐसे लोगों को भुमि सुधार का लाभ पहुँचाया जाना चाहिए। देश के विकास के लिए सड़क, रेल, फैक्ट्रियों के निर्माण इत्यादि कार्यों के लिए किसानों की जमीनों का सरकार द्वारा अधिग्रहण किया जाता है। किसानों के लिए उचित मुआवजे की व्यवस्था होना चाहिए। 21वीं सदी में भुमि सुधारों को और व्यापक बनाकर देश के छोटे किसानों, कृषि श्रमिकों एवं वंचित तबकों को शामिल करके ज्यादा फायदा लिया जा सकता है।

19.8 शब्दावली

भूमि सुधार- भूमि व्यवस्था की संस्थागत व्यवस्था में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन।

भूमि अधिग्रहण- सरकार द्वारा अपने उपयोग के लिए भू-स्वामियों से भूमि लेना।

रैयतवाड़ी व्यवस्था- भूमि का स्वामित्व राज्य के पास होता है लेकिन किसानों को एक लंबी अवधि(25-30 वर्ष) के लिए भूमि उपयोग का अधिकार मिलता था।

महलवाड़ी व्यवस्था- इसमें एक साल के लिए मालगुजारी निश्चित होती थी।

जमींदारी व्यवस्था- जमींदार भूमि का स्वामी होता था। सरकार तथा कृषक के बीच बिचौलिये का काम जमींदार करता था।

पंचवर्षीय योजना- पाँच वर्ष के लिए लागू योजना।

सामाजिक न्याय- सामाजिक रूप से न्याय प्रदान करना।

भूदान- स्वेच्छा से भूमिदान।

चकबन्दी- एक कृषक के बिखरे हुए खेतों को एक स्थान पर दे दिया जाता है।

19.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. जमींदारी, महलवाड़ी और रैयतवाड़ी, **2.** 2013, **3.** बिचौलियों का अन्त, कृषि उत्पादन को बढ़ावा देना और अतिरिक्त भूमि का कमजोर वर्गों में वितरण, **4.** मध्यस्थतों का उन्मूलन, काश्तकारी सुधार और जोत की चकबन्दी, **5.** लगान में वृद्धि, जमींदारों द्वारा शोषण और मध्यस्थों की संख्या में वृद्धि, **6.** चकबन्दी, सहकारी खेती और भूदान।

19.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. अग्रवाल प्रमोद कुमारः भूमि सुधार: समस्या एवं समाधान, विश्व साहित्य प्रकाशन, झूँसी, इलाबाद, 2006,
2. योजना, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, वर्ष-58, अंक-11, नवंबर 2013,
3. अग्रवाल, ए0एन0 - भारतीय अर्थव्यवस्था विकास एवं आयोजन, न्यू ऐज इन्टरनेशनल प्रा0 लि0 पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
4. Government of India, ***Planning Commission*** - Third Five Year Plan, P. 220
5. Daniel thomer, ***The Agrarian Prospects in India*** (New Deli] 1976, pp. 12-13.
6. H.D. Malaviya - ***Land Reform in India***, P. 450.
7. P.S. Appu - Tenancy Reform in India, ***Economic and Political Weekly***, Vol.X, No.33, 34 & 35, Aug. 1975, P. 1349.
8. ***Report of the Committee of the Panel of Land Reforms***, P. 99.
9. D. Bandhopadhyay - Land Reform in India : An Analysis, ***Economic and Political Weekly***, June, 21-28, 1986, A-51.

19.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Banerjee, A.V (1999): "prospects and strategies for land reform" , in B. pleskovic and J. Stiglitz (eds), ***Annual World*** 1999. Washington DC: Word Bank, PP.253-284.
2. Banerjee,A.V.,P.J.gertler, and M.Gathak (2002): "empowerment and Efficienncy: Tenancy Reform in west Bangal", ***journal of political economy***. Vol.110, No. 2,pp. 239-280
3. R.K. Mukharjee **- *Land Reforms in India***, pp-147-148.

19.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में भूमि सुधार की कमियों का उल्लेख कीजिये।इस संबंध में अपने सुझाव दीजिए।
2. भूमि सुधार से क्या अभिप्राय है? इस दिशा में भारत सरकार द्वारा क्या प्रयास किये गये हैं?
3. स्वाधीनता के पश्चात भारत में कृषि सुधार नीति की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. भारत में भूमि जोत पर अधिकतम सीमा निर्धारण के गुण और दोष की विवेचना कीजिए।
5. भारत में भूमि सुधार की धीमी और असन्तोषजनक प्रगति के क्या कारण रहे हैं? इस संबंध में आप क्या सुझाव देंगे।
6. भूमि सुधार की आवश्यकता और इस दिशा में हुई प्रगति का उल्लेख कीजिए।

इकाई- 20 गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम

इकाई की संरचना

20.0 प्रस्तावना
20.1 उद्देश्य
20.2 गरीबी से तात्पर्य
    20.2.1 गरीबी का अर्थ
    20.2.2 गरीबी का विभेदन
    20.2.3 भारत में गरीबी
    20.2.4 भारत में गरीबी के कारण
20.3 गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम
20.4 भारत में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों का मूल्यांकन
20.5 सारांश
20.6 शब्दावली
20.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
20.8 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
20.9 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
20.10 निबंधात्मक प्रश्न

20.0 प्रस्तावना

स्वतंत्र भारत में अमीर-गरीब के बीच अन्तर बहुत तेजी से बढ़ रहा है तथा निर्धन होना अपने आप में एक गुनाह माना जाता है। सम्पूर्ण समाज तथा प्रशासनिक तन्त्र असहाय सा, निर्धन व्यक्ति की मजबूरी का तमाशा देख रहा है। इसमें कोई संशय नहीं है कि भारत सरकार ने निर्धनता उन्मूलन के नियोजित ढंग से अथक प्रयास किये हैं। परन्तु निर्धनता कम नहीं हो पा रही है। आदि काल से ही व्यक्तिगत समाज राज्य तथा अर्थव्यवस्था के संबंध जटिल तथा अन्तर निर्भर रहे हैं। मानव सभ्यता तथा संस्कृति की विकास यात्रा भी मूलतः आर्थिक संसाधनों के वितरण, उपयोग तथा संवर्द्धन की संघर्ष की दीर्घ यात्रा रही है। विश्व भर में व्याप्त आर्थिक असमानता ही व्यक्ति को व्यक्ति से तथा राष्ट्र को राष्ट्र से पृथक अस्तित्व प्रदान करती है।

20.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- गरीबी से क्या तात्पर्य है, इसे जान पाओगे।
- गरीबी रेखा का तात्पर्य क्या है, इसे समझ पायेंगे।
- भारत में गरीबी के स्वरूप को समझ पायेंगे।
- भारत में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के बारे में जान पाओगे।

- भारत में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों की सफलता या असफलता के बारे में जान सकेंगे।
- भारत में गरीबी उन्मूलन के लिए आवश्यक सुझावों के संबंध में सकेंगे।

20.2 गरीबी से तात्पर्य

गरीब से तात्पर्य है जीवन की आवश्यक वस्तुओं का आभाव। मूलतः ये ऐसी वस्तुएं है जो जीवित रहते हुए अपरिहार्य है। वर्सतीन हैनरी ने (1992) गरीबी के चार आयाम बताये हैं, पहला- जीवन-यापन के साधनों की कमी, दूसरा- संसाधनों (धन, भूमि, ऋण) तक पहुँचने की अक्षमता, तीसरा- असुरक्षा की भावना और कुण्ठाएं, चौथा- संसाधनों की कमी के कारण दूसरों से सामाजिक संबधों को विकसित करने एवं बनाए रखने की अयोग्यता। लिप्टन (1997) के अनुसार किसी भी दशा में वह व्यक्ति निर्धन है जो कि आर्थिक संसाधनों तक पहुचने में अक्षम है तथा जिसके पास उचित मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं हेतु उपभोक्तावादी वस्तुओं को अधिकृत करने की क्षमता भी नही होती। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के अनुसार निर्धन व्यक्ति की अक्षमता के अन्तर्गत लम्बी अवधि तक कार्य करने की क्षमता, स्वास्थ्य, रचनात्मक जीवन और जीवन का सामान्य स्तर, स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा, स्वसम्मान व दूसरों से प्राप्त सम्मान के अभाव को सम्मिलित किया गया। कुरियन (1978) ने गरीब को सामाजिक-आर्थिक तत्व के रूप में परिभाषित किया। जहाँ कहीं भी समाज में संसाधन उपलब्ध है, वहाँ कुछ लोगों की आवश्यकताएं तो पूरी हो जाती है लेकिन शेष लोगों की मूलभूत आवश्यकताऐं पूरी नहीं हो पाती।

निर्धनता भारत की ही नहीं अपितु दुनिया के अनेक देशों की एक ज्वलंत समस्या के रूप में है। ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को पूरी तरह से भोजन, वस्त्र और आवास की समस्या स्थायी समस्या के रूप में विद्यमान है।

20.2.1 गरीबी का अर्थ

अर्थशास्त्री नरेन्द्र दुबे के अनुसार ''सामान्यतः गरीबी का आकलन इस आधार पर किया जाता है कि किसी मानव समुदाय का भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन आदि का स्तर क्या है।'' डा0 एमएल गुप्ता के अनुसार ''जब न्यूनतम जीवन निर्वाह के साधनों का अभाव होता है तो ऐसी स्थिति को गरीबी की संज्ञा दी जाती है। आर्थिक दृष्टि से ऐसे विपन्न वर्ग को निर्धन कहते हैं जो जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हो।''

20.2.2 गरीबी का विभेदन

गरीबी को कई आधारों पर विभेदित किया गया है-

1. आर्थिक आधार- गरीब का आकलन यदि हम आर्थिक आधार पर करना चाहें तो उसमें अनेक घटक हैं जो गरीबों को प्रभावित करते हैं वे हैं-

क. प्राकृतिक साधन- किसी व्यक्ति या समुदाय विशेष के पास उपलब्ध संसाधनों का कितना भाग उसके पास है। जिस व्यक्ति के पास भूमि, खनिज, जल, वन या अन्य किसी प्रकार के प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध हैं और उनका ठीक प्रकार से समुचित प्रबंधन कर आवश्यक दोहन

किया जा रहा है तो वहाँ पर निर्धनता नहीं होगी। किन्तु इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति के पास न्यूनतम संसाधन हैं और वो उन्हीं पर आश्रित है जिनसे पूरी तरह जीवन-यापन करना दुष्कर कार्य है अथवा संसाधन विहीन व्यक्ति है जो सामान्य जीवन-यापन में समर्थ नहीं है तो निश्चय ही यह गरीबी का प्रतीक है। ऐसी अवस्था में उसे बाहरी सहायता की आवश्यकता होती है।

ख. श्रम और जनसंख्या- जिस देश में जनसंख्या वृद्धि में नियंत्रण नहीं किया गया वहाँ पर निश्चित रूप से गरीबी की दर भी बढ़ती गई है। जनसंख्या वृद्धि के अनुपात में श्रम की उपलब्धता भी कम होती है, बेरोजगारी में वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप गरीबी में भी वृद्धि होती है। जैसे-जैसे जनसंख्या में वृद्धि होती है परिणामस्वरूप गरीबी में भी वृद्धि होती है। ठीक उसी अनुपात में निर्धनता में भी वृद्धि होती है। जिसके कारण मांग एवं आपूर्ति का अनुपात गड़बड़ा जाता है और परिणाम यह होता है कि मांग बढ़ने के साथ-साथ दाम बढ़ते हैं। जिसके कारण धन की न्यूनता या अनुपलब्धता वाला वर्ग बढ़े हुए दामों में वस्तु क्रय करने का सामर्थ्य नहीं रख पाता है। वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती है जिसका सीधा सा अभिप्राय यही है कि वो व्यक्ति या समुदाय निर्धनता की श्रेणी में है।

ग. पूँजी निर्माण- आर्थिक विकास में पूँजी का महत्व सर्वाधिक है। जैसा कि हम इस बात से परिचित हैं कि उद्योग, परिवहन, कृषि के विस्तार आदि के तीव्र विकास के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है, तभी पूंजी का निर्माण संभव है, किन्तु जिस व्यक्ति के पास पहले से ही संसाधनों की कमी है, पूँजी का नितांत अभाव है, ऐसे में वो व्यक्ति अथवा समुदाय पूँजी कहाँ से लाये? पूंजी निर्माण का सीधा सा तात्पर्य ''बचत करने एवं उस बचत को विनियोजन किये जाने से है।'' किन्तु जब व्यक्ति के पास पूँजी ही नहीं है तो वो बचत कैसे करेगा, और यदि बचत नहीं कर सकता है तो पूँजी का निर्माण असंभव है। स्पष्ट है कि पूँजी का निर्माण नहीं है तो वो निर्धन है।

ग. वैज्ञानिक प्रगति को आत्मसात करना- प्रायः यह तथ्य भी सामने आया है कि वैज्ञानिक प्रगति को आत्मसात करने में गरीब लोग कहीं ज्यादा पीछे रहते हैं। उसके पीछे कारण मुख्यतः धनाभाव ही है। किन्तु अनेक प्रकार की प्रगति ऐसी भी है, जिनके लिए ज्यादा धन की आवश्यकता नहीं पड़ती है। फिर भी वैज्ञानिक प्रगति को आत्मसात नहीं करना भी आर्थिक प्रकार की गरीबी में शामिल की जाती है।

2. अनार्थिक आधार- निर्धनता के लिए केवल आर्थिक घटक ही जिम्मेदार नहीं है वरन् अनेक ऐसे घटक भी हैं जिनके कारण निर्धनता प्रभावित होती है। अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि धन के अलावा भी अनेक प्रकार के घटकों से भी गरीबी रहती है जिनका उल्लेख हम इस प्रकार से कर सकते हैं-

क. सामाजिक तत्व- व्यक्ति, समाज या किसी देश के विकास में वहाँ का सामाजिक ढ़ाचा अत्यधिक प्रभावी होता है। न्यूनाधिक विकास के लिए यह जिम्मेदार माना जाता है। समाज की कतिपय परम्पराऐं , रूढ़ियाँ, रीति-रीवाज आदि को उसी रूप में स्वीकार करना कदाचित मानव

की विवशता रही है क्योंकि उसे उसी समाज में जीना है, उसी समाज में रहना है। मृत्युबोध, गोदभराई, पीला, जीमण आदि अनेक प्रकार की रीतियाँ व्यक्ति को संचित निधि से और अधिक धन व्यय करने के लिए विवश करती हैं। यदि उस व्यक्ति के पास धन नहीं है तो उसे कर्ज लेना पड़ता है। ऐसे में वो निर्धन तो पहले से ही है और अधिक गरीब हो जाता है।

यदि वो इस निर्धनता के मकड़जाल से निकलना भी चाहे तो समाज के कठोर नियंत्रण एवं सामाजिक विवशताओं के चलते वो निकल नहीं पाता है। ऐसे में विवश होकर गरीबी ओढ़नी पड़ती है, इसे हम सामाजिक सरोकारों से संबंधित निर्धनता कह सकते हैं।

ख. स्वास्थ्य संबंधी- जो व्यक्ति विश्व स्वास्थ्य संगठन के निर्धारित मापदण्डों पर खरा नहीं उतरता है वो अस्वस्थ है। उचित आहार की कमी, कम कैलोरी वाला भोजन, असंतुलित भोजन, अनेक प्रकार की बीमारियों को जन्म देते हैं जिनके कारण व्यक्ति प्रायः निर्बल और अक्षम हो जाता है। कालान्तर में यही निर्बलता बीमारी का रूप धारण कर लेती है। एक तो धनाभाव होता ही है ऊपर से बीमारी में इलाज का खर्चा वहन करना और भी मुश्किल हो जाता है।

3. स्वैच्छिक गरीबी- आर्थिक निर्धनता के अलावा स्वैच्छिक निर्धनता एक ऐसी गरीबी है जो व्यक्ति स्वयं ही अपनी इच्छा से धारण करता है। जैसे-

क. सादा जीवन उच्च विचार युक्त गरीबी- जो लोग सादा जीवन उच्च विचार में पूर्ण आस्था रखते हैं, वे लोग बड़ी से बड़ी सम्पत्ति को भी त्यागकर सन्यास धारण कर लेते हैं या फकीरी में ही अपना जीवन-यापन करना पसन्द करते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण मिल जायेंगे जिनके पास पहले सब कुछ था किन्तु आत्मिक-शांति के लिए उन्होंने अपना सब कुछ त्यागकर स्वेच्छा से ही निर्धनता का वरण किया है। भारत में ऐसे लोग अधिकांशतः आध्यात्मिक प्रवृत्ति के होते हैं तथा तद्रुरूप ही अपना जीवनयापन करते हैं। गांधी जी ने भी इसी प्रकार की निर्धनता का वर्णन किया था। वे प्रायः कहा करते थे ''जिन्होंने सचमुच स्वेच्छा स्वीकृत गरीबी के वृत्त का यथासंभव सम्पूर्णता की सीमा तक पालन किया है जो आदर्श दिशा तक पहुँचे है, वे इस बात की गवाही देते हैं कि जब आप अपने संग्रह की हर एक चीज का त्याग कर देते हैं तब दुनिया की सारी सम्पत्ति आपकी हो जाती है।''

जैन धर्म में भी यहीं शिक्षा दी जाती है कि अपनी आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओं या धन का संग्रह करना हिंसा की श्रेणी में माना गया है। गांधीजी कहा करते थे कि यदि भोजन की आवश्यकता है तो निश्चय ही भोजन मिल जायेगा किन्तु इससे पहले यह परम आवश्यक है कि आप सभी प्रकार की संग्रह प्रवृत्तियों का त्याग करें।

20.2.3 भारत में गरीबी

निर्धनता पर किये गये अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भारत की अधिकांश जनसंख्या निर्धनता से त्रस्त है। अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी उसके पास साधन नहीं होने के कारण करोड़ो भारतीय एक जून की रोटी खाकर अर्द्धनग्न स्थिति में गन्दी बस्तियों या टूटी-फूटी

झोपड़ियों में अपने जीवन का बोझ ढो रहे हैं। भारत में गरीबी को हम इस प्रकार समझ सकते हैं-

क. गरीबी का महिमा मण्डन- हमारे देश में आत्मिक सुख को सर्वोपरि माना है जबकि पश्चिमी देशों के विभिन्न अर्थशास्त्रियों जैसे- मार्शल, पीगू आदि ने भौतिक सुखों को सर्वोपरि माना है। भारत में भौतिक सामग्रियों के नहीं होने पर भी यही कहा जाता है। ''माना अपनी जेब से फकीर है फिर भी यारो दिल से हम अमीर है।''

ख. निर्धनता का निर्धारण- निर्धनता की बहुल समस्या पूरे विश्व में विद्यमान है ब्रिटिश अर्थशास्त्री एमएम डार्लिंग ने एक दिलचस्प तथ्य दिया था ''धरती समृद्ध है और लोग गरीब हैं।'' निर्धनता यानी एक विशेष अवस्था, जब समाज की एक ईकाई के पास कोई धन सम्पदा न हो और आय एवं आय के साधन अल्प हों तो वह व्यक्ति निर्धनता की श्रेणी में आएगा। डॉ0 पीआर सोढ़ाणी के अनुसार ''निर्धनता एक सापेक्षिक धारणा है। भारत में लोग निर्धन हैं क्योंकि वे निर्धन हैं।'' कहने का तात्पर्य यह है कि यदि हम भारतीय परिप्रेक्ष्य में निर्धनता का निर्धारण करने की बात करते हैं तो हमें यहाँ के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक व्यवस्थाओं एवं भारतीय दर्शन को सबसे पहले समझना पड़ेगा। इन सब को समझे बिना हम भारत में निर्धनता का निर्धारण वास्तविक रूप में नहीं कर सकते हैं।

20.2.4 भारत में गरीबी के कारण

भारत में निर्धनता के कोई एक जैसे या समान कारण पूरे देश में नहीं दिखते हैं। भौगोलिक खण्डों के अनुसार निर्धनता अलग-अलग कारणों से परिलक्षित होती प्रतीत होती है। निर्धनता के अनेक कारणों में से न्यूनाधिक प्रभावी कारण इस प्रकार हैं- 1. आर्थिक कारण, 2. जनसंख्या संबंधी कारण, 3. सामाजिक कारण, 4. भौगोलिक कारण, 5. प्राकृतिक कारण, 6. युद्ध एवं आतंकवाद, 7. प्रशासनिक कारण, 8. राजनीतिक कारण, 9. बढ़ता शहरीकरण, 10. उत्तर-पूर्व में समस्या, 11. धार्मिक आस्थायें, 12. शिक्षा का अभाव, 13. अकर्मण्यता 14. बढ़ती बेरोजगारी (श्रमशक्ति)

''दि इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक ओपिनियन''(1986) द्वारा गरीबी रेखा के नीचे व्यक्तियों को उपभोग व्यय के तीन स्तरों के आधार पर वर्गीकृत किया है, जिसमें गरीबी के तीन वलय- गरीब, अतिगरीब व दरिद्र का नाम दिया गया है। इसी प्रकार काकावानी व सुब्बाराव (1990) ने भी गरीबों को दो श्रेणियों- गरीब और अतिगरीब में विभाजित किया है। उद्योगों का पिछड़ा होना, देहातों में भूमिसंबंधों का रूढ़िग्रस्त होना, सिंचाई व कृषि उपकरणों जैसे कृषि संसाधनों का पिछड़ा होना, समाज में जातीय विभाजन के साथ ही संयुक्त परिवार प्रणाली के अन्तर्गत परिवार के सीमित साधनों का होना।

20.3 गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम

किसी राष्ट्र या समाज के लिए निर्धनता उन्मूलन का कार्य सहज एवं सरल नहीं है। कहा जाता है कि गरीबी से बढ़कर कोई अभिशाप मनुष्य के लिए नहीं है। गरीबी के लिए निम्नलिखित कारक उत्तरदायी हो सकते हैं- 1. शासन व्यवस्था, 2. सामाजिक व्यवस्था, 3. राजनीतिक

व्यवस्था, 4. कमजोर अर्थव्यवस्था, 5. नौकरशाही, 6. प्राकृतिक कारण (भौगोलिक कारकों सहित), 7. तकनीकी कारक, 8. अंधविश्वास, 9. अधिक जनसंख्या, 10. स्वयं व्यक्ति।

डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने कहा था ''ये भारतीय संविधान की अनोखी विशेषताएं हैं। इनमें एक कल्याणकारी राज्य के लक्ष्य निहित हैं। राजनीतिक तथा आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना को सुनिश्चित करना ही उस संविधान के निर्माण के मुख्य उद्देश्य हैं। ''भारत का संविधान इसके नागरिकों को धर्म, नस्ल, लिंग, जाति, वर्ग, जन्म, स्थान, तथा वंश इत्यादि आधारों के ध्यान में रखे बिना समानता, न्याय, स्वतंत्रता तथा शोषण से मुक्ति तथा संवैधानिक उपचारों का मौलिक अधिकार प्रदान करता है। वस्तुतः समाजवादी समाज की अवधारणा का प्रसार भी लोक कल्याणकारी राज्य से अनुप्राणित है। भारत के संविधान में 42वें संशोधन (1976) द्वारा प्रस्तावना में समाजवादी शब्द जोड़ा गया था किन्तु समाजवादी व्यवस्था के लक्ष्य सन् 1954 से ही दिखने लगे थे। उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार तथा महत्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके सरकार ने आर्थिक समानता की स्थापना का प्रयास अवश्य किया है किन्तु आज भी न्यूनतम मजदूरी की समस्या यथावत है।

भारत में निर्धनता उन्मूलन, स्वरोजगार को प्रोत्साहन, मजदूरी एवं पोषण को सुनिश्चित करने तथा समाज कल्याण के दायित्वों की पूर्ति हेतु केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा अनेक विकासपरक एवं कल्याणकारी कार्यक्रम संचालित किये जाते रहे हैं।

1. बीस सूत्री कार्यक्रम- इंदिरा गांधी ने 1 जुलाई 1975 को समाज के कमजोर वर्गों एवं क्षेत्रों के विकास के लिए बीस सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की थी। उस समय जीवन की आवश्यक वस्तुओं का अभाव, बढ़ती हुई कीमतें, वस्तुओं का संग्रह, मुनाफाखोरी, बेरोजगारी, उत्पादन के क्षेत्र में गतिहीनता से देश के समक्ष आर्थिक संकट के साथ-साथ, राजनैतिक संकट को भी उत्पन्न कर दिया था। 4 जनवरी 1982 को पुनः उपलब्धियों एवं सातवीं पंचवर्षीय योजना के उद्देश्यों के आधार पर राजीव गॉधी सरकार ने 20 अगस्त 1986 को पुनः संशोधित किया। इस कार्यक्रम के प्रमुख लक्ष्यों में गरीबी दूर करना, उत्पादकता को बढ़ाना, सामाजिक असमानता को दूर करना, जीवन स्तर को बढ़ाना आदि शामिल थे। यह एक बहुआयामी कार्यक्रम था इसमें ग्रामीण गरीबी को दूर करने के साथ-साथ,शिक्षा एवं समानता पर बल दिया गया।

2. महात्मा गाँधी राष्ट्रीय रोजगार गारण्टी कानून- महात्मा गाँधी राष्ट्रीय रोजगार गारण्टी कानून (मनरेगा) 7 सितम्बर 2005 को अधिसूचित किया गया था। इस कानून का लक्ष्य हर वित्तीय वर्ष में प्रत्येक परिवार के ऐसे व्यस्क व्यक्ति को कम से कम से कम 100 दिन का रोजगार सृजन वाला गैर-हुनर काम मुहैया कराना है जो सूखा, वनों की कटाई तथा भू-क्षरण के कारण लगातार पैदा होने वाली गरीबी की समस्या के निवारण में मददगार साबित हो ताकि लगातार रोजगार सृजन की प्रक्रिया जारी रहे। 1अप्रैल 2008 से देश के सभी जिलों में यह योजना लागू है।

क. मनरेगा का महत्व- मनरेगा का महत्व इस तथ्य से निहित है कि इसका संचालन अनेक स्तरों पर होता है। यह संवेदनशील वर्गों को ऐसे समय में रोजगार उपलब्ध कराता है जब उसके

दूसरे साधन कम हो गये हों या वे अपर्याप्त हों, जिससे वैकल्पिक रोजगार उपलब्ध होता है। इससे कानूनी अधिकार, रोजगार की मांग करने का अधिकार तथा समय सीमा में रोजगार उपलब्ध कराने के लिए सरकार को जवाबदेह बनाकर मजदूरी प्राप्ति ढ़ाचा भी निर्मित करता है।

ख. कानूनी विशेषताऐं- अधिकार पर आधारित ढ़ांचा- इसमें ग्राम पंचायत द्वारा गांव के जो वयस्क लोग गैर-हुनर वाले काम के इच्छुक लोगों को जॉब कार्ड पाने वाले परिवार ग्राम पंचायत के पास रोजगार के लिए दरख्वास्त करेंगे, जिस दरख्वास्त पर काम पाने के समय और अवधि का जिक्र रहेगा। **समय-सीमाबद्ध गारंटी-** ग्राम पंचायत रोजगार संबंधी लिखित दरख्वास्त की तारीख को नहीं दिया जाता है, तो उसे नकद दैनिक बेरोजगारी भत्ते का भुगतान किया जायेगा। बेरोजगारी भत्ते के भुगतान की जिम्मेदारी राज्य सरकार की होगी।

ग. महिलाओं के अधिकार- जितने लोगों को काम दिया जायेगा। उनमें से कम से कम एक तिहाई महिला होनी चाहिए।

घ. नरेगा के तहत अनुमत काम- 1. जल संरक्षण, 2. सूखा रोकने वाले काम (पौंधारोपण तथा वनीकरण सहित), 3. सिंचाई नहर, 4. लघु सिंचाई, बागवानी तथा भूमि विकास। यह भूमि अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, गरीबी रेखा के नीचे तथा भूमि सुधार के लाभार्थियों की होनी चाहिए, 5. पारंपरिक जल निकायों का जीर्णोद्धार, 6. बाढ़ नियंत्रण, 7. भूमि विकास, 8. ग्रामीण विकास।

3. राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन- राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन(NRHM) शुरुआत 12 अप्रैल 2005 को सूदूरतम ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनतम परिवारों तक इसकी पहुँच, वहनीय और विश्वसनीय गुणवत्तापूर्ण स्वास्थ्य सेवाऐं मुहैया कराने हेतु की गयी थी। इस मिशन को पूरे देश में कार्यान्वित किया गया जिसमें 18 राज्यों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इसमें 8 अधिकार प्राप्त कार्यवाही समूह वाले राज्य (बिहार, झारखण्ड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, उड़ीसा और राजस्थान), 8 पूर्वोत्तर राज्य तथा हिमाचल प्रदेश और जम्मू-कश्मीर शामिल हैं। मिशन का मुख्य उद्देश्य गरीब और कमजोर वर्गों को सुलभ, जवाबदेह, प्रभावी और विश्वसनीय प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधाएं विशेष रूप से मुहैया कराना है।

4. राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा विधेयक, 2011- गरीबों को खाद्य सुरक्षा की गारंटी देने वाले खाद्य सुरक्षा विधेयक को कैबिनेट की मंजूरी मिलने के बाद गत 22 दिसंबर 2011 को इसे लोकसभा में पेश किया गया। इस विधेयक में 75 फीसदी ग्रामीण एवं 50 फीसदी शहरी आबादी को सस्ता अनाज उपलब्ध करवाने का प्रावधान है। इस विधेयक को खाद्य सुरक्षा प्रदान करने के लिए दुनिया के सबसे बड़े प्रयोग के रूप में देखा जा रहा है। इसके दायरे में देश की करीब तीन चौथाई गरीब आबादी होगी। फिलहाल व्यापक सुझावों एवं विचार-विमर्श हेतु इस विधेयक को संसद की स्थायी समिति के पास भेज दिया गया है। राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा विधेयक 2011 का प्रारूप तथा इसकी मुख्य बातें निम्न हैं -

- इस विधेयक को राष्ट्रीय विकास परिषद, राष्ट्रीय सलाहकार परिषद, खाद्य एवं उपभोक्ता मामले के मंत्रालय, अन्य मंत्रालयों तथा राज्य सरकारों के सुझावों के आधार पर तैयार किया गया है।
- विधेयक के पारित होने के बाद देश की 63.5 प्रतिशत आबादी (लगभग 80 करोड़ जनता) को सस्ता अनाज पाने की गारंटी मिल जाएगी।
- विधेयक के तहत लाभार्थियों के दो वर्ग निर्धारित किए गये है। पहले वर्ग में प्राथमिकता वाले परिवारों यानी गरीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन करे वाले परिवारों को सम्मिलित किया गया है। दूसरा वर्ग सामान्य परिवारों यानी गरीबी रेखा के ऊपर के परिवारों का है। प्राथमिकता समूह के तहत ग्रामीण आबादी का कम से कम 46 फीसदी तथा शहरी आबादी का 28 फीसदी लाभार्थी होगा।

5. स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना- यह योजना पूर्ववर्ती छः कार्यक्रमों- ट्राइसेम, द्वाकरा, सिट्रा, गंगा कल्याण योजना, दस लाख कुँआ योजना, तथा आई0आर0डी0पी0 को एकीकृत करके संचालित की जा रही है। गाँवों में गरीब व्यक्तियों की क्षमता पर आधारित सूक्ष्म उद्यम स्थापित करने के लिए स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्व-रोजगार योजना की शुरुआत 1अप्रैल, 1999 से की गई। केन्द्र एवं राज्य सरकार इस योजना में 75:25 के अनुपात में व्यय करती है।

इस योजना का उद्देश्य सहायता प्राप्त प्रत्येक परिवार को गरीबी रेखा से ऊपर उठाना है। इस योजना का उद्देश्य ग्रामीण गरीबों को स्वयं सहायता समूहों (SHGs) में संगठित करके उनकी क्षमतावर्द्धन के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक गतिविधियों का चयन, आधारभूत संरचना का निर्माण तकनीक एवं साख उपलब्ध करवाना एवं बाजार से संबंधित कार्य भी इस योजना के आवश्यक अंक हैं।

इस योजना के लाभार्थियों, स्वरोजगारियों में कम से कम 50 प्रतिशत अनुसूचजाति/अनुसूचित जनजाति के सदस्य, 40 प्रतिशत महिलायें (सभी वर्गों में) तथा 3 प्रतिशत विकलांग होने चाहिए।

6. इन्दिरा आवास योजना- जवाहर योजना की उपयोजना के रूप में मई, 1985 से इन्दिरा आवास योजना शुरू की गई थी। इसे जनवरी, 1996 से एक स्वतंत्र योजना घोषित किया गया। योजना का वित्तीय भार 75:25 के अनुपात में केन्द्र एवं राज्य सरकार द्वारा वहन किया जाता है।

क. योजना का उद्देश्य- इस योजना का उद्देश्य गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले अनुसूचित जनजाति, तथा मुक्त बंधुआ मजदूरों तथा गैर-अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति के गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले ग्रामीण लोगों को अनुदान उपलब्ध करवा कर सहायता करना है। दिनांक 1अप्रैल 1999 को हुए संशोधन के पश्चात अब इस योजना में कच्चे आवास/अर्द्ध पक्के आवासों को क्रमोन्नत करने का प्रावधान भी किया गया है- 1. मुक्त बंधुआ मजदूर, 2. अनुसूचित जाति/ अनुसूचित जनजाति के परिवार जो अत्याचारों से पीड़ित है, 3. अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के ऐसे परिवार जो बाढ़, आगजनी, भूकम्प,

चक्रवात तथा अन्य प्राकृतिक आपदाओं से पीड़ित हैं, 4. अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के ऐसे परिवार जिनकी मुखिया विधवाएं तथा अविवाहित महिलाएं हैं, 5. अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के अन्य परिवार, 6. युद्ध मारे गये सुरक्षा सेनाओं के कार्मिक/अर्द्धसैनिक बलों की विधवाएं, 7. गैर-अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के परिवार, 8. शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति, 9. विकासात्मक परियोजनाओं के कारण विस्थापित हुए व्यक्ति, खानाबदोश, अर्द्ध-खानोबदोश तथा निर्दिष्ट आदिवासी, विकलांग सदस्यों वाले परिवार तथा आन्तरिक शरणार्थी बशर्ते कि ये परिवार गरीबी रेखा से नीचे हों।

ख. योजना के अन्य प्रावधान निम्नलिखित हैं- 1.आवास का निर्माण स्वयं लाभार्थी द्वारा उसके पास उपलब्ध भूमि पर करवाया जाता है। 2. आवास हेतु कोई विशेष डिजाइन निर्धारित नहीं है। 3. स्थानीय सामग्री का उपयोग कर लाभार्थी द्वारा न्यूनतम 20 वर्गमीटर प्लेन एरिया में अपनी आवश्यकतानुसार निर्माण कराया जाता है। 4. मकानों के आवंटन लाभार्थी परिवार के महिला सदस्य अथवा पति एवं पत्नी दोनों के नाम किया जाता है। 5. वित्त वर्ष में योजना के अन्तर्गत आवन्टित राशि का कम से कम 60 प्रतिशत अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले परिवारों पर व्यय करना आवश्यक है। 6. तीन प्रतिशत निधियाँ गरीबी रेखा से नीचे के शारीरिक एवं मानसिक रूप से विकलांग लोगों के लिए निर्धारित है।

7. प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना(ग्रामीण विकास)- 1अप्रैल 2001 से प्रारम्भ की गई प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना के छः प्रमुख भाग हैं। इनमें ग्रामीण आवास, स्वास्थ्य एवं पोषाहार, प्राथमिक शिक्षा, पेयजल तथा ग्रामीण विद्युतीकरण सम्मिलित है। प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना (ग्रामीण विकास) में वही प्रावधान हैं जो इन्दिरा आवास योजना में नये मकान तथा कच्चे मकान, केन्द्र प्रवर्तित करने से संबंधित है। इस केन्द्र प्रवर्तित योजना में राज्यों को 70 प्रतिशत राशि ऋण के रूप में तथा 30 प्रतिशत अनुदान के रूप में उपलब्ध कराई जाती है।

इस योजना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी की रेखा से नीचे के परिवारों के लिए आवास की कमी को कम करना तथा इन क्षेत्रों में स्वस्थ पर्यावरण विकसित करने में सहायता देना है।

इस योजना में इन्दिरा आवास के सभी प्रावधान लागू हैं। गैर-अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के गरीबी रेखा से नीचे के परिवारों के लिए एक वित्तीय वर्ष में कुल आवण्टित का 40 प्रतिशत से अधिक उपयोग नहीं किया जा सकेगा तथा मुख्य निधियों का 3 प्रतिशत भाग गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन कर रहे विकलांगों के लिए होगा।

इस योजना के अन्य प्रावधानों में निर्धन परिवारों के लिए आवासों के निर्माण के साथ-साथ ग्रामीण खड़ंजे, आन्तरिक सड़कें, जल निकासी, पेयजल सुविधा बस्ती सुधार तथा वृक्षारोपण कार्य हेतु कुल आवण्टित राशि का 10 प्रतिशत तक व्यय किये जाने का प्राविधान है।

8. ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम- ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम वर्ष 1986 में लागू किया गया था जिसका उद्देश्य ग्रामीण समुदाय के लोगों की स्वच्छता के स्तर में सुधार लाना एवं महिलाओं

के लिए शौचालय जाते समय पर्दा और मर्यादा प्रदान करना था। स्वच्छता कार्यक्रम में आज व्यक्तिगत स्वच्छता, घरेलू स्वच्छता, पीने का साफ पानी, कचरे का निबटारा, मल-मूत्र का निपटारा एवं गंदे पानी की निकासी आदि विषयों को भी शमिल कर लिया गया है।

क. ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम का उद्देश्य- 1. ग्रामीण क्षेत्रों में जीवन स्तर को बेहतर बनाना, 2. ग्रामीण आबादी से स्वच्छता कार्यक्रमों के आच्छादन को बढ़ाना, 3. स्वास्थ्य, शिक्षा एवं जागरुकता के माध्यम से स्वच्छता सुविधाओं की आवश्यकता महसूस कराना, 4. ग्रामीण क्षेत्रों के विद्यालयों को स्वच्छता सुविधाएं उपलब्ध करवाना और विद्यार्थियों में स्वच्छता की आदत को प्रोत्साहन देना, 5. स्वच्छता क्षेत्र में कम खर्च की उपर्युक्त एवं सार्थक तकनीकों को प्रोत्साहन देना, 6. जल एवं स्वच्छता से जुड़ी समस्या, बीमारियों की दर में कमी।

ख. कार्यक्रम क्रियान्वयन- संपूर्ण स्वच्छता अभियान को चुने हुए जिले में आरंभिक गतिविधियों के साथ-साथ विभिन्न चरणों में क्रियान्वित किया जाता है। व्यक्तिगत लाभार्थी अपने घरेलू शौचालयों में विभिन्न प्रकार के उपलब्ध नमूनों मे से किसी एक को चुन सकते हैं और उनकी पसंद के आधार पर ही भौतिक क्रियान्वयन शुरु किया जाता है। अभियान रूपी इस कार्यनीति में शासकीय संस्थाओं एवं अन्य प्रतिभागियों, गैर-सरकारी संस्थाओं की सक्रिय भागीदारी, गहन संचार, वैकल्पिक आपूर्ति प्रणालियों की स्थापना एवं मांग तथा पारस्परिक संबंधों पर जोर दिया गया है।

9. राष्ट्रीय पोषाहार कार्यक्रम- राष्ट्रीय पोषाहार कार्यक्रम (मिड-डे मिल योजना) का क्रियान्वयन पूरे देश में उच्चतम न्यायालय के निर्देशों के अनुसार किया जाता है एवं उसके परिवहन पर हुए व्यय का पुनर्भरण भी भारत सरकार द्वारा किया जाता है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य विद्यालयी शिक्षा का सार्वजनीकरण, बच्चों का शालाओं में नामांकन एवं ठहराव सुनिश्चित करना उन्हें पौष्टिक आहार उपलब्ध कराना।

10. सांसद स्थानीय क्षेत्र विकास योजना- सांसद स्थानीय क्षेत्र विकास योजना की घोषणा तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री पीवी नरसिम्हाराव द्वारा 23 दिसम्बर, 1993 को की गयी थी। शुरु में प्रतिवर्ष प्रत्येक सांसद को एक करोड़ रुपये वार्षिक दिये जाते थे जो कालांतर में 5 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष कर दिये गये हैं। योजना का मुख्य उद्देश्य स्थानीय आवश्यकता आधारित विकास कार्य करवा कर जनोपयोगी एवं टिकाऊ परिसम्पत्तियों का सृजन करना है।

11. विधायक स्थानीय क्षेत्र विकास कार्यक्रम- राज्य स्तर पर प्रत्येक विधानसभा क्षेत्र में स्थानीय विधायक की अनुशंसा पर जनोपयोगी कार्यों का निर्माण कराने के लिए ''विधायक स्थानीय क्षेत्र विकास कार्यक्रम'' शुरु किये गये हैं। सामान्यतः इसकी राशि 2 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष है। इस योजना का उद्देश्य स्थानीय आवश्यकता के अनुरूप राजकीय पंचायती राज्य/स्थानीय स्वायत्तशासी निकाय के स्वामित्व की जनोपयोगी व परिसम्पत्तियों का निर्माण करना, क्षेत्रीय विकास में असंतुलन दूर करना तथा स्थानीय समुदाय में स्वावलम्बन एवं आत्मविश्वास को प्रोत्साहन देना।

20.4 भारत मे गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों का मूल्यांकन

योजना आयोग द्वारा नवीनतम निर्धनता रेखा आंकलन जारी किया है जिसने पिछले पांच वर्ष (2004-05 से 2009-10) में गरीबी में 7.3 प्रतिशत की कमी का संकेत दिया है। योजना आयोग के अनुसार शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों में क्रमशः 28.35 रु0 22.42 रू0 से ऊपर के प्रतिदिन उपभोग व्यय वाले व्यक्ति निर्धनता रेखा के ऊपर हैं। योजना आयोग का अनुमान है कि 2005 से 2010 के बीच 5.2 करोड़ लोग गरीबी रेखा से बाहर निकल गए। ग्रामीण क्षेत्रों के लिए गरीबी की रेखा 42 प्रतिशत तक आ गई है जबकि शहरी क्षेत्रों में यह 26 प्रतिशत से 21 प्रतिशत पर आ गई है। योजना आयोग का कहना है कि निर्धनतम राज्य- बिहार, उत्तर प्रदेश तथा छत्तीसगढ़ गरीबी में हल्की गिरावट प्रदर्शित कर रहे हैं। तथा पांच पूर्वोत्तर राज्यों- असम, मेघालय, मिजोरम, मणिपुर, तथा नागालैण्ड ने वस्तुतः गरीबी में बढ़ोत्तरी प्रदर्शित की है। आयोग के नवीनतम निष्कर्षों के अनुसार, देश में गरीबों की कुल संख्या 2004-05 में 40.72 करोड़ के मुकाबले 2009-10 में 34.47 करोड़ आकलित की गई है। उपभोक्ता व्यय सर्वेक्षण तथा मुद्रास्फीति के आधार पर, योजना आयोग ने कहा ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता रेखा, 2004-05 के 2,234रू0 के मुकाबले 2009-2010 में 2,894रु0 प्रतिमाह प्रति परिवार थी। शहरी क्षेत्रों के लिए नई रेखा 2004-05 के 3,364 रु0 के मुकाबले 2009-10 में 4,298 रु0 थी। इसके अलावा आयोग ने स्पष्ट कर दिया है कि सरकार की निर्धनता उन्मूलन नीतियों के अधीन सामाजिक क्षेत्र के प्रभारों को निर्धारित करने के लिए एक नई प्रविधि पर काम किया जाएगा। देश में बढ़ती निर्धनता का कोई भी आंकलन केवल एक या दो आयामों से कभी भी आंका नहीं जा सकता। एक ठोस निर्धनता रेखा की महती प्रासंगिता है। यह निर्धनता उन्मूलन कार्यक्रमों के लिए लक्षित समूहों को ज्ञात करने में सहायक है। यह जीवन के अमानवीय स्वरूप की इस व्याधि से निपटने, विभिन्न निर्धनता उन्मूलन योजनाओं के निष्पादन को प्रदर्शित करता है। निर्धनता रेखा इस ढंग से निरूपित की जाए कि इसमें एक गरिमापूर्ण जीवन के सभी महत्वपूर्ण पहलू समाहित हों। निर्धनता रेखा की प्रासंगिकता मनरेगा के पूर्ण लक्ष्यों की पूर्ति में और बढ़ जाती है। शिक्षा, स्वास्थ्य, बीमा पर समस्त सरकारी नीतियों के प्रभावी कार्यान्वयन का एकमात्र मार्ग, हमारे देश के निर्धन लोगों को ढंग से लक्षित करके ही है, तथा यह केवल निर्धनता रेखा आंकलन के सही तरीके को पारिभाषित करके ही प्राप्त किया जा सकता है। इसके अलावा, निर्धनता व सरकारी सहायता(सब्सिडी) में सीधा संबंध है। एक गैर-योजनागत व्यय, सहायिकी, ने भारतीय राजकोषीय स्थिति को कुप्रभावित किया है। खाद्य सहायिकी जो मुख्यतः लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली(टीपीडीएस) द्वारा वितरित की जाती रही है। बीपीएल व एपीएल के समुचित मानदंडों की अनुपिस्थति में खाद्य सहायिकी अभी तक सबसे जरूरतमंदो तक नहीं पहुँची और कई बार राजसहायता का दुरूपयोग किया गया वह अत्यंत अप्रयुक्त बची रही। इसीलिए निर्धनता का एक सटीक मापदंड कल्याणकारी कार्यक्रमों के प्रभावी क्रियान्वयन तथा निष्पादन व रुझानों के आधार पर उनके मूल्यांकन की अनिवार्य पूर्वापेक्षा है। यूएनडीपी का बहुआयामी निर्धनता सूचकांक- 2011, 53.7 प्रतिशत (61.2

करोड़) भारतीयों को बहुआयामी निर्धनों के वर्ग में रखता है, जो कि विश्व में ऐसे निर्धन लोगों का सबसे बड़ा संकेद्रण है। बहुआयामी निर्धनता सूचकांक (एमपीआई) स्वास्थ्य सेवाओं, स्वच्छ जल तथा ईधन तक पहुँच, मूलभूत घरेलू सामान तथा घर विनिर्माण के स्तरों जैसे कई कारकों का परीक्षण करता है, जो कि मिलकर केवल आय मापन के मुकाबले निर्धनता का एक संपूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं। एमपीआई स्वास्थ्य, शिक्षा तथा जीवन स्तरों में कमी को, वंचित लोगों की संख्या व उनकी संचना की तीव्रता दोनों को संयुक्त रूप से मापता है।

किसी भी निर्धनता रेखा में स्वच्छता (सैनिटेशन) को एक महत्वपूर्ण पैमाने के रूप में शामिल करना चाहिए। उचित जल निकासी और अपशिष्ट प्रबंधन की सुविधा के बिना रहने वाले लोगों को उनकी आर्थिक स्थिति चाहे जो भी हो, निर्धनता रेखा के नीचे का माना जाना चाहिए। स्वास्थ्य और कुपोषण के मुद्दों को निर्धनता में सबसे प्रमुख मापदंड के रुप में शामिल करना चाहिए। यदि लोग व्यापक संक्रमण तथा कुपोषण से पीड़ित हैं तो सभी प्रभावित लोगों के लिए बीपीएल के समान ही व्यवहार किया जाना चाहिए।

निर्धनता, निरक्षरता को जन्म देती है तथा निरक्षरता गैर-जिम्मेदार शासन को जन्म देती है। वास्तव में बेसहारा तथा एक अमानवीय परिस्थिति में पड़ा एक आदमी कभी भी दो जून की रोटी से अधिक नहीं सोच सकता। दो वक्त का खाना उसका भूत, वर्तमान व भविष्य है तथा जब वे उसे चुनावों के दौरान राजनीतिज्ञों द्वारा कुछ दिनों का खाना मिलता है तो अपने वोट का सौदा करने से भी नहीं हिचकते। सारी योजनाऐं तथा जागरूकता कार्यक्रम बुरी तरह असफल हो गए हैं तथा भुखमरी की छाया विकास घोषणापत्रों को ग्रस रही है और वर्तमान, भविष्य की चेतना पर हावी है। भारत में यह प्रवृत्ति इतने सालों से जारी है यदि बढ़ती निर्धनता ने अनियंत्रित स्वरुप ले लिया तो अर्थशास्त्रियों समेत सभी के लिए इससे निबटना दुष्कर हो जाएगा।

अभ्यास प्रश्न -

1. गरीबी के लिए उत्तरदायी कारक है?

क. सामाजिक ख. आर्थिक ग. राजनैतिक घ. उपरोक्त सभी

2. यू0एन0डी0पी0 की एक रिपोर्ट (2011) के अनुसार निर्धनों संख्या की दृष्टि से किस देश में सबसे ज्यादा 53.7 प्रतिशत (61.2 करोड़) गरीब लोग हैं।

क. चीन ख. संयुक्त राज्य अमेरिका ग. ब्राजील घ. भारत

3. भारत में गरीबी का प्रमुख कारण क्या है?

क. जनसंख्या वृद्धि ख. पूँजी निर्माण की कमी

ग. वैज्ञानिक प्रगति को आत्मसात न करना घ. उपरोक्त सभी

4. भारत में गरीबी हटाओ का नारा 1971 में किस प्रधानमंत्री ने दिया?

क. पंडित जवाहर लाल नेहरू ख. इन्दिरा गांधी

ग. अटल बिहारी वाजपेयी घ. लाल बहादुर शास्त्री

5. रोजगार गारण्टी कानून कब लागू किया गया?

क. 7 सितम्बर 2005 ख. 7 अक्टूबर 2005

ग. 15 जुलाई 2006 घ. 2 अक्टूबर 2008

6. भारत में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम निम्न में से कौन सा नही है?

क. इंदिरा आवास योजना ख. मनरेगा

ग. खाद्य सुरक्षा योजना घ. भारतीय अन्तरिक्ष कार्यक्रम

20.5 सारांश

जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं का न होना ही गरीबी है। भारत मे एक तिहाई आबादी गरीबी का जीवन व्यतीत कर रही है। स्वतंत्रता के बाद देश की सरकारो ने गरीबी उन्मूलन के लिए काफी प्रयास किए है। और आज देश मे गरीबी रेखा से नीचे के लोगों को सस्ते दर पर अनाज, आवास की सुविधा, काम के अधिकार की गांरटी इत्यादि सुविधाये उपलब्ध है। भारत मे जनसंख्या वृद्वि के बावजूद गरीबी के प्रतिशतता मे कमी आयी है। और आज गरीबी उन्मूलन के तमाम प्रयासों के बाद गरीबों के जीवन स्तर मे सुधार हुआ है। लेकिन अभी भी गरीबी उन्मूलन के लिए बहुत सारे कार्य किये जाने बाकी है क्योकि करोडो़ लोगों को दो जून की रोटी नसीब नहीं हैं।

20.6 शब्दावली

निर्धनता रेखा- निर्धनता को मापने के लिए निर्धारित स्तर, गरीबी उन्मूलन- गरीबी को समाप्त करने के लिए प्रयास, बेरोजगारी- काम करने की क्षमता रहते हुए भी रोजगार का न मिलना, स्वैच्छिक गरीबी- जिनका अपनी इच्छा से जीवन की न्यूनतम सुविधाओं का उपभोग में खुशी हो, खानाबदोश- जिनका किसी एक जगह घर या ठिकाना न हो, हमेशा अन्यत्र निवास करते रहो।

20.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. घ, **2.** घ, **3.** घ, **4.** ख, **5.** ख, **6.** घ

20.8 संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. Karat, Brinda (2006); Planning Commision and Poverty estimates, The Hindu, Nov.1.2006, P. 10.
2. Sundaram, K; Tendulkar, D. Suresh : Poverty in India in the 1990_s (An Analysis of Changes in 15 Major States), EPW, Vol. xxxviii, No., 15, April, 2003.
3. Mishra, S.N. : Poverty Alleviation Progrmmes and Gram Panda Yats, Mittal Publications, New Delhi, 1997.
4. राजेन्द्र सिंह, भारतीय अर्थवयवस्था में गरीबी उन्मूलन की समस्याऐं , राधा पब्लिकेशन, अंसारीरोड, दरियागंज, नई दिल्ली, 1989
5. डॉ0 सुरेन्द्र कटारिया व योगेश कानवा, 'भारत में आर्थिक नियोजन एवं निर्धनता उन्मूलन, आर0बी0एस0ए0 पब्लिशर्स, जयपुर, 2006
6. अमर्त्य सेन, गरीबी और अकाल, राजपाल एण्ड सन्स्, कश्मीरी गेट दिल्ली 2000

7. नाटावी, प्रकाश नारायण- ग्रामीण गरीबी तथा बेरोजगारीः कारण और समाधान, कुरुक्षेत्र, वर्ष 53, अंक 9, जुलाई 2007
8. प्रो0 मोहित भट्टाचार्य, 'लोक प्रशासन, संरचना, प्रक्रिया और व्यवहार, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 1996
9. योजना, अक्टूबर 2009, राष्ट्रीयग्रामीण स्वास्थ्य मिशन पेज 17- 19
10. योजना अक्टूबर 2008, गरीबी निर्धारण का अर्थशास्त्र, पेज 47- 51

20.9 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. राजेन्द्र सिंह, भारतीय अर्थवयवस्था में गरीबी उन्मूलन की समस्याऐं , राधा पब्लिकेशन, अंसारीरोड, दरियागंज, नई दिल्ली, 1989
2. डॉ0 सुरेन्द्र कटारिया व योगेश कानवा, 'भारत में आर्थिक नियोजन एवं निर्धनता उन्मूलन, आर0बी0एस0ए0 पब्लिशर्स, जयपुर, 2006
3. अमर्त्य सेन, गरीबी और अकाल, राजपाल एण्ड सन्स्, कश्मीरी गेट दिल्ली 2000
4. नाटावी, प्रकाश नारायण- ग्रामीण गरीबी तथा बेरोजगारीः कारण और समाधान, कुरुक्षेत्र, वर्ष 53, अंक 9, जुलाई 2007
5. प्रो0 मोहित भट्टाचार्य, 'लोक प्रशासन, संरचना, प्रक्रिया और व्यवहार, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 1996
6. योजना, अक्टूबर 2009, राष्ट्रीयग्रामीण स्वास्थ्य मिशन पेज 17- 19
7. योजना अक्टूबर 2008, गरीबी निर्धारण का अर्थशास्त्र, पेज 47- 51

20.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में गरीबी पर एक लेख लिखिए।
2. भारत में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
3. भारत में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों की सफलता पर आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
4. भारत में गरीबी उन्मूलन के मार्ग में आने वाली बाधाओं का उल्लेख कीजिए।

इकाई- 21 पंचायती राज

इकाई की संरचना

21.0 प्रस्तावना
21.1 उद्देश्य
21.2 पंचायती राज की पृष्ठभूमि
21.3 भारत में पंचायती राज की स्थिति
    21.3.1 स्वतंत्रता पूर्व भारत में पंचायती राज
    21.3.2 स्वतंत्रता पश्चात भारत में पंचायती राज
21.4 पंचायती राज के विकास के लिए प्रयास
    21.4.1 बलवन्त राय मेहता समिति
    21.4.2 अशोक मेहतासमिति
    21.4.3 जी0वी0के0 राव समिति
    21.4.4 डॉ0 एल0एम0 समिति
    21.4.5 साकारिया आयोग
    21.4.6 पी0के0 थुंगर समिति
21.5 विकेन्द्रीकरण
    21.5.1 विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता एवं महत्व
    21.5.2 विकेन्द्रीकरण के आयाम
21.6 स्थानीय स्वशासन
    21.6.1 संविधान संशोधन और स्थानीय स्वशासन
    21.6.2 स्थानीय स्वशासन और पंचायतें
21.7 तिहतरवां संविधान संशोधन और पंचायती राज
    21.7.1 तिहतरवां संविधान संशोधन अधिनियम
    21.7.2 तिहतरवें संविधान संशोधन में मुख्य बातें
    21.7.3 तिहतरवें संविधान संशोधन की मुख्य विशेषताऐं
21.8 सारांश
21.9 शब्दावली
21.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
21.11 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
21.12 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
21.13 निबंधात्मक प्रश्न

21.0 प्रस्तावना

पंचायती राज का इतिहास कोई नया नहीं अपितु यह आदिकाल से हमारी पुरातन धरोहर है। भारतीय ग्रामीण व्यवस्था में सामुदायिकता की भावना प्राचीन काल से विद्यमान रही है। इसी

सामुदायिकता व परम्परागत संगठन के आधार पर पंचायत व्यवस्था का जन्म हुआ। इसीलिए हमारे देश में पंचायतों की व्यवस्था भी सदियों से चली आ रही है। भारतीय संस्कृति के विकास के साथ पंचायती व्यवस्था का जन्म और विकास हुआ। पंचायत शब्द पंच+आयत से बना है। पंच का अर्थ है समुदाय या संस्था तथा आयत का अर्थ है विकास या विस्तार। अतः सामूहिक रूप से गांव का विकास ही पंचायत का वास्तविक अर्थ है। ये संस्थाऐं हमारे समाज की बुनियादी संस्थाऐं हैं और किसी न किसी रूप में ये संस्थाऐं हमारी संस्कृति व शासन प्रणाली का अभिन्न हिस्सा रही हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के विकास, प्रशासन व न्याय की जिम्मेदारी इन्हीं संस्थाओं की थी। राजा-महाराजा भी स्थानीय स्तर पर काम काज के संचालन हेतु इन्हीं संस्थाओं पर निर्भर रहते थे। स्थानीय स्तर पर सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में न रह कर सामूहिक रहती थी, इसीलिए इन्हें गणतन्त्र की स्थानीय इकाईयों के रूप में मान- सम्मान दिया जाता था। ग्राम पंचायत ग्रामीण क्षेत्रों में शासन प्रबन्ध, शान्ति और सुरक्षा की एकमात्र संस्थाऐं रही हैं। डाक्टर राधाकुमुन्द मुखर्जी ने लिखा है कि ये समस्त जनता की सामान्य सभा के रूप में अपने सदस्यों के समान अधिकारों, स्वतंत्रताओं के लिए निर्मित होती हैं ताकि सब में समानता, स्वतंत्रता तथा बंधुत्व का विचार दृढ़ रहे। अतः यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में पंचायती राज का गौरवशाली अतीत रहा है।

हम नब्बे के दशक में भारत सरकार द्वारा पंचायतों को नया स्वरूप देने के उद्देश्य से भारतीय संविधान में किये गये 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के बारे में पढ़ेंगे। प्राचीन समय में भी देश के गांवों का पूरा कामकाज पंचायतें ही चलाती थी। लोग इस संस्था को गहरी आस्था व सम्मान की की दृष्टि से देखते थे, इसलिये इसका निर्णय भी सब को मान्य होता था। इसी धारणा को ध्यान में रख कर व सामान्य व्यक्ति की शासन में भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए पंचायतों को संवैधानिक स्थान देने की आवश्यकता हुई। जिसके लिए संविधान का 73वॉ संविधान संशोधन किया गया। जिसका विस्तृत अध्ययन आप इस अध्याय में करेंगे।

21.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारत में पंचायती राज की पृष्ठभूमि और उसकी स्थिति के संबंध में जान पायेंगे।
- पंचायती राज के विकास के लिए किए जा रहे विकास कार्यों के संबंध में जान पायेंगे।
- विकेन्द्रीकरण और स्थानीय स्वशासन को समझ पायेंगे।
- तिहतरवें संविधान संशोधन का अध्ययन करने के उपरान्त आप भारत में पंचायती राज के संवैधानिक पहलुओं के संबंध में जान पायेंगे।

21.2 भारत में पंचायती राज की पृष्ठभूमि

प्राचीन काल में पंचायतों का स्वरूप कुछ और था। यद्यपि इन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्राप्त नहीं था, लेकिन गांवों से जुड़े विकास व न्याय सम्बन्धित निर्णयों के लिए ये संस्थाऐं पूर्ण रूप से जिम्मेदार थीं। प्राचीन काल में गांवों में पंच-परमेश्वर की प्रणाली मौजूद थी। गांव में

सर्वसहमति से चुने गये पाँच गणमान्य व बुद्धिमान व्यक्तियों को गांव में न्याय व्यवस्था बनाने व गांव के विकास हेतु निर्णय लेने का अधिकार था। उन्हें तो पंच-परमेश्वर तक कहा जाता था। पंच परमेश्वर द्वारा न्याय को सरल और सुलभ बनाने की प्रथा काफी मजबूत थी। उस समय ये पंच एक संस्था के रूप में कार्य करते थे। गांव के झगड़े, गांव की व्यवस्थायें सुधारना जैसे मुख्य कार्य पंच परमेश्वर संस्था किया करती थी। उसके कायदे कानून लिखित नहीं होते थे फिर भी उनका प्रभाव समाज पर ज्यादा होता था। पंचों के फैसले के खिलाफ जाने की कोई सोच भी नहीं सकता था। पंचों का सम्मान बहुत था व उनके पास समाज का भरोसा और ताकत भी थी। लोग पंचों के प्रति बड़ा विश्वास रखते थे और उनका निर्णय सहज स्वीकार कर लेते थे। पंच परमेश्वर भी बिना किसी पक्षपात के कोई निर्णय किया करती थी। मुंशी प्रेमचन्द ने अपनी कहानी पंच परमेश्वर द्वारा प्राचीन काल में स्थापित इस पंच प्रणाली को काफी सरल तरीके से समझाया है। प्राचीन काल में जातिगत व कबाइली पंचायतों का भी जिक्र भी मिलता है। इन पंचायतों के प्रमुख गांव के विद्वान व कबीले के मुखिया हुआ करते थे। इन पंचायतों में कोई भी निर्णय लेने हेतु तब तक विचार-विमर्श किया जाता था जब तक कि सर्वसहमति से निर्णय न हो जाये।

राजा-महाराजा काल में स्थानीय स्वशासन को काफी महत्व दिया गया। उनके द्वारा भी जनता को सत्ता सौंपने की प्रथा को अपनाया गया। भारत जैसे विशाल देश को एक केन्द्र से शासित करना राजाओं व सम्राटों के लिए सम्भव नहीं था। अतः राज्य को सूबों, जनपद, ग्राम समितियों अथवा ग्राम सभाओं में बांटा गया। वेदों, बौद्ध ग्रन्थों, जातक कथाओं, उपनिषदों आदि में इस व्यवस्था के रूप में पंचायतों के आस्तित्व के पूर्ण साक्ष्य मिलते हैं। मनुस्मृति तथा महाभारत के शांति-पर्व में ग्राम सभाओं का उल्लेख है। रामायण में इसका वर्णन जनपदों के नाम से आता है। महाभारत काल में भी इन संस्थानों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वैदिक कालीन तथा उत्तर-वैदिक कालीन इतिहास के अवलोकन में यह बात स्पष्ट हो गई है कि प्राचीन भारत का प्रत्येक ग्राम एक छोटा सा स्वायत्त राज्य था। इस प्रकार के कई छोटे-छोटे गांव व छोटे-छोटे प्रादेशिक संघ मिलकर बड़े संघ बन जाते थे। संघ पूर्णतः स्वावलम्बी थे तथा एक-दूसरे से बड़ी अच्छी तरह जुड़े हुए तथा सम्बन्धित थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी गांव के छोटे छोटे गणराज्य की बात कही गई है। सर चार्ल्स मेटकाफ ने तो पंचायतों के लिये गांवों को छोटे-छोटे गणतन्त्र कहा था जो स्वयं में आत्मनिर्भर थे। बौद्ध व मौर्य काल के समय पंचायतों के आस्तित्व की बात कही गई है। बौद्ध काल के संघों की कार्य पद्धति ग्राम राज्य की प्रथा को दर्शाती है। बौद्ध संघों के शासन की प्रणाली वस्तुतः भारत की ग्राम पंचायतों तथा ग्राम संघों से ही ली गई थी। गुप्त काल में भी ग्राम समितियां पंचायतों के रूप में कार्य करती थीं। चन्द्रगुप्त के दरबार में रहने वाले यूनानी राजदूत मैगस्थनीज के वृतान्त से उसके बारे में काफी सामग्री मिलती है। मैगस्थनीज के वृतान्त से उस समय के नगर प्रशासन तथा ग्राम प्रशासन पर खासा प्रकाश पड़ता है। नगरों का प्रशासन भी पंचायती प्रणाली से ही होता था और पाटलिपुत्र का प्रशासन उसकी सफलता का सूचक है। मैगस्थनीज के अनुसार नगर प्रशासन भी ग्राम प्रशासन की भांति ही

होता था। नगर का शासन एक निर्वाचित संस्था के हाथ में होता था, जिसमें 30 सदस्य होते थे। सदस्य 6 समितियों में विभक्त होते थे। प्रत्येक समिति अलग-अलग विषयों का प्रबन्धन करती थी। कुछ विषय अवश्य ऐसे थे जो सीधी राजकीय नियंत्रण में होते थे।

प्राचीन काल में राजा लोग महत्वपूर्ण निर्णय लेते समय इन पंचायतों से पूर्ण विचार-विमर्श करते थे। स्थानीय स्वशासन की ये संस्थाऐं स्थानीय स्तर पर अपना शासन खुद चलाती थी। लोग अपने विकास के बारे में खुद सोचते थे, अपनी समस्याऐं स्वयं हल करते थे एवं अपने निर्णय स्वयं लेते थे। वास्तव में जिस स्वशासन की बात हम आज कर रहे हैं, असली स्वशासन वही था। यह कह सकते हैं कि हमारे गांव का काम गांव में और गांव का राज गांव में था। पंचायतें हमारे गांव समाज की ताकत थीं।

ग्रामों के इन संगठनों की सफलता का रहस्य केवल यह था कि ग्रामीण अपने अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों की अधिक चिंता करते थे। इस तरह भारत के ग्रामों के संगठन की परम्परा उत्पन्न हुयी, पनपी और इसमें दीर्घकाल तक सफलता से देश के ग्रामीणों को समृद्ध, सुसम्पन्न तथा आत्मनिर्भर बनाया। पंचायतों के कारण ही काफी समय तक विदेशी अपना आर्थिक प्रभुत्व जमाने में असमर्थ रहे।

मध्य काल में पंचायतों के विकास पर खास ध्यान नहीं दिया गया। इस दौरान समय-समय पर विदेशियों के आक्रमण भारत में हुए। मुगलों के भारत में आधिपत्य के साथ ही शासन प्रणाली में नकारात्मक बदलाव आये। लोगों की अपनी बनाई हुई व्यवस्थाऐं चरमराकर धराशायी हो गई। समस्त सत्ता व शक्ति बादशाह व उसके खास कर्मचारियों के हाथों में केन्द्रित हो गयी। यद्यापि मुगल बादशाह अकबर द्वारा स्थानीय स्वशासन को महत्व दिया गया और उस समय ग्राम स्तरीय समस्त कार्य पंचायतों द्वारा ही किया जाता था। अन्य शासकों के शासनकाल में पंचायत व्यवस्था का धीरे-धीरे विघटन का दौर शुरू हुआ जो ब्रिटिश काल के दौरान भी अंग्रेजों की केन्द्रीकरण की नीति के कारण चलता रहा। पंच परमेश्वर प्रथा की अवहेलना से पंचायतों व स्थानीय स्वशासन को गहरा झटका लगा। जिसके परिणाम स्वरूप जो छोटे-छोटे विवाद पहले गांव में ही सुलझ जाया करते थे अब वह दबाये जाने लगे व सदियों से चली आ रही स्थानीय स्तर पर विवाद निपटाने की प्रथा का स्थान कोर्ट कचहरी ने लेना शुरू किया। जिन प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा व उपयोग गांव वाले स्वयं करते थे वे सब अंग्रेजी शासन के अर्न्तगत आ गये और उनका प्रबन्धन भी सरकार के हाथों चला गया। स्थानीय लोगों के अधिकार समाप्त हो गये।

कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि स्थानीय स्वशासन की परम्परा प्राचीन काल में काफी मजबूत थी। स्थानीय स्वशासन की संस्थाऐं जन-समुदाय की आवाज हुआ करती थी। वर्तमान की पंचायत व्यवस्था का मूल आधार हमारी पुरानी सामुदायिक व्यवस्था ही है। यद्यपि मध्यकाल व ब्रिटिश काल मे पंचायती राज व्यवस्था लडखड़ा गई थी, लेकिन स्वतन्त्रता के पश्चात स्थानीय स्वशासन को मजबूत बनाने के लिए पुनः प्रयास शुरू हुए और पंचायती राज व्यवस्था भारत मे पुनः स्थापित की गई। जिसके बारे में आप विस्तार से पढ़ेंगे।

21.3 भारत में पंचायती राज की स्थिति

भारत में पंचायती राज की स्थिति को समझने के लिए, इसका दो चरणों में अध्ययन करते हैं।

21.3.1 स्वतंत्रता पूर्व भारत में पंचायती राज

स्वतन्त्रता पूर्व पंचायतों की मजबूती व सुदृढ़ीकरण(Strengthening) हेतु विशेष प्रयास नहीं हुए इसके विपरीत पंचायती राज व्यवस्था लड़खड़ाती रही। मध्य काल में मुस्लिम राजाओं का शासन भारत के विभिन्न हिस्सों में फैल गया। यद्यपि स्थानीय शासन की संस्थाओं की मजबूती के लिए विशेष प्रयास नहीं किये गये परन्तु मुस्लिम शासन ने अपने हितों में पंचायतों का काफी उपयोग किया। जिसके फलस्वरूप पंचायतों के मूल स्वरूप को धक्का लगा और वे केन्द्र के हाथों की कठपुतली बन गई। सम्राट अकबर के समय स्थानीय स्वशासन को पुनः मान्यता मिली। उस काल में स्थानीय स्वशासन की इकाइयां कार्यशील बनी। स्थानीय स्तर पर शासन के सारे कार्य पंचायतें ही करती थीं और शासन उनके महत्व को पूर्णतः स्वीकार करता था। लेकिन मुस्लिम काल के इतिहास को अगर समग्र रूप में देखा जाए तो इस काल में स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को मजबूती नहीं मिल सकी।

ब्रिटिश काल के दौरान भी प्राचीन पंचायत व्यवस्था लड़खड़ाती रही। अंग्रजों शासन काल में सत्ता का केन्द्रीकरण हो गया और दिल्ली सरकार पूरे भारत पर शासन करने लगी। केन्द्रीकरण की नीति के तहत अंग्रेज तो पूरी सत्ता अपने कब्जे में करके एक-क्षत्र राज चाहते थे। भारत में विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था उन्हें अपने मनसूबों को पूरा करने में एक रुकावट लगी। इसलिये अंग्रेजों ने हमारी सदियों से चली आ रही स्थानीय स्वशासन की परम्परा व स्थानीय समुदाय की ताकत को तहस-नहस कर शासन की अपनी व्यवस्था लागू की। जिसमें छोट-छोटे सूबे तथा स्थानीय स्वशासन की संस्थाऐं कमजोर बना दी गई या पूरी तरह समाप्त कर दी गई। धीरे-धीरे सब कुछ अंग्रेजी सरकार के अधीन होता गया। सरकार की व्यवस्था मजबूत होती गई और समाज कमजोर होता गया। परिणाम यह हुआ कि यहाँ प्रशासन का परम्परागत रूप करीब-करीब समाप्त प्राय हो गया और पंचायतों का महत्व काफी घट गया। अंग्रेजी राज की बढ़ती ताकत व प्रभाव से आम आदमी दबाव में था। समाज में असंतोष बढ़ने लगा, जिसके कारण 1909 में ब्रिटिश सरकार द्वारा एक विकेन्द्रीकरण कमीशन की नियुक्ति की गई। 1919 में 'मांटेस्क्यू चेम्सफोर्स सुधार' के तहत एक अधिनियम पारित करके पंचायतों को फिर से स्थापित करने का काम प्रान्तीय शासन पर छोड़ दिया। अंग्रेजों की नियत तब उजागर हुई जब एक तरफ पंचायतों को फिर से स्थापित करने की बात कही और दूसरी तरफ गांव वालों से नमक तक बनाने का अधिकार छुड़ा लिया। इसी क्रम में 1935 में लार्ड वैलिंग्टन के समय भी पंचायतों के विकास की ओर थोड़ा बहुत ध्यान दिया गया, लेकिन कुल मिलाकर ब्रिटिशकाल में पंचायतों को फलने-फूलने के अवसर कम ही मिले।

21.3.2 स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में पंचायती राज

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात पंचायतों के पूर्ण विकास के लिये प्रयत्न शुरू हुए। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी स्वराज और स्वावलम्बन के लिये पंचायती राज के प्रबलतम समर्थक थे। गांधी जी ने

कहा था- ''सच्चा स्वराज सिर्फ चंद लोगों के हाथ में सत्ता आ जाने से नहीं बल्कि इसके लिये सभी हाथों में क्षमता आने से आयेगा। केन्द्र में बैठे बीस व्यक्ति सच्चे लोकतन्त्र को नहीं चला सकते। इसको चलाने के लिये निचले स्तर पर प्रत्येक गांव के लोगों को शामिल करना पड़ेगा।'' गांधी जी की ही पहल पर संविधान में अनुच्छेद 40 शामिल किया गया। जिसमें यह कहा गया कि राज्य ग्राम पंचायतों को सुदृढ़(Strengthen) करने हेतु कदम उठायेगा तथा पंचायतों को प्रशासन की इकाई के रूप में कार्य करने के लिये आवश्यक अधिकार प्रदान करेगा। यह अनुच्छेद राज्य का नीति-निर्देशक सिद्धान्त बना दिया गया। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्र के विकास के लिये विभिन्न कमीशन नियुक्त किये गये, जिन्होंने पंचायती राज व्यवस्था को पुर्नजीवित करने में महत्वपूर्ण कार्य किया।

भारत में सन् 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम स्थापित किये गये। किन्तु प्रारम्भ में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को कोई महत्वपूर्ण सफलता नहीं मिल सकी, इसका मुख्य कारण जनता का इसमें कोई सहयोग व रुचि नहीं थी। सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को सरकारी कामों के रुप में देखा गया और गॉववासी अपने उत्थान के लिए स्वयं प्रयत्न करने के स्थान पर सरकार पर निर्भर रहने लगे। इस कार्यक्रम के सूत्रधार यह आशा करते थे कि जनता इसमें आगे आये और दूसरी ओर उनका विश्वास था कि सरकारी कार्यवाही से ही यह कार्यक्रम सफल हो सकता है। कार्यक्रम जनता ने चलाना था, लेकिन वे बनाये उपर से जाते थे। जिस कारण इन कार्यक्रमों में लोक कल्याण के कार्य तो हुए लेकिन लोगों की भागीदारी इनमें नगण्य थी। ये कार्यक्रम लोगों के कार्यक्रम होने के बजाय सरकार के कार्यक्रम बनकर रह गये।

अभ्यास प्रश्न-1

1. क्या प्राचीन काल में पंचायतों को संवैधानिक दर्जा प्राप्त था?
2. गुप्त काल में पंचायतें किस रूप में कार्य करती थीं?
3. ब्रिटिश सरकार द्वारा विकेन्द्रीकरण की नियुक्ति कब की गयी?
4. यह कथन किसका है कि ''सच्चा स्वराज सिर्फ चंद लोगों के हाथ में सत्ता आ जाने से नहीं बल्कि इसके लिये सभी हाथों में क्षमता आने से आयेगा। केन्द्र में बैठे बीस व्यक्ति सच्चे लोकतन्त्र को नहीं चला सकते। इसको चलाने के लिये निचले स्तर पर प्रत्येक गांव के लोगों को शामिल करना पड़ेगा।''
5. भारत में 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' कब प्रारम्भ किया गया?
6. 'सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की असफलता के अध्ययन के लिए किस समिति का गठन किया गया?

21.4 पंचायती राज के विकास के लिए प्रयास

भारत में पंचायती राज के विकास के लिए समय-समय पर अनेक समितियां गठित की गयी।

21.4.1 बलवंत राय मेहता समिति

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के असफल हाने के कारणों का अध्ययन करने के लिए बलवन्त राय मेहता समिति गठित की गयी।

1957 में सरकार ने पंचायतों के विकास पर सुझाव देने के लिए श्री बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में यह सिफारिश की गयी कि सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए पंचायती राज संस्थाओं की तुरन्त स्थानपा की जानी चाहिए। इसे लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का नाम दिया गया। मेहता कमेटी के अपनी निम्नलिखित शिफारिशें रखी।

- ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, खण्ड(ब्लाक) स्तर पर पंचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद। अर्थात् पंचायतों की त्रिस्तरीय संरचना बनायी जाये।
- पंचायती राज में लोगों को सत्ता का हस्तान्तरण किया जाना चाहिए।
- पंचायती राज संस्थाऐं जनता के द्वारा निर्वाचित होनी चाहिए और सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अधिकारी उनके अधीन होने चाहिए।
- साधन जुटाने व जन सहयोग के लिए इन संस्थाओं को पर्याप्त अधिकार दिये जाने चाहिए।
- सभी विकास संबंधी कार्यक्रम व योजनाऐं इन संगठनों के द्वारा लागू किये जाने चाहिए।
- इन संगठनों को उचित वित्तीय साधन सुलभ करवाये जाने चाहिए।

राजस्थान वह पहला राज्य है जहां पंचायती राज की स्थापना की गयी। 1958 में सर्वप्रथ पं0 जवाहर लाल नेहरू ने 2 अक्टूबर को राजस्थान के नागौर जिले में पंचायती राज की शुरूआत की। सत्ता के विकेन्द्रीकरण की दिशा में यह पहला कदम था। 1959 में आन्ध्र प्रदेश में भी पंचायती राज लागू किया गया। 1959 से 1964 तक के समय में विभिन्न राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं को लागू किया गया और इन संस्थाओं ने कार्य प्रारम्भ किया। लेकिन इस राज से ग्रामीण तबके के लोगों का नेतृत्व उभरने लगा जो कुछ स्वार्थी लोगों की आँखों में खटकने लगा, क्यों कि वे शक्ति व अधिकारों को अपने तक ही सीमित रखना चाहते थे। फलस्वरूप पंचायती राज को तोड़ने की कोशिशें भी शुरू हो गयी। कई राज्यों में वर्षों तक पंचायतों में चुनाव ही नहीं कराये गये। 1969 से 1983 तक का समय पंचायती राज व्यवस्था के ह्रास का समय था। लम्बे समय तक पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव नहीं करवाये गये और ये संस्थाऐं निष्क्रीय हो गयी।

21.4.2 अशोक मेहता समिति

जनता पार्टी के सत्ता में आने के बाद पंचायतों को मजबूत करने के उद्देश्य से 12 दिसम्बर 1977 को पंचायती राज संस्थाओं में आवश्यक परिवर्तन सुझाने के लिए में श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में 13 सदस्यों की कमेटी गठित की गई। समिति ने पंचायती राज संस्थाओं मे आयी गिरावट के लिए कई कारणों को जिम्मेदार बताया। इसमें प्रमुख था कि पंचायती राज संस्थाओं को ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों से बिल्कुल अलग रखा गया है। अशोक मेहता समिति ने महसूस किया कि पंचायती राज संस्थाओं की अपनी कमियां स्थानीय स्वशासन को

मजबूती नहीं प्रदान कर पा रही हैं। इस समिति द्वारा पंचायतों को सुदृढ़ बनाने के लिए निम्न सुझाव दिये गये-

- समिति ने दो स्तरों वाले ढाँचे, जिला परिषद को मजबूत बनाने और ग्राम पंचायत की जगह मण्डल पंचायत की सिफारिश की। अर्थात पंचायती राज संस्थाओं के दो स्तर हों, जिला परिषद व मंडल परिषद।
- जिले को तथा जिला परिषद को समस्त विकास कार्यों का केन्द्र बनाया जाय। जिला परिषद ही आर्थिक नियोजन करें और जिले में विकास कार्यों में सामन्जस्य स्थापित करें और मंडल पंचायतों को निर्देशन दे।
- पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचन में जिला परिषद को मुख्य स्तर बनाने और राजनैतिक दलों की सक्रिय भागीदारी पर बल दिया।
- पंचायतों के सदस्यों के नियमित चुनाव की सिफारिश की। राज्य सरकारों को पंचायत चुनाव स्थगित न करने व चुनावों का संचालन मुख्य चुनाव आयुक्त के द्वारा किये जाने का सुझाव दिया।
- समिति ने यह सुझाव भी दिया कि पंचायती राज संस्थाओं को मजबूती प्रदान करने के लिये संवैधानिक प्रावधान बहुत ही आवश्यक है।
- पंचायती राज संस्थाऐं समिति प्रणाली के आधार पर अपने कार्यों का सम्पादन करें।
- राज्य सरकारों को पंचायती राज संस्थाओं के अधिकारों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।
- देश के कई राज्यों ने इन सिफारिशों को नहीं माना। अतः तीन स्तरों वाले ढांचे को ही लागू रखा गया।

इस प्रकार अशोक मेहता समिति ने पंचायती राज व्यवस्था में सुधार लाने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण शिफारिशें की, किन्तु ग्राम पंचायतों को समाप्त करने की उनकी शिफारिश पर विवाद पैदा हो गया। ग्राम पंचायतों की समाप्ति का मतलब था, ग्राम विकास की मूल भावना को ही समाप्त कर देना। समिति के सदस्य सिद्धराज चड्डा ने इस विषय पर लिखा कि 'मुझे जिला परिषदों और मंडल पंचायतों से कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु समिति ने ग्राम सभा की कोई चर्चा नहीं की, जबकि पंचायती राज संस्थाओं की आधारभूत इकाई तो ग्राम सभा को ही बनाया जा सकता था।'

21.4.3 जी0वी0के0 राव समिति

पंचायतों के सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया में सन् 1985 में जी0वी0के0 राव समिति गठित की गई। समिति ने पंचायती राज संस्थाओं को अधिक अधिकार देकर उन्हें सक्रिय बनाने पर बल दिया। साथ ही यह सुझाव भी दिया कि योजना निर्माण व संचालित करने के लिये जिला मुख्य इकाई होना चाहिये। समिति ने पंचायतों के नियमित चुनाव की भी सिफारिश की।

21.4.4 डा0 एल0एम0 सिंघवी समिति

1986 में डा0 एल0एम0 सिंघवी समिति का गठन किया गया। सिंघवी सामिति ने 'गांव पंचायत'(ग्राम- सभा) की सिफारिश करते हुये संविधान में ही नया अध्याय जोड़ने की बात कही, जिससे पंचायतों की अवहेलना ना हो सके। इन्होंने गांव के समूह बना कर न्याय पंचायतों के गठन की भी सिफारिश की।

21.4.5 सरकारिया आयोग

1988 में सरकारिया आयोग बैठाया गया जो मुख्य रुप से केन्द्र व राज्यों के संबंधों से जुड़ा था। इस आयोग ने भी नियमित चुनावों और ग्राम पंचायतों को वित्तीय व प्रशासनिक शक्तियां देने की सिफारिश की।

21.4.6 पी0 के0 थुंगर समिति

1988 के अंत में पी0 के0 थुंगर की अध्यक्षता में संसदीय परामर्श समिति की उपसमिति गठित की गयी। इस समिति ने पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा देने की शिफारिश की।

भूतपूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी की सरकार ने गांवों में पंचायतों के विकास की ओर अत्यधिक प्रयास करने शुरू किये। राजीव गांधी का विचार था कि जब तक गांव के लोगों को विकास प्रक्रिया में भागीदार नहीं बनाया जाता, तब तक ग्रामीण विकास का लाभ ग्रामीण जनता को नहीं मिल सकता। पंचायती राज के द्वारा वे गांव वालों के, खासकर अनुसूचित जाति, जनजाति तथा महिलाओं की सामाजिक व आर्थिक स्थिति में बदलाव लाना चाहते थे। उन्होंने इस दिशा में कारगर कदम उठाते हुये 64वां संविधान विधेयक ससंद में प्रस्तुत किया। लोकसभा ने 10 अगस्त 1988 को इस विधेयक को अपनी मंजूरी दे दी। मगर राज्य सभा में सिर्फ पाँ च मतों की कमी रह जाने से यह पारित न हो सका। फिर 1991 में तत्कालीन सरकार ने 73वां संविधान संशोधन विधेयक को संसद में पेश किया। लोक सभा ने 2 दिसम्बर 1992 को इसे सर्व सम्मति से पारित कर दिया। राज्य सभा ने अगले ही दिन इसे अपनी मंजूरी दे दी। उस समय 20 राज्यों की विधान सभाऐं कार्यरत थी। 20 राज्यों की विधान सभाओं में से 17 राज्यों की विधान सभाओं ने संविधान संशोधन विधेयक को पारित कर दिया। 20 अप्रैल 1993 को राष्ट्रपति ने भी इस विधेयक को मंजूरी दे दी। तत्पश्चात् 73वां संविधान संशोधन अधिनियम 24 अप्रैल से 1993 से लागू हो गया।

21.5 विकेन्द्रीकरण

सामान्य भाषा में, विकेन्द्रीकरण का अर्थ है कि शासन-सत्ता को एक स्थान पर केन्द्रीत करने के बजाय उसे स्थानीय स्तरों पर विभाजित किया जाये, ताकि आम आदमी की सत्ता में भागीदारी सुनिश्चित हो सकें और वह अपने हितों व आवश्यकताओं के अनुरुप शासन-संचालन में अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर सके। यही सत्ता के विकेन्द्रीकरण का मूल आधार है। अर्थात् आम जनता तक शासन-सत्ता की पहुँच को सुलभ बनाना ही विकेन्द्रीकरण है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सारा कार्य एक जगह से संचालित न होकर अलग-अलग जगह व स्तर से संचालित होता है। उन कार्यों से सम्बन्धित निर्णय भी उसी स्तर पर लिये जाते हैं तथा उनसे जुड़ी

समस्याओं का समाधान भी उसी स्तर पर होता है। जैसे त्रिस्तरीय पंचायतों में निर्णय लेने की प्रक्रिया ग्राम पंचायत स्तर, क्षेत्र पंचायत स्तर एवं जिला पंचायत स्तर से संचालित होती हैं। विकेन्द्रीकरण को निम्न रूपों मे समझा जा सकता है।

- विकेन्द्रीकरण वह व्यवस्था है जिसमें विभिन्न स्तरों पर सत्ता, अधिकार एवं शक्तियों का बंटवारा होता है। अर्थात केन्द्र से लेकर गांव की इकाई तक सत्ता, शक्ति व संसाधनों का बंटवारा। साथ ही हर स्तर अपनी गतिविधियों के लिए स्वयं जवाबदेह होता हैं। हर इकाई अपनी जगह स्वतन्त्र होते हुये केन्द्र तक एक सूत्र से जुड़ी रहती है।
- विकेन्द्रीकरण का अर्थ है विकास हेतु नियोजन, क्रियान्वयन एवं कार्यक्रम की निगरानी में स्थानीय लोगों की विभिन्न स्तरों में भागीदारी सुनिश्चित हो। स्थानीय इकाईयों व समुदाय को ज्यादा से ज्यादा अधिकार व संसाधनों से युक्त करना ही वास्तविक विकेन्द्रीकरण करना है।
- विकेन्द्रीकरण वह व्यवस्था है जिसमें सत्ता जनता के हाथ में हो और सरकार लोगों के विकास के लिए कार्य करें।

विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था में शासन की हर इकाई स्वायत्त होती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह इकाई अपने मनमाने ढंग से कार्य करे, अपितु प्रत्येक इकाई अपने से ऊपर की इकाई द्वारा बनाये गये नियमों व कानूनों के अन्तर्गत कार्य करती है। उदाहरण के लिए भारत में राज्य सरकारें अपने राज्य के लोगों के विकास के लिए नियम-कानून, नीतियां और कार्यक्रम बनाने के लिए स्वतन्त्र है लेकिन वे केन्द्रीय संविधान के प्रावधानों के अन्तर्गत ही यह कार्य करती हैं। कोई भी राज्य सरकार स्वतन्त्र होते हुए भी संविधान के नियमों से बाहर रह कर कार्य नहीं कर सकती। विभिन्न स्तरों पर अनुशासन व सामंजस्य होना विकेन्द्रीकरण प्रक्रिया की सफलता का प्रतीक है। यहाँ यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि किसी भी स्तर पर विकेन्द्रीकरण अचानक ही नहीं हो जाता, अपितु यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो धीरे-धीरे होती है। सदियों से हमारे देश में विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। पुराने समय में अधिकांश राज्य छोटे थे जो जनपद कहलाते थे। राजा इन राज्यों का शासन, प्रशासन; सभा व परिषद की सहायता से चलाता था। स्थानीय स्तर पर पंचायतें, समितियों के रूप में कार्य करती थीं जो गांवों की व्यवस्था सम्बन्धी नियम एवं कानून बनाने व लागू करने के कार्य में संलग्न रहती थीं। इन गांवों से सम्बन्धित निर्णय लेने में राजा हमेशा पंचायतों को बराबर का भागीदार बनाता था। यही व्यवस्था विकेन्द्रीकरण है। इतने बड़े भारत देश को एक ही केन्द्र से संचालित नहीं किया जा सकता था, अतः राजाओं को विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था लागू करनी पड़ी। परन्तु धीरे-धीरे यह व्यवस्था कमजोर होती गई। मुस्लिम व ब्रिटिश हुकुमत के समय इस व्यवस्था को अधिक धक्का लगा। स्वतन्त्रता के उपरान्त विकेन्द्रीकरण की सोच को योजना एवं रणनीति-निर्माण में शामिल किया गया। समय-समय पर इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि सत्ता केन्द्रित न होकर विकेन्द्रित हो, जिससे विकास कार्यों में जनसहभागिता सुनिश्चित की जा सके। विकेन्द्रीकरण की प्राचीन प्रणाली को देश की शासन व्यवस्था चलाने का आधार

बनाया। जिसके अन्तर्गत राज्य सरकारों की शासन प्रणाली को मजबूत बनाया गया यही नहीं 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा भारत में 1993 से स्थानीय स्तर पर भी विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था को लागू किया गया।

21.5.1 विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता एवं महत्व

शासन-सत्ता में आम जन की भागीदारी सुशासन की पहली शर्त है। जनता की भागीदारी को सत्ता में सुनिश्चित करने के लिए विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था ही एक कारगर उपाय है। विश्व स्तर पर इस तथ्य को माना जा रहा है कि लोगों की सक्रिय भागीदारी के बिना किसी भी प्रकार के विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। विकेन्द्रीकृत व्यवस्था ही ऐसी व्यवस्था है जो कार्यों के समुचित संचालन व कार्यों को करने में पारदर्शिता, गुणवत्ता एवं जबाबदेही को हर स्तर पर सुनिश्चित करने के रास्ते खोलती है। प्रत्येक स्तर पर लोग अपने अधिकारों एवं शक्तियों का सही व संविधान के दायरे में रह कर प्रयोग कर सकें, इसके लिए विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता महसूस की गई है। इस व्यवस्था में अलग-अलग स्तरों पर लोग अपनी भूमिका एवं जिम्मेदारियों को समझकर उनका निर्वाहन करते हैं। प्रत्येक स्तर पर एक-दूसरे के सहयोग व उनमें आपसी सामंजस्य से हर स्तर पर उपलब्ध संसाधनों का, आवश्यकता व प्राथमिकता के आधार पर उपयोग करने की स्वतंत्रता मिलती है। साथ ही हर स्तर पर प्रत्येक इकाई को अपने संसाधन स्वयं जुटाने का भी अधिकार व जिम्मेदारी होती है। लेकिन विकेन्द्रीकरण का अर्थ यह नहीं कि हर कोई अपने-अपने मनमाने ढंग से कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। कार्य करने की स्वतन्त्रता सुशासन के संचालन के लिए बनाये गये नियम कानूनों के दायरे के अन्दर होती है।

विकेन्द्रीकरण का महत्व इसलिए भी है कि इस व्यवस्था द्वारा सामाजिक न्याय व आर्थिक विकास की योजनाऐं लोगों की सम्पूर्ण भागीदारी के साथ स्थानीय स्तर पर ही बनेंगी व स्थानीय स्तर से ही लागू होंगी। पहले केन्द्र में योजना बनती थी और वहां से राज्य में आती थीं व राज्य द्वारा जिला, ब्लाक व गांव में आती थी। लेकिन भारत में अब नये पंचायती राज में विकेन्द्रीकरण की पूर्ण व्यवस्था की गई है। जिसके अनुसार ग्राम स्तर पर योजना बनेगी व ब्लाक, जिला व राज्य से होती हुई केन्द्र तक पहुँचेगी। योजनाओं का क्रियान्वयन भी ग्राम स्तर पर स्थानीय शासन द्वारा होगा। इस प्रकार विकेन्द्रीकरण के माध्यम से सत्ता व शक्ति एक केन्द्र में न रहकर विभिन्न स्तरों पर विभाजित हो गई है। जिसके माध्यम से स्थानीय व ग्रामीण लोगों को प्रशासन में पूर्ण भागीदारी निभाने का अधिकार प्राप्त हो गया है।

21.5.2 विकेन्द्रीकरण के आयाम

विकेन्द्रीकरण के निम्नलिखित आयाम हैं-

1. **कार्यात्मक स्वायतता-** इसका अर्थ है, सत्ता के विभिन्न स्तरों पर कार्यों का बंटवारा। अर्थात हर स्तर अपने-अपने स्तर पर कार्यों से सम्बन्धित जिम्मदारियों के लिए जवाब देह होगा।
2. **वित्तीय स्वायतता-** इसके अन्तर्गत हर स्तर की इकाई को उपलब्ध संसाधनों को आवश्यकतानुसार खर्च करने व अपने संसाधन स्वयं जुटाने के अधिकार होता है।

3. **प्रशासनिक स्वायतता-** प्रशासनिक स्वायतता का अर्थ है, हर स्तर पर आवश्यक प्रशासनिक व्यवस्था हो तथा इससे जुड़े अधिकारी/कमर्चारी जनप्रतिनिधियों के प्रति जवाबदेह हों।

21.6 स्थानीय स्वशासन

स्थानीय स्वशासन लोगों की अपनी स्वयं की शासन व्यवस्था का नाम है। अर्थात् स्थानीय लोगों द्वारा मिलजुलकर स्थानीय समस्याओं के निदान एवं विकास हेतु बनाई गई ऐसी व्यवस्था जो संविधान और राज्य सरकारों द्वारा बनाये गये नियमों एवं कानून के अनुरूप हो। दूसरे शब्दों में 'स्वशासन' गांव के समुचित प्रबन्धन में समुदाय की भागीदारी है।

यदि हम इतिहास को पलट कर देखें तो प्राचीन काल में भी स्थानीय स्वशासन विद्यमान था। सर्वप्रथम परिवार बने और परिवारों से समूह। ये समूह ही बाद में गांव कहलाये। इन समूहों की व्यवस्था प्रबन्धन के लिये लोगों ने कुछ नियम, कायदे कानून बनाये। इन नियमों का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म माना जाता था। ये नियम समूह अथवा गांव में शांति व्यवस्था बनाये रखने, सहभागिता से कार्य करने व गांव में किसी प्रकार की समस्या होने पर उसके समाधान करने, तथा सामाजिक न्याय दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। गांव का संम्पूर्ण प्रबन्धन तथा व्यवस्था इन्हीं नियमों के अनुसार होती थी। इन्हें समूह के लोग स्वयं बनाते थे व उसका क्रियान्वयन भी वही लोग करते थे। कहने का तात्पर्य है कि स्थानीय स्वशासन में लोगों के पास वे सारे अधिकार हों, जिससे वे विकास की प्रक्रिया को अपनी जरूरत और अपनी प्राथमिकता के आधार पर मनचाही दिशा दे सकें। वे स्वयं ही अपने लिये प्राथमिकता के आधार पर योजना बनायें और स्वयं ही उसका क्रियान्वयन भी करें। प्राकृतिक संसाधनों जैसे जल, जंगल और जमीन पर भी उन्हीं का नियन्त्रण हो ताकि उसके संवर्द्धन और संरक्षण की चिन्ता भी वे स्वयं ही करें। स्थानीय स्वशासन को मजबूत करने के पीछे सदैव यही मूलधारणा रही है कि हमारे गांव जो वर्षों से अपना शासन स्वयं चलाते रहे हैं, जिनकी अपनी एक न्याय व्यवस्था रही है वे ही अपने विकास की दिशा तय करें। आज भी हमारे कई गांवों में परम्परागत रूप में स्थानीय स्वशासन की न्याय व्यवस्था विद्यमान है।

21.6.1 संविधान संशोधन और स्थानीय स्वशासन

हमारे देश में पंचायतों की व्यवस्था सदियों से चली आ रही है। पंचायतों के कार्य भी लगभग समान हैं, किन्तु उनके स्वरूप में जरूर परिवर्तन हुआ है। पहले पंचायतों का स्वरूप कुछ और था। उस समय वह संस्था के रूप में कार्य करती थी और गांव के झगड़े, गांव की व्यवस्थाऐं सुधारना जैसे फसल सुरक्षा, पेयजल, सिंचाई, रास्ते, जंगलों का प्रबन्धन आदि मुख्य कार्य हुआ करते थे।

लोगों को पंचायतों के प्रति बड़ा विश्वास था। उनका निर्णय लोग सहज स्वीकार कर लेते थे और हमारी पंचायतें भी बिना पक्षपात के निर्णय किया करती थीं। ऐसा नहीं कि पंचायतें सिर्फ गांव का निर्णय करती थीं। बड़े क्षेत्र, पट्टी, तोक के लोगों के मूल्यों से जुड़े संवेदनशील निर्णय भी पंचायतें बड़े विश्वास के साथ करती थीं। इससे पता लगता है कि पंचायतों के प्रति लोगों

का पहले कितना विश्वास था। वास्तव में जिस स्वशासन की बात हम आज कर रहे हैं, असली स्वशासन वही था। जब लोग अपना शासन खुद चलाते थे, अपने विकास के बारे में खुद सोचते थे, अपनी समस्याऐं स्वयं हल करते थे एवं अपने निर्णय स्वयं लेते थे।

धीरे-धीरे ये पंचायत व्यवस्थाऐं आजादी के बाद समाप्त होती गई। इसका मुख्य कारण रहा, सरकार का दूरगामी परिणाम सोचे बिना पंचायत व्यवस्थाओं में अनावश्यक हस्तक्षेप। जो छोटे-छोटे विवाद पहले हमारे गांव में ही हल हो जाते थे अब वह सरकारी कानून व्यवस्था से पूरे होते हैं। जिन जंगलों की हम पहले सुरक्षा भी करते थे और उसका सही प्रबंधन भी करते थे अब उससे दूरियां बनती जा रही हैं और उसे हम अधिक से अधिक उपभोग करने की दृष्टि से देखते हैं। जो गांव के विकास संबंधी नजरिया हमारा स्वयं का था उसकी जगह सरकारी योजनाओं ने ले ली है और सरकारी योजनाऐं राज्य या केन्द्र में बैठकर बनाई जाने लगी और गांवों में उनका क्रियान्वयन होने लगा।

परिणाम यह हुआ कि लोगों की जरूरत के अनुसार नियोजन नहीं हुआ और जिन लोगों की पहुँच थी, उन्होंने ही योजनाओं का उपभोग किया। लोग योजनाओं के उपभोग के लिए हर समय तैयार रहने लगे चाहे वह उसके जरूरत की हो या न हो। उसको पाने के लिए व्यक्ति खींचातानी में लगा रहा। इससे कमजोर वर्ग धीरे-धीरे और कमजोर होता गया और लोग पूरी तरह सरकार की योजनाओं और सब्सिडी(छूट) पर निर्भर होने लगे। धीरे-धीरे पंचायत की भूमिका गांव के विकास में शून्य हो गई और लोग भी पुरानी पंचायतों से कटते गये।

लेकिन 80 के दशक में यह लगने लगा कि सरकारी योजनाओं का लाभ समाज के अंतिम व्यक्ति तक नहीं पहुँच पा रहा है। यह भी सोचा जाने लगा कि योजनाओं को लोगों की जरूरत के मुताबिक बनाया जाय। योजनाओं के नियोजन और क्रियान्वयन में भी लोगों की भागीदारी जरूरी समझी जाने लगी। तब ऐसा महसूस हुआ कि ऐसी व्यवस्था कायम करने की आवश्यकता है, जिसमें लोग खुद अपनी जरूरत के अनुसार योजनाओं का निर्माण करें और स्वयं उनका क्रियान्वयन करें।

इसी सोच के आधार पर पंचायतों को कानूनी तौर पर नये काम और अधिकार देने की सोची गयी ताकि स्थानीय लोग अपनी जरूरतों को पहचानें, उसके उपाय खोजें और उसके आधार पर योजना बनायें। योजनाओं को क्रियान्वित करें और इस प्रकार अपने गांव का विकास करें। इस सोच को समेटते हुए सरकार ने संविधान में 73वाँ संशोधन कर पंचायतों को नये काम और अधिकार दे दिये हैं। इस प्रकार केन्द्र और राज्य सरकार की तरह पंचायतें भी स्थानीय लोगों की अपनी सरकार की तरह कार्य करने लगी।

21.6.2 स्थानीय स्वशासन और पंचायतें

स्थानीय स्वशासन को स्थापित करने में पंचायतों की अहम भूमिका है। पंचायतें हमारी संवैधानिक रूप से मान्यता प्राप्त संस्थाऐं हैं और प्रशासन से भी उनका सीधा जुड़ाव है। भारत में प्राचीन काल से ही स्थानीय स्तर पर शासन का संचालन पंचायत ही करती आयी है। स्थानीय स्तर पर स्वशासन के स्वप्न को साकार करने का माध्यम पंचायतें ही हैं। चूंकि पंचायतें

स्थानीय लोगों के द्वारा गठित होती हैं और इन्हें संवैधानिक मान्यता भी प्राप्त है, अतः पंचायतें स्थानीय स्वशासन को स्थापित करने का एक अचूक तरीका है। ये संवैधानिक संस्थाऐं ही आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की योजनाऐं ग्रामसभा के साथ मिलकर बनायेंगी व उसे लागू करेंगी। गांव के लिये कौन सी योजना बननी है, कैसे क्रियान्वित करनी है, क्रियान्वयन के दौरान कौन निगरानी करेगा ये सभी कार्य पंचायतें और गांव के लोगों (ग्रामसभा सदस्यों) की सक्रिय भागीदारी से करेंगी। इससे निर्णय स्तर पर आम जनसमुदाय की भागीदारी सुनिश्चित होगी।

स्थानीय स्वशासन तभी मजबूत हो सकता है जब पंचायतें मजबूत होंगी और पंचायतें तभी मजबूत होंगी जब लोग मिलजुलकर इसके कार्यों में अपनी भागीदारी देंगे और अपनी जिम्मेदारी को समझेंगे। लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करने के लिये पंचायतों के कार्यों में पारदर्शिता होना जरूरी है। पहले भी लोग स्वयं अपने संसाधनों का, अपने ग्राम विकास का प्रबन्धन करते थे। इसमें कोई शक नहीं कि वह प्रबन्धन आज से कहीं बेहतर भी होता था। हमारी परम्परागत रूप से चली आ रही स्थानीय स्वशासन की सोच बीते समय के साथ कमजोर हुई है। नई पंचायत व्यवस्था के माध्यम से इस परम्परा को पुनःजीवित होने का मौका मिला है। अतः ग्रामीणों को चाहिये कि पंचायत और स्थानीय स्वशासन की मूल अवधारणा को समझने की चेष्टा करें ताकि ये दोनों ही एक-दूसरे के पूरक बन सकें।

गांवों का विकास तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण ग्रामवासियों को विकास की मुख्य धारा से जोड़ा जायेगा। जब तक गांव के सामाजिक तथा आर्थिक विकास के निर्णयों में गांव के पहले तथा अन्तिम व्यक्ति की बराबर की भागीदारी नहीं होगी तब तक हम ग्राम स्वराज की कल्पना नहीं कर सकते हैं। जन-सामान्य की अपनी सरकार तभी मजबूत बनेगी जब लोग ग्रामसभा और ग्राम-पंचायत में अपनी भागीदारी के महत्व को समझेंगे।

21.7 तिहतरवॉं संविधान संशोधन और पंचायती राज

पंचायतों को मजबूत, अधिकार सम्पन्न व स्थानीय स्वशासन की इकाई के रूप में स्थापित करने हेतु संविधान में 73वां संविधान संशोधन अधिनियम एक क्रान्तिकारी कदम है। 73वें संविधान संशोधन के पीछे निम्न सोच थी-

1. निर्णय को विकेन्द्रीकृत करना तथा स्थानीय स्तर पर संवैधानिक एवं लोकतांत्रिक प्रकिया शुरू करना।
2. स्थानीय स्तर पर पंचायत के माध्यम से निर्णय प्रक्रिया, विकास कार्यों व शासन में लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करना।
3. ग्राम विकास प्रक्रिया के नियोजन, क्रियान्वयन तथा निगरानी में गांव के लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करना व उन्हें अपनी जिम्मेदारी का अहसास कराना।
4. लम्बे समय से हासिये पर रहने वाले तबकों जैसे महिला, दलित एवं पिछड़ों को ग्राम विकास व निर्णय प्रक्रिया में शामिल करके उन्हें विकास की मुख्य धारा से जोड़ना।
5. स्थानीय स्तर पर लोगों की सहभागिता बढ़ाना व लोगों को अधिकार देना।

21.7.1 तिहत्तरवा संविधान संशोधन अधिनियम

स्वतन्त्रता पश्चात देश को सुचारू रूप से चलाने के लिये हमारे नीति निर्माताओं द्वारा भारतीय संविधान का निर्माण किया गया। संविधान में नियमों के अनुरूप व एक नियत प्रक्रिया के अधीन जब भी कुछ परिवर्तन किया जाता है या उसमें कुछ नया जोड़ा जाता है अथवा हटाया जाता है तो यह संविधान संशोधन अधिनियम कहलाता है। भारत में सदियों से चली आ रही पंचायत व्यवस्था जो कई कारणों से काफी समय से मृतप्रायः हो रही थी, को पुर्नजीवित करने के लिये संविधान में संशोधन किये गये। ये संशोधन तिहत्तरवां व चौहत्तरवां संविधान संशोधन अधिनियम कहलाये। तिहत्तरवें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना की गई। इसी प्रकार चौहत्तरवें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा भारत के नगरीय क्षेत्रों में नगरीय स्वशासन की स्थापना की गई। इन अधिनियमों के अनुसार भारत के प्रत्येक राज्य में नयी पंचायती राज व्यवस्था को आवश्यक रूप से लागू करने के नियम बनाये गये। इस नये पंचायत राज अधिनियम से त्रिस्तरीय पंचायत व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने व स्थानीय स्तर पर उसे मजबूत बनाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस अधिनियम में जहां एक ओर स्थानीय स्वशासन को प्रमुखता दी गई है व सक्रिय किये जाने के निर्देश हैं, वहीं दूसरी ओर सरकारों को विकेन्द्रीकरण हेतु बाध्य करने के साथ-साथ वित्तीय संसाधनों की उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिये वित्त आयोग का भी प्रावधान किया गया है।

73वां संविधान संशोधन अधिनियम अर्थात "नया पंचायती राज अधिनियम" प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र को जनता तक पहुँचाने का एक उपकरण है। गांधी जी के स्वराज के स्वप्न को साकार करने की पहल है। पंचायती राज स्थानीय जनता का, जनता के लिये, जनता के द्वारा शासन है।

21.7.2 तिहतरवें संविधान संशोधन अधिनियम में मुख्य बातें

लोकतंत्र को मजबूत करने के लिये नई पंचायती राज व्यवस्था एक प्रशंसनीय पहल है। गांधी जी का कहना था कि 'देश में सच्चा लोकतंत्र तभी स्थापित होगा जब भारत के लाखों गांवों को अपनी व्यवस्था स्वयं चलाने का अधिकार प्राप्त होगा। गांव के लिये नियोजन, प्राथमिकता का चयन लोग स्वयं करेंगे। ग्रामीण अपने गांव विकास सम्बन्धी सभी निर्णय स्वयं लेंगे। ग्राम विकास कार्यक्रम पूर्णतया लोगों के होंगे और सरकार उनमें अपनी भागीदारी देगी।' गांधी जी के इस कथन को महत्व देते हुये तथा उनके ग्राम-स्वराज के स्वप्न को साकार करने के लिये भारत सरकार ने पंचायतों को बहुत से अधिकार दिये हैं। तिहत्तरवें संविधान अधिनियम में निम्न बातों को शामिल किया गया है -

1. 73वें संविधान संशोधन के अन्तर्गत पंचायतों को पहली बार संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। अर्थात पंचायती राज संस्थाऐं अब संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त संस्थाऐं हैं।
2. नये पंचायती राज अधिनियम के अनुसार ग्रामसभा को संवैधानिक स्तर पर मान्यता मिली है। साथ ही इसे पंचायत व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बना दिया गया है।

3. यह तीन स्तरों- ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत और जिला पंचायत पर चलने वाली व्यवस्था है।
4. एक से ज्यादा गांवों के समूहों से बनी ग्राम पंचायत का नाम सबसे अधिक आबादी वाले गांव के नाम पर होगा।
5. इस अधिनियम के अनुसार महिलाओं के लिये त्रिस्तरीय पंचायतों में एक तिहाई सीटों पर आरक्षण दिया गया है।
6. अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिये भी जनसंख्या के आधार पर आरक्षण दिया गया है। आरक्षित वर्ग के अलावा सामान्य सीट से भी ये लोग चुनाव लड़ सकते हैं।
7. पंचायतों का कार्यकाल पाँच वर्ष तय किया गया है तथा कार्यकाल पूरा होने से पहले चुनाव कराया जाना अनिवार्य किया गया है।
8. पंचायत 6 माह से अधिक समय के लिये भंग नहीं रहेगी तथा कोई भी पद 6 माह से अधिक खाली नहीं रहेगा।
9. इस संशोधन के अन्तर्गत पंचायतें अपने क्षेत्र के आर्थिक विकास और सामाजिक कल्याण की योजनायें स्वयं बनायेंगी और उन्हें लागू करेंगी। सरकारी कार्यों की निगरानी अथवा सत्यापन करने का भी अधिकार उन्हें दिया गया है।
10. 73वें संविधान संशोधन के अन्तर्गत पंचायतों को ग्रामसभा के सहयोग से विभिन्न जनकल्याणकारी योजनाओं के अन्तर्गत लाभार्थी के चयन का भी अधिकार दिया गया है।
11. हर राज्य में वित्त आयोग का गठन होता है। यह आयोग हर पाँच साल बाद पंचायतों के लिये सुनिश्चित आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर वित्त का निर्धारण करेगा।
12. उक्त संशोधन के अन्तर्गत ग्राम प्रधानों का चयन प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा तथा क्षेत्र पंचायत प्रमुख व जिला पंचायत अध्यक्षों का चयन निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुना जाना तय है।
13. पंचायत में जबाबदेही सुनिश्चित करने के लिये छः समितियों (नियोजन एवं विकास समिति, शिक्षा समिति तथा निर्माण कार्य समिति, स्वास्थ्य एवं कल्याण समिति, प्रशासनिक समिति, जल प्रबन्धन समिति) की स्थापना की गयी है। इन्हीं समितियों के माध्यम से कार्यक्रम का नियोजन एवं क्रियान्वयन किया जायेगा।
14. हर राज्य में एक स्वतंत्र निर्वाचन आयोग की स्थापना की गई है। यह आयोग निर्वाचन प्रक्रिया, निर्वाचन कार्य, उसका निरीक्षण तथा उस पर नियन्त्रण भी रखेगा।

अतः संविधान के 73वें संशोधन ने नयी पंचायत व्यवस्था के अन्तर्गत न केवल पंचायतों को केन्द्र एवं राज्य सरकार के समान एक संवैधानिक दर्जा दिया है, अपितु समाज के कमजोर व शोषित वर्ग को विकास की मुख्य धारा से जुड़ने का भी अवसर दिया है।

21.7.3 तिहत्तरवें संविधान संशोधन की मुख्य विशेषताऐं

73वां संविधान संशोधन पंचायती राज से संबंधित है, जिसमें पंचायतों से संबंधित व्यवस्था का पूर्ण विधान किया गया है। इसकी निम्नलिखित विशेषताऐं हैं-

1. संविधान में 'ग्राम सभा' को पंचायती राज की आधारभूत इकाई के रुप में स्थान मिला है।
2. पंचायतों की त्रीस्तरीय व्यवस्था की गयी है। ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, क्षेत्र स्तर पर (ब्लाक स्तर) क्षेत्र पंचायत व जिला स्तर पर जिला पंचायत की व्यवस्था की गयी है।
3. प्रत्येक स्तर पर पंचायत के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष मतदान के द्वारा की जाने की व्यवस्था है। लेकिन क्षेत्र व जिला स्तर पर अध्यक्षों के चुनाव चुने हुए सदस्यों में से, सदस्यों द्वारा किये जाने की वयवस्था है।
4. 73वें संविधान संशोधन में अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए उस क्षेत्र की कुल जनसंख्या में उसके प्रतिशत के अनुपात से सीटों के आरक्षण की व्यवस्था है। महिलाओं के लिए कुल सीटों का एक तिहाई भाग प्रत्येक स्तर पर आरक्षित किया गया है। अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में ही आरक्षण की व्यवस्था है। प्रत्येक स्तर पर अध्यक्षों के कुल पदों का एक-तिहाई भाग महिलाओं के लिए आरक्षित किया गया है।
5. अधिनियम में पंचायतों का कार्यकाल(पॉच वर्ष) निश्चित किया गया है। यदि कार्यकाल से पहले ही पंचायत भंग हो जाय तो 6 माह के भीतर चुनाव कराने की व्यवस्था है।
6. अधिनियम के द्वारा पंचायतों से संबंधित सभी चुनावों के संचालन के लिए राज्य चुनाव आयोग को उत्तरदायी बनाया गया है।
7. अधिनियम के द्वारा प्रत्येक राज्य में राज्य वित्त आयोग का गठन किया गया है, ताकि पंचायतों के पास पर्याप्त साधन उपलब्ध हों, जिससे विभिन्न विकास कार्य किये जा सकें।

अभ्यास प्रश्न- 2

1. बलवंत राय मेहता समिति की क्या शिफारिशें थी?
2. भारतके किस राज्य में सर्वप्रथम पंचायती राज की स्थापना हुई?
3. 73वॉं संविधान संशोधन कब लागू हुआ?
4. विकेन्द्रीकरण की चर्चा कीजिए।
5. स्थानीय स्वशासन को समझाइए।
6. 73वें संविधान संशोधन के पिछे क्या सोच थी?

21.8 सारांश

भारतीय सन्दर्भ में पंचायती राज का इतिहास पुराना है। प्रत्येक शासन काल में पंचायतें विद्यमान रही हैं। किन्तु पंचायतों को संवैधानिक मान्यता नहीं थी। भारत ने कई राजाओं को

और उनके शासन काल को देखा। आजादी से पहले अंग्रेजों ने भी भारत में पंचायती राज की मजबूती के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाए। 1909 में ब्रिटिश सरकार द्वारा एक विकेन्द्रीकरण कमीशन की नियुक्ति अवश्य की गई और 1919 में 'मांटेस्क्यू चेम्सफोर्स सुधार' के तहत एक अधिनियम परित करके पंचायतों को फिर से स्थापित करने का काम प्रान्तीय शासन पर छोड़ दिया। किन्तु अंग्रेजों ने पंचायतों को सशक्त करने में कोई रूचि नहीं ली। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पंचायतों को पुर्नजीवित और सशक्त करने का कार्य प्रारम्भ हुआ। महात्मा गांधी जी भी पंचायती राज के प्रबल हिमायती थे। देश में लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था के लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण आवश्यक था और सत्ता विकेन्द्रीकरण के लिए स्थानीय स्वशासन एक अनिवार्य आवश्यकता थी। भारत में स्थानीय स्वशासन पंचायतों और नगर निकायों के रूप में सामने आया। पंचायती राज को स्थापित करने के लिए सरकार ने समय-समय पर अनेक कमेटियों का गठन कर उनकी शिफारिशों को ध्यान में रखते हुए संविधान में 73वॉ संविधान संशोधन कर पंचायतों को संवैधानिक मान्यता प्रदान की। संविधान का 73वाँ संविधान संशोधन भारत में पंचायती राज को मजबूती प्रदान करता है।

21.9 शब्दावली

दर्जा- स्थान या जगह, एक क्षत्र- किसी पर अपना पूर्ण अधिकार

21.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न1- 1. नहीं, **2.** ग्राम समितियों के रूप में, **3.** सन् 1909 में, **4.** महात्मा गांधी, **5.** सन् 1952, **6.** बलवंत राय मेहता समिति।

अभ्यास प्रश्न2- 1. इस प्रश्न का उत्तर 21.4 में देखें, **2.** राजस्थान, **3.** 24 अप्रेल 1993 में, **4.** इस प्रश्न का उत्तर 21.5 में देखें, **5.** इस प्रश्न का उत्तर 21.6 में देखें, **6.** इस प्रश्न का उत्तर 21.7 में देखें ।

21.11 संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. पंचायती राज प्रशिक्षण सन्दर्भ सामाग्री-2004, हिमालयन एक्शन रिसर्च सेन्टर, देहरादून।
2. पंचायती राज प्रशिक्षण मार्गदर्शिका-2004 हिमालयन एक्शन रिसर्च सेन्टर, देहरादून।
3. जल, जंगल और जमीन पर ग्राम पंचायतों के अधिकारों की नीतिगत स्तर पर पैरवी-2002, हार्क, देहरादून एवं प्रिया, नई दिल्ली।
4. पंचायतवार्ता, (जुलाई सितम्बर 99)सहभागी शिक्षण केन्द्र, लखनऊ।
5. कुछ आम सवाल-यहाँ मिलेंगे उनके जवाब, नगरीय स्वशासन, 2005, संसर्ग पटना एवं प्रिया नई दिल्ली ।
6. 73वां संविधान संशोधन अधिनियम।
7. पंचायत सन्दर्भ सामाग्री, हिमालयन एक्शन रिसर्च सेन्टर, देहरादून।
8. मीनाक्षी पंवार, पंचायती राज और ग्रामीण विकास।

21.12 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. भारत में पंचायती राज- के0 के0 शर्मा।
2. भारत में स्थानीय शासन- एस0 आर0 माहेश्वरी।
3. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

21.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में पंचायती राज की पृष्ठभूमि और उसकी स्थिति को स्पष्ट कीजिए।
2. विकेन्द्रीकरण से आप क्या समझते हैं?
3. स्थानीय स्वशासन को समझाइये।
4. तिहतरवें संविधान संशोधन की मुख्य बातों को स्पष्ट करते हुए उसकी मुख्य विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

इकाई- 22 नीति प्रभाव और मूल्यांकन

इकाई की संरचना

22.0 प्रस्तावना
22.1 उद्देश्य
22.2 नीति से तात्पर्य
    22.2.1 नीति का अर्थ
    22.2.2 नीतियों का निर्धारण
    22.2.3 नीति-निर्माण का आधार
22.3 नीति निर्माण को प्रभावित करने वाले तत्व
22.4 भारत में नीति निर्माण
    22.4.1 नीति-निर्माण में मंत्रीमंडल की भूमिका
    22.4.2 नीति-निर्माण में मंत्रीमंडल के सचिवालय की भूमिका
    22.4.3 नीति-निर्माण में प्रधानमंत्री तथा उसके कार्यालय की भूमिका
    22.4.4 नीति-निर्माण में केन्द्रीय सचिवालय की भूमिका
    22.4.5 नीति-निर्माण में योजना आयोग की भूमिका
    22.4.6 नीति-निर्माण में राष्ट्रीय विकास परिषद की भूमिका
22.5 नीति मूल्यांकन
    22.5.1 प्रशासनिक मूल्यांकन
    22.5.2 न्यायिक मूल्यांकन
    22.5.3 राजनीतिक मूल्यांकन
22.6 भारत में नीति का मूल्यांकन
22.7 सारांश
22.8 शब्दावली
22.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
22.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
22.11 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री
22.12 निबंधात्मक प्रश्न

22.0 प्रस्तावना

किसी भी संगठन में, चाहे वह निजी क्षेत्र में हो चाहे सार्वजनिक, कोई भी कार्य प्रारंभ करने के पूर्व नीति-निर्माण करना अनिवार्य होता है। किसी भी प्रबन्धक व्यवस्था के लिए ऐसा करना आवश्यक होता है। किसी संगठन के लक्ष्यों, जो प्रायः अस्पष्ट और सामान्य होते हैं, को नीति के मुद्दों में सुस्पष्ट किया जाता है और वही प्रशासन के पहियों को गति प्रदान करते हैं। नीति में जो मुद्दे होते हैं, वे बहुत कम और सरल भी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में उन पर सरलता और शीघ्रता से निर्णय किया जा सकता है। अथवा यह मुद्दे बहुत अधिक और जटिल भी हो सकते

हैं, जिन पर एक सही नीति का निर्णय करने के पूर्व उन पर पर्याप्त खोज, अध्ययन तथा विश्लेषण की आवश्यकता होती है। नीति-निर्माताओं को अनेक तत्वों द्वारा प्रभावित भी किया जा सकता है। और नीतियों का विभिन्न संगठनों, समूहों द्वारा मूल्यांकन भी किया जाता है।

22.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नीति का अर्थ समझ सकेंगे।
- नीतियों का निर्धारण कैसे किया जाता है, इसे जान पायेंगे।
- नीति-निर्माण का आधार क्या हैं, इसका ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- नीति-निर्माण को प्रभावित करने वाले तत्वों को समझ सकेंगे।
- नीति मूल्यांकन क्या है, इसका ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- भारत में नीति-निर्माण कैसे होता है और नीतियों का मूल्यांकन कैसे किया जाता है, इसको जान पायेंगे।

22.2 नीति से तात्पर्य

नीति से तात्पर्य प्रस्तुत परिवेश के भीतर विशिष्ट लक्ष्य या उद्देश्य प्राप्त करने के लिए व्यक्ति समूह, संस्था या संस्कार की प्रस्तावित क्रियाविधि के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है। प्रत्येक प्रकार के संगठन में चाहे वह सरकारी हो या गैर-सरकारी प्रत्येक क्रिया से पूर्व नीति निर्धारण आवश्यक होता है। सभी प्रकार के प्रबन्धन के लिए यह पूर्वपेक्षा है। नीति ही एक ऐसे ढाँचे का निर्धारण करती है जिसके भीतर संगठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। किसी संगठन के उद्देश्य प्रायः अस्पष्ट और सामान्य होते है जिन्हें नीति लक्ष्यों के रूप में सुनिश्चित किया जाता है और जो प्रशासन में गतिशीलता उत्पन्न करते है। नीति-निर्धारण सरकार का एक महत्वपूर्ण कार्य है। एप्पल बी के शब्दों में जन प्रशासन का सार नीति-निर्माण है। मार्शल डिमॉक ने नीति की परिभाषा इस प्रकार दी है यह संचेतन रूप से स्वीकृत आचरण की संहिता है जो प्रशासन का दिशा निर्देश करती है।

22.2.1 नीति का अर्थ

क्या किया जाय कैसे किया जाए कब किया जाए और कहाँ किया जाए इसका निर्णय करना ही नीति है। डिमाग्स के अनुसार ''नीतियाँ व्यवहार के वे नियम हैं जिन्हें सचेत रूप से मान्यता प्राप्त है और जो प्रशासनिक निर्णयों का मार्गदर्शन करते हैं।'' फ्रैडरिक का विचार है कि अमुक परिस्थितियों में क्या करना है क्या नहीं करना हैं, के संबंध में किये गये निर्णय ही नीतियां है। सार्वजनिक नीतियां सरकारों द्वारा किये गये निर्णयों का परिणाम होती हैं और सरकारों के द्वारा कुछ भी न करने के निर्णय उसी प्रकार नीति है, जिस प्रकार कुछ करने का निर्णय नीति है। विलयम जैन किन्ज लोकनीति की परिभाषा इस प्रकार देते हैं- लोकनीति किसी राजनीतिक कार्यकर्ता या कार्यकर्ताओं के समूह द्वारा किये गये निर्णयों की माला है, जिसका संबंध लक्ष्यों के चयन और एक निश्चित स्थिति के भीतर उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अपनाये जाने

वाले साधनों से है। जहाँ सिद्धान्त रूप में ऐसे निर्णयों को करने का अधिकार उन राजनीतिक कार्यकर्ताओं की सत्ता के दायरे में है। उनका यह भी कहना है कि लोकनीति निर्माण सरकारों का लक्ष्योन्मुखी व्यवहार है। जेम्स एण्डर्सन के अनुसार नीति ''किसी कार्यकर्ता या कार्यकर्ताओं के समूह द्वारा किसी समस्या अथवा चिन्ताजनक विषय निपटते हुए कार्य का उद्देश्य पूर्ण मार्ग है।

एण्डरसन की परिभाषा से दो अतिरिक्त बातें जुड़ जाती हैं, पहला- एक सरकार के भीतर नीति-निर्णय प्रायः कार्यकर्ताओं के समूहों द्वारा किये जाते हैं ताकि एक समूह अथवा एक कार्यकर्ता द्वारा नीतियां प्रायः न केवल बहुनिर्णयों का परिणाम होती है अपितु बहुनिर्णयकर्ताओं के बहुनिर्णयों का, जो समूची सरकार के सारे संगठनों के अंतर्गत बिखरे होते हैं। दूसरा- यह सरकार के कार्य तथा समस्या के होने की अनुभूति जिसमें कार्य करना वांछनीय है के बीच संबंध को महत्व देता है।

कई बार नीति-निर्माण निर्णय करने की प्रक्रिया से जुड़ा होता है। यद्यपि इन दोनों में निकट का संबंध है, किन्तु यह दोनों एक नहीं हैं। हर नीति-निर्माण में निर्णय करने की प्रक्रिया होती है, परन्तु प्रत्येक निर्माण नीति नहीं होता। आस्टिन रैन्नी लोकनीति के पाँच अंगों का उल्लेख करते हैं जो इस प्रकार हैं- एक विशेष लक्ष्य या लक्ष्य समूह, घटनाओं का वांछित मार्ग, कार्य करने की शैली का चयन, संकल्प या उद्देश्य की घोषणा, तथा उद्देश्यों को लागू करना या कार्यान्वयन करना।

22.2.2 नीतियों का निर्धारण

नीति-निर्माण के दो रास्ते हैं एक, जनता के द्वारा उनके निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से जो विधानमण्डल और मंत्रीमंडल में होते हैं और दूसरा, प्रशासनिक अधिकारियों के द्वारा उनके अपने ही श्रेष्ठों के माध्यम से ऐसे देशों में जहाँ संसदीय शासन प्रणाली होती है, यह दोनों रास्ते एक सामान्य स्थान पर मिल जाते हैं, यह स्थान है मंत्रीमंडल। वह योजक(Connector) चिन्ह है जो कार्यकारिणी तथा विधानमण्डल को जोड़ता है। जहाँ अध्याक्षात्मक प्रणाली काम करती है। दूसरा रास्ता निरंतर अलग चलता रहता है और अन्ततः प्रमुख कार्यकारी अर्थात राष्ट्रपति में आकर समाप्त होता है। किन्तु यह दोनों रास्ते कभी भी पूर्णतया एक-दूसरे से स्वतंत्र नहीं होते, क्योंकि कई बार विधानमण्डलीय नीति-निर्माण का प्रोत्साहन प्रशासनिक संगठनों द्वारा किया जाता है और कभी-कभी विधानमण्डल के कानून प्रशासनिक नीति को प्रभावित और निर्मित करते हैं। नीतियों के निर्धारण में कुछ संस्थाओं की भूमिका का विवरण इस प्रकार है-

1. **विधानमण्डल-** विधानमण्डल द्वारा निर्मित नीति को इसके द्वारा बनाये गये कानूनों अथवा पास किये गये प्रस्तावों द्वारा व्यक्त किया जाता है। साधारणतया यह मनुष्य लक्ष्यों को निर्धारित करता है जिनका अनुकरण प्रशासन करता है और अधिक महत्वपूर्ण स्थितियों में यह उस मशीनरी तथा कार्यविधि को भी निर्मित करता है जिनके माध्यम से लक्ष्यों का अनुकरण किया जाएगा। आधुनिक समय में नीति-निर्माण में पहल-शक्ति विधानमण्डल के हाथ से निकलकर कार्यकारी के हाथों में

चली गयी है। विधानमण्डल द्वारा नीति-निर्माण शक्ति केवल संवैधानिक दृष्टि से सत्य है, न कि व्यवहारिक राजनीति की दृष्टि से, वर्तमान राज्यों में विधानमण्डल पर मंत्रीमण्डल अथवा सत्तारूढ़ राजनीतिक दल का पूर्ण प्रभुत्व रहता है। अतः सत्ता अमुक समय पर विधानमण्डल की कार्यप्रणाली पर हाबी होती है और उसके माध्यम से नीति-निर्णय करने में सफल होती है। कार्यकारिणी पर विधानमण्डल का नियंत्रण अधिकतर परोक्ष ही होता है। विधानमण्डल नीतियों का क्रियान्वयन विभागों के परामर्श और सहायता से करता है।

2. **कार्यकारिणी-** संसदीय शासन प्रणाली में कार्यकारिणी का अर्थ वास्तविक कार्यकारी अथवा मंत्रीमण्डल माना जाता है। मंत्रीमण्डल ही राज्य में सर्वोच्च नीति-निर्माण संस्था होती है। मंत्रीमण्डल का एक कार्य नीति को निर्मित करना होता है, चाहे वह आर्थिक नीति हो, या राजनैतिक या विदेश नीति। मंत्रीमण्डल ही उन नीतियों पर निर्णय करता है जिन्हें विधानमण्डल के सम्मुख इसकी स्वीकृति के लिए पेश किया जाता है। मंत्रीमण्डल के भीतर नीति-निर्माण पर सबसे अधिक प्रभाव प्रधानमंत्री का होता है क्योंकि वही यह निर्णय करता है कि मंत्रीमण्डल की बैठक में किन-किन विषयों पर विचार किया जाए और बैठक में जिन विषयों पर आम राय बन जाती है, उनका संस्था के रूप में कार्य करता है। वास्तव में सरकार में सामूहिक निर्णय करने का कार्य समूचे मंत्रीमण्डल की बैठक में करने की अपेक्षा मंत्रीमण्डल की समितियों में किया जाता है। बहुत सारे मुद्दे संबंधित मंत्रियों द्वारा प्रधानमंत्री के साथ परामर्श करके तय कर लिये जाते हैं।

   अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में है, में नीति-निर्माण की पहल-शक्ति और उस पर नियंत्रण राष्ट्रपति के हाथ में होता है। वह न केवल सर्वोच्च कार्यकारी होता है अपितु सर्वोच्च विधायक और सर्वोच्च नीति-निर्माता भी बन गया है। कभी-कभी विधान-संबंधी प्रस्तावों पर कांग्रेस अपना प्रभाव डालती है और कभी-कभी राष्ट्रपति द्वारा भेजे गये प्रस्तावों को रद्द भी कर देती है। परन्तु वास्तव में ऐसा करना राष्ट्रपति पर नीति को थोपना नहीं होता, वरन् राष्ट्रपति की स्वेच्छचारिता को रोकना उसको नियंत्रित करना होता है। प्रतिरक्षा और विदेश नीति के क्षेत्रों में राष्ट्रपति को कहीं अधिक व्यवहारिक स्वतंत्रता प्राप्त हो सकती है।

3. **प्रशासनिक अभिकर-** राजनीति प्रशासन द्विभाजन (Politics-Administration Dichotomy) विचारधारा के अनुसार नीति-निर्माण विधानमण्डल का कार्य होता है और प्रशासन इसको लागू करता है। प्राथमिक तथा विस्तृत नीति का निर्माण विधानमण्डल ही करता है, किन्तु जहाँ इसके लिए पहल स्वयं विधानमण्डल ही करता है अथवा मंत्री करते हैं, वहाँ भी उसको व्याहारिक रूप देने के लिए प्रशासन ही तथ्यों, आँकड़ों तथा टिप्पणियों से सहायता करता है। इसके अतिरिक्त जब विधानमण्डल नीति का निर्माण करता है तो उस प्रथम स्तर पर कोई भी नीति, विस्तार

में पूर्ण नहीं होती क्योंकि विस्तार को सम्मिलित करने के लिए विधानमण्डल के पास न तो अनिवार्य समय होता है और न ही ज्ञान। प्रशासनिक अधिकारी ही उस नीति को लागू करते हुए विभिन्न चरणों पर उत्पन्न होने वाली यथार्थ समस्याओं की रोशनी में समय और ज्ञान प्रदान करते हैं। अतः विधानमण्डल द्वारा निर्मित की गयी प्राथमिक नीति के दायरे में दूसरे, तीसरे आदि स्तरों पर नीति को बनाने और इसमें विस्तार करने का कार्य प्रशासनिक पदसोपान के विभिन्न स्तरों पर होता है।

जहाँ भी यह निर्णय करना हो कि कैसे, कहाँ और कब किया जाए तो लचीलेपन हेतु यह अधिकतर प्रशासन की स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाता है और जहाँ भी कार्य को एक या दूसरी ओर करने की स्वेच्छा होती है, वहाँ ही नीति-निर्माण के लिए कुछ अवसर उपलब्ध होता है।

4. **न्यायपालिका-** साधारणतया न्यायपालिका का कार्य उन मुकदमों में, जो इसके सामने लाए गये हों, विधान मण्डल द्वारा बनाये गये कानूनों की व्याख्या करना और लागू करना है। अतः नीति-निर्माण का कार्य इसके कार्यक्षेत्र से बाहर होता है। किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत जैसे देशों में जहाँ न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्राप्त हैं, न्यायालयों ने नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। न्यायिक पुनरावलोकन न्यायपालिका को दी गई वह शक्ति है जिसके द्वारा वह विधानमण्डल और कार्यकारिणी द्वारा किये गये कार्यों की संविधानिकता पर विचार करती है और यदि यह कार्य संविधान की धाराओं के अनुकूल न हो, तो उनको अवैध घोषित कर सकती है। भारत में न्यायालयों के कई निर्णयों ने सार्वजनिक नीति को प्रभावित किया है और ऐसा आर्थिक और सामाजिक कल्याण के क्षेत्रों में विशेषकर हुआ है।
5. **राजनीतिक दल-** वर्तमान राज्य, चाहे वे लोकतांत्रिक हो या न हो, पर राजनीतिक दलों का नियंत्रण उन पर रहता है। अतः ये राजनीतिक दल लोकनीति-निर्माण की मशीनरी का महत्वपूर्ण भाग होते हैं। प्रायः प्रत्येक राजनीतिक दल का कोई न कोई कार्यक्रम या नीतियां होती हैं। चुनावों से पूर्व राजनीतिक दल इन्हीं कार्यक्रमों, नीतियों और मूल्यों को जनता की स्वीकृति के लिए घोषणा-पत्रों के रूप में जारी करते हैं ताकि उनका समर्थन प्राप्त कर सके। स्पष्टतया घोषणा-पत्र का उद्देश्य यह होता है कि यदि वह दल चुनाव जीत जाता है तो वह घोषणा-पत्र में कही गयी नीतियों को लागू करेगा जिनका वायदा जनता से किया गया है। चूँकि विधानमण्डल में बहुमत प्राप्त करने वाला दल ही सरकार बनाता है अतः इसके नेता लोकनीति का निर्माण करने लगते हैं जिनके प्रति वे वचनबद्ध होते हैं। अध्याक्षात्मक शासन प्रणाली में भी राजनीतिक दल राष्ट्रपति और कांग्रेस (Congress) के पदों के माध्यम से नीतियों को लागू करने का प्रयास करते हैं। अतः नीति-निर्माण में राजनीतिक दलों की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण होती है।

6. **दबाव समूह-** दबाव समूहों को हित समूह भी कहते हैं। इन संगठनों की औपचारिक संरचना होती है और इनके सदस्यों का कोई न कोई सामान्य हित होता है। राजनीतिक पदों को प्राप्त किये बिना ही यह समूह सरकार की नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन जैसे विकसित लोकतांत्रिक देशों में यह समूह बड़े संगठित और शक्तिशाली होते हैं। मजदूर संगठन, नारी संस्थाऐं, किसान संगठन, व्यापार संघ उत्पादक व निर्माता संगठन, उपभोक्ता समूह, व्यवसायिक समूह ऐसे ही समूहों के उदाहरण हैं। वे अपने सदस्यों के हितो की रक्षा के लिए निरन्तर प्रयास करते रहते हैं। इसके लिए वे सरकार तथा सरकारी अधिकारियों पर दबाव डालते हैं कि वह ऐसे निर्णय करें जो उनके हित में हो, या ऐसे निर्णय न करें जो उनके सदस्यों के हितों के विपरीत हो। इस उद्देश्य के लिए वे कई तरीके अपनाते हैं। जैसे- प्रचार अभियान, लॉबी प्रचार (lobbying) विधायकों या अधिकारियों के साथ व्यक्तिगत बातचीत, पत्र लिखना, ज्ञापन देना आदि। इस समूहों का प्राथमिक उद्देश्य किसी विशेष नीति के मुद्दे पर नीति-निर्माण को प्रभावित करना होता है।
7. **व्यक्तिगत नागरिक-** आज के युग में किसी भी सरकार के लिए यह संभव नहीं है कि वह स्थायी तौर पर नागरिकों पर ऐसी नीतियां थोप सके जो उनको स्वीकार नहीं है या जो उनकी इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं करती। लोक नीतियां नागरिकों के हितों के अनुरूप ही हो सकती है। कोई भी लोकतांत्रिक सरकार ऐसी नीतियां नहीं अपना सकती जिनका जनता के बहुत बड़े भाग द्वारा विरोध किया जाए। इस प्रकार नागरिक नीति-निर्माण को परोक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।

   वोट के अधिकार का प्रयोग नागरिकों को लोकनीतियों के चयन के योग्य बनाती है। चुनाव नागरिकों को ऐसा अवसर प्रदान करते हैं कि वे विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा प्रतिपादित नीतियों में से विकल्पित नीति चुन सकते हैं। किन्तु नीति-निर्माण में एक नागरिक की प्रत्यक्ष भूमिका नगण्य ही होती है।

22.2.3 नीति-निर्माण का आधार

नीति का निर्माण चाहे विधानमण्डल द्वारा किया गया हो या कार्यपालिका द्वारा, सही तथ्यात्मक सूचना पर आधारित होना चाहिए। इसके लिए उचित सूचना मुख्यतः प्रशासन द्वारा ही एकत्र की जाती है और प्रस्तुत की जाती है। किन्तु प्रशासन द्वारा इस सूचना एवं अनिवार्य आंकड़ों को एकत्रित करने के 4 तरीके हैं, पहला- अपने ही आंतरिक रिपोर्टों, आंकड़ों तथा अभिलेखों में से। दूसरा- गैर-सरकारी संगठनों से। तीसरा- आयोगों अथवा छानबीन करने वाली समितियों द्वारा की गई विशेष जाँच पड़ताल में से तथा चौथा- अनुसंधान तथा अध्ययन से।

प्रत्येक प्रशासनिक विभाग अपने ही विभिन्न उपशाखाओं अथवा अभिकरणों से उनकी विभिन्न प्रकार की गतिविधियों के संबंध में समय-समय पर रिपोर्ट, विवरण, हिसाब-किताब, आंकड़े आदि प्राप्त करते रहता है। इन सबको विभागों द्वारा एकत्र कर लिया जाता है और अभिलेखों का रूप दे दिया जाता है और ये सभी आंकड़े व सामग्री नीति-निर्माण के लिए

प्रयोग करने के लिए उपलब्ध होते हैं। क्योंकि आधुनिक समय में नियोजन पर बहुत बल दिया जाता है। अतः आंकड़े प्रशासन का बहुत महत्वपूर्ण उपकरण बन गए हैं और कई विभाग अपनी गतिविधियों के संबंध में आकड़े एकत्र करने के लिए विशेष प्रबन्ध करते हैं और विशेष मशीनरी की स्थापना करते हैं। भारत में दूसरों के अतिरिक्त वित्त, उद्योग तथा वाणिज्य, कृषि तथा खाद्य, श्रम मंत्रालय के अपने-अपने सांख्यिकी खंड होते हैं और एक केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन मंत्रीमण्डल के सचिवालय के साथ जोड़ दिया गया है जिससे सूचना तथा आंकड़े विभाग के भीतर उपलब्ध हो सकते हैं। विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध होने वाले आकड़ों को उचित ढंग से संगठित करना और उनकी व्याख्या करना जरुरी होता है, ताकि नीति-निर्माण के उद्देश्य से उसके असली महत्व को समझा जा सकता है।

विभागीय अधिकारियों की रिपोर्टों में दोषों और त्रुटियों को दूर करने के लिए विकासशील देशों में प्रशासन गैर-सरकारी अथवा निजी तथ्य खोज करने वाले समूहों से सम्पर्क करता है। जैसे- किसानों के संगठन, मजदूर संगठन, विश्वविद्यालय तथा विभिन्न व्यवसायिक संस्थाऐं । इन गैर-सरकारी संस्थाओं के द्वारा दी गई सूचना तथा आंकड़े, सरकारी रिपोर्टों और आंकड़ों में त्रुटियों को ठीक करने के लिए तथा स्थिति की संतुलित जाँच करने के लिए बहुत सहायक होते हैं।

विशेष क्षेत्रों में जाँच-पड़ताल करने के लिए सरकार द्वारा नियुक्त किये गये जाँच आयोग तथा समितियां, तथ्य खोज करने के लिए बहुत मूल्यवान प्रणाली है। इंग्लैण्ड में 'शाही आयोग' व 'हूवर आयोग' जैसे संगठन उन विषयों पर सूचना की सचमुच खान अथवा भण्डार हैं जिनका वे अध्ययन करते हैं। इन आयोगों का निश्चित विषय-क्षेत्र होता है जिनका वे अध्ययन करते हैं। वह कई गवाहों का परीक्षण करते हैं जो सरकारी अथवा गैर-सरकारी भी हो सकते हैं, ताकि उनसे तथ्यों और विचारों को प्राप्त किया जाऐ और जिस सामग्री को वे एकत्रित करते हैं। उसकी दृष्टि में सिफारिशें पेश करते हैं जो नई नीति अथवा वर्तमान नीति में सुधारों के लिए एक आधार बनती है। भारत में भी कई जाँच आयोग स्थापित किये गये। उदाहरण के तौर पर केन्द्रीय वेतन आयोग, राधाकृष्णन विश्वविद्यालय आयोग, स्थानीय वित्त जाँच आयोग, माध्यमिक शिक्षा, प्रेस आयोग इत्यादि।

22.3 नीति-निर्माण को प्रभावित करने वाले तत्व

नीति का निर्माण शून्यता में नहीं होता। जिन पर नीति-निर्माण का उत्तरदायित्व होता है उनको विभिन्न प्रकार के तत्वों द्वारा प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। नीति-निर्माण पर सर्वाधिक प्रभाव अपने पर्यावरण के आर्थिक और सामाजिक संस्थान, इतिहास, विधि, नैतिकता, दर्शन, धर्म, शिक्षा, परम्परा, विश्वास, मूल्य, प्रतीक, पौराणिक गाथाऐं आदि आते हैं, जिनको भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति कहते हैं। जैसा कि गाई पीटर्ज(Guy Peters) का कथन है, किसी देश की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थायें वहाँ की सरकार के कार्यों की सीमाऐं निर्धारित करती हैं। इस बात की व्याख्या करके कि सरकार में क्या अच्छा है और क्या बुरा, संस्कृति कुछ कार्यों को लगभग अनिवार्य बना देती है और कुछ अन्य कार्यों पर रोक लगा

देती है। इसका कारण यह है कि नीति का निर्माण करने वाले चाहे वे राजनीतिज्ञ हों, चाहे सरकारी अधिकारी, अपने समाज की ही उपज होते हैं। सरकारी पदों को प्राप्त करने के पूर्व वे समाज के मूल्यों, परम्पराओं और आचार-व्यवहारों को अपना चुके होते हैं। सामाजिक-वातावरण में जिन दृष्टिकोणों और व्यवहारों को वे विकसित कर लेते हैं, वे बहुत हद तक उनके निर्णयों को प्रभावित करते हैं। पाकिस्तान में राज्य को इस्लाम का धार्मिक स्वरूप देना, भारत में धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक संरचना, नरम राजनीतिक व्यवस्था और नागरिकों के विशेष वर्गों के लिए सरकारी पदों को सुरक्षित करने सम्बन्धी नीतियाँ अपने-अपने वातावरण में ही जन्म लेती हैं। इसी प्रकार राजनीतिक और आर्थिक संस्थान नीति-निर्माण को बहुत प्रभावित करते हैं। एक पूँजीवादी विकसित अर्थव्यवस्था में सरकार की नीतियाँ निश्चित रूप से उन नीतियों से भिन्न होगी जो एक समाजवादी या अविकसित अर्थव्यवस्था में बनाई जाती हैं।

नीति-निर्माण में वाह्य पर्यावरण भी एक महत्वपूर्ण कारक होता है। प्रत्येक राज्य राष्ट्रों के समुदाय का एक सदस्य होता है। कोई भी राज्य नीतियों का निर्माण इस प्रकार नहीं कर सकता जैसे कि और कोई राज्य करता ही न हो। नीतियों का निर्माण करते हुए किसी भी राज्य को अपनी सुरक्षा सम्बन्धी अनुभूति, दूसरे राज्यों की नीतियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय कानून व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों के प्रति इसकी वचनबद्धता और कर्तव्य, आन्तरिक स्थिति आदि ध्यान में रखनी पड़ती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण में परिवर्तन के कारण राज्य को अपनी आंतरिक और विदेश नीतियों में परिवर्तन करना पड़ता है। उदाहरणतया, विश्व में शीतयुद्ध तथा द्विधुर्वीय स्थिति (Bipolarity) जो द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे प्रमुख वास्तविकता रही है, समाप्त हो गए हैं। जिसके कारण राज्यों को अपनी-अपनी नीतियों में परिवर्तन करने पड़ते हैं।

आधुनिक समय में विचार-पद्धति(ideology) या विचारधारा ने भी राज्यों की नीतियों को बहुत प्रभावित किया है। उदारवाद, राष्ट्रवाद, फांसीवाद, साम्यवाद आदि सभी विचारधारायें हैं, जो सरकारों की नीतियों और कार्यों को प्रभावित करते हैं। विचारधारा के आधार पर ही यह निश्चित होता है कि राज्य किन कार्य-पद्धतियों को अपनायेगा और किन लक्ष्यों का अनुकरण करेगा। सरकार प्रचलित विचारधारा को सही मानकर उसको बनाए रखने का प्रयास करेगी।

राजनीतिक नेताओं का व्यक्तिव भी नीति को प्रभावित करता है। प्रत्येक मंत्री अथवा प्रधानमंत्री के अपने विचार या कल्पनाशक्ति होती है जिनको वह पद प्राप्त करने के उपरान्त कार्यान्वित करना चाहता है। ऐसा वह नीति-निर्माण के माध्यम से करने का प्रयास करता है। इसमें संदेह नहीं कि राजनीतिक नेता अपने दलों की नीतियों के प्रति वचनबद्ध होते हैं और उन्हीं के दायरे में रहकर कार्य करते हैं, फिर भी नेहरू, मार्ग्रेट थैचर या अन्य प्रगतिशील नेता प्रशासनिक नीतियों पर अपने व्यक्तिव की छाप छोड़ देता हैं। यह उसके परिवर्तन में प्रतिबिम्बित होती है जो मंत्री अथवा प्रधानमंत्री के बदल जाने पर उसके विभाग या समूची सरकार में दीख पड़ती है। नीतियों पर राजनीतिक दलों तथा दबाव या हित समूहों का भी प्रभाव होता है।

नीति-निर्माण में नौकरशाही बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रशासनिक नीति कानूनों के अनुरूप होनी चाहिए और संसदीय सरकार वाले देशों में यह विधानमण्डल की इच्छाओं के अनुरूप होनी चाहिए। अन्त में, जिस नीति का प्रभाव किसी एक विभाग से अधिक के कार्य अथवा क्षेत्र पर पड़ता है, तो उन सभी से इसकी अनुमति ली जानी चाहिए। कई बार इन विभागों के द्वारा उठाये गए ऐतराजों के कारण नीति-निर्णयों में बांधा आती है। यह नीति-निर्माण में आंतरिक अवरोधों का कार्य करते हैं।

अन्त में यह कहना अनिवार्य है कि नीति-निर्माण एक बड़ी लम्बी प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न स्तरों पर बड़ी संख्या में अधिकारी कार्य करते हैं। जैसा कि 'मेरी पार्कर फोलेट ने कहा है कि "प्रत्येक निर्णय एक प्रक्रिया में एक क्षण होता है। यह नीति-सम्बन्धी निर्णयों पर बहुत ही यथार्थ है। देखने को कोई नीति किसी विशेष संस्था अथवा अधिकारी का एक निर्णय जान पड़ती है, किन्तु यह संस्था अथवा अधिकारी उस विषय के पिछले इतिहास की लम्बी श्रृंखला में केवल जोड़ होता है। जो निर्णय किया गया है, उसके अन्तिम स्वरूप में अनेक समूहों, व्यक्तियों, अधिकारियों तथा गैर-सरकारी व्यक्तियों ने अपने-अपने अंश का योगदान दिया जाता है। अतः सदा ही एक नीति कई लोगों के सहकारी प्रयत्नों का परिणाम होती है।''

22.4 भारत में नीति-निर्माण

नीति-निर्माण अनिवार्य रूप से अपने पर्यावरण से प्रभावित होता है अतः सरकारों को चाहे वह संघीय स्तर पर हो या राज्यों में, हमारे देश के संविधान की सीमाओं के अंतर्गत रह कर कार्य करना पड़ता है। संविधान की प्रस्तावना तथा मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति निर्देशित सिद्धान्तों के अध्याय उस मार्ग को निश्चित करता है, जिस पर प्रशासन को चलना चाहिए। सरकार के वास्तविक प्रचलन में यह औपचारिक धाराओं का सदा अनुकूलन नहीं कर सकती, फिर भी प्रशासन के लिए इन धाराओं की अवहेलना या विरोध करना कठिन होता है।

संविधान भारत में संघीय राज्य की स्थापना करता है। अतः नीति-निर्माण प्रक्रिया को संघीय व्यवस्था के अनुकूल होना पड़ता है। भारतीय संघीय व्यवस्था की अपनी कुछ अद्वितीय विशेषतायें हैं। उसका विकास एकात्मक व्यवस्था से हुआ था और अब भी इसमें एकात्मक सरकारों को अपनी-अपनी शक्तियां देने के अतिरिक्त इसमें समवर्ती सूची में बड़ी संख्या में विषय दिये गये हैं। जिन पर केन्द्रीय सरकार को अभिभूत करने की शक्तियां प्राप्त हैं। वित्तीय दृष्टि से भी राज्य केन्द्र पर आश्रित है। जब तक केन्द्र पर कांग्रेस पार्टी का शासन रहा, इन तथा अन्य कारणों से नीति-निर्माण में केन्द्र राज्यों पर हावी रहा।

संविधान के दायरे के भीतर संसद ही कार्यकारिणी शक्तियों का स्रोत होती है। संसद द्वारा पारित हो जाने पर ही नीति-निर्माण पर सत्ता की मोहर लगती है। चाहे यह पंचवर्षीय योजना हो, चाहे औद्योगिक नीति, या जनसंख्या सम्बन्धी नीति या नई शिक्षा नीति, संसद द्वारा स्वीकार हो जाने पर ही इसको वैधानिकता प्राप्त होती है। जैसा कि अन्य आधुनिक राज्यों में हुआ है, ऐसे भारत में भी संसद की सत्ता में गिरावट आई है। यह गिरावट आधुनिक वर्षों में विशेष देखी जा सकती है। वैधानिक नेतृत्व कार्यकारिणी के हाथ में चला गया है। अतः नीतियों का निर्णय संसद के

बाहर किया जाता है किन्तु तदुपरांत उन पर संसद की स्वीकृति ले ली जाती है। मंत्री पहले से ही अपनी नीतियों की घोषणा कर देते हैं क्योंकि उनको संसद की स्वीकृति प्राप्त करने का विश्वास होता है। अतः नीति-निर्माण में भारतीय संसद की भूमिका वास्तविक होने की अपेक्षा औपचारिक अधिक है।

जहां तक भारत में केन्द्रीय सरकार का सम्बन्ध है, यहां नीति-निर्माण करने वाले प्रमुख अधिकारी हैं- प्रधानमंत्री तथा उसका कार्यालय जिसमें उसके परामर्शदाता भी सम्मिलित हैं साथ ही मंत्रीमण्डल के सदस्य मंत्री तथा सचिव। ''केन्द्रीय स्तर पर लगभग 400 नीति-निर्माता हैं और इनके अतिरिक्त कुल मिलाकर नीति-निर्माण करने वाले समुदाय की कुल संख्या एक हजार के लगभग होगी, जिनमें से 125 तो सर्वोच्च कहे जा सकते हैं। इस समूह की सदस्यता में परिवर्तन होता रहता है। परन्तु इसके विचारों और कार्य के स्वरूप में अनोखी स्थिरता जुड़े हैं- मंत्रीमण्डल , प्रधानमंत्री तथा उसका कार्यालय, मंत्रीमण्डल का सचिवालय, योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद्।

इन संस्थानों के अतिरिक्त भारत में नीति-निर्माण को प्रभावित करने वाले अन्य कई संगठन जैसे विभिन्न मंत्रालयों तथा विभागों के साथ जुड़े हुए परामर्शदाता तथा सलाहकार संस्थायें, प्रवर समिति, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, भारतीय श्रम सम्मेलन, आयात तथा निर्यात सलाहकार समिति, कई प्रकार के दबाव समूह, गैर-सरकारी संगठन, व्यवसायिक संस्थायें जैसे पर्यावरण सम्बन्धी समूह, मानव अधिकार तथा नागरिक स्वतंत्रता समूह, वाणिज्य संगठन, श्रम संगठन, विधि परिषदें(Bar Councils) राजनीतिक दल, समाचार पत्र आदि। जब तक कांग्रेस पार्टी का केन्द्रीय स्तर पर सरकार की सत्ता पर एकाधिकार रहा तब तक सरकार की नीति पर पार्टी का प्रभाव बहुत कम रहा। चूंकि पार्टी के शिखर के नेता सरकार में सम्मिलित होते थे, अतः नीतियों का स्रोत पार्टी न होकर सरकार होती थी। पार्टी को कहा जाता था कि वह सरकार की नीतियों का समर्थन करें। जैसे कि जवाहर लाल नेहरू के समय गुट-निरपेक्ष नीति के मुद्दे पर हुआ, इंदिरा गांधी के समय बैंकों के राष्ट्रीयकरण, संकट काल (Emergency) की घोषणा, 20 सूत्री कार्यक्रम मुद्दों पर हुआ, राजीव गांधी के समय देश की अर्थव्यवस्था को मुक्त करने, और नरसिम्हा राव के समय उदारीकरण के विषय पर हुआ। यह उदाहरण केवल व्याख्यात्मक मात्र हैं जो मिली-जुली सरकारें 1977-79, 1989-91 तथा 1996 के उपरांत सत्तारूढ़ हुई। उनको नीति-निर्माण में बहुत कम स्वतंत्रता प्राप्त थी क्योंकि उन्हें मिली-जुली सरकार में भाग लेने वाले राजनीतिक दलों के भिन्न-भिन्न विचारों में करना पड़ता था। भारत में नीति-निर्माण से जुड़ी अनेक संस्थाएं हैं-

22.4.1 नीति-निर्माण में मंत्रीमण्डल की भूमिका

संसदीय शासन व्यवस्था में मंत्रीमण्डल नीति-निर्माण की उच्चतम संस्था होती है। नीति के प्रश्नों पर, विशेष या महत्वपूर्ण विषयों पर, मंत्रीमण्डल की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। यह या तो स्वयं निर्णय करती है या विषय को अपनी किसी उप-समिति को सौंप देती है। मंत्रीमण्डल की तीन उप-समितियां होती हैं, पहला- राजनीतिक मामलों की समिति, दूसरा-

आर्थिक मामलों की समिति तथा तीसरा- सार्वजनिक नियुक्तियों पर समिति। बहुत सारा कार्य मंत्री अपने स्तर पर निपटा देते हैं या मंत्रीमण्डल की उप-समितियों के स्तर पर निपट जाता है। केवल बहुत महत्वपूर्ण विषय होते हैं जो समूचे मंत्रीमण्डल को भेजे जाते हैं। सामान्यता मंत्रीमण्डल एक अनुमोदक संस्था है परन्तु कभी-कभी इसकी बैठकों में नीति के नये मुद्दे सामने आ जाते हैं। नीति-निर्माण में मंत्रीमण्डल कितनी प्रभावी संस्था है, यह इस बात पर आश्रित होता है कि प्रधानमंत्री के मुकाबले में इसके सदस्यों का महत्व कितना बड़ा है। यदि एक प्रधानमंत्री सशक्त, लोकप्रिय है तो उससे मंत्रीमण्डल का महत्व कम हो जाता है।

22.4.2 नीति-निर्माण में मंत्रीमण्डल के सचिवालय की भूमिका

नीति-निर्माण में मंत्रीमण्डल के सचिवालय की भूमिका क्या होती है, यह स्पष्ट नहीं है। मुख्यतया यह तालमेल रखने वाला संस्थान है। यह प्रधानमंत्री के निर्देशन के अधीन कार्य करता है। यह उच्च्तम स्तर पर निर्णय-प्रक्रिया में तालमेल की भूमिका निभाता है। मामलों को मंत्रीमण्डल तथा इसकी समितियों के सम्मुख पेश करना, किये गये निर्णयों के रिकार्ड (Records) तैयार करना और उनके कार्यान्वयन के लिए पीछे लगने का कार्य करना आदि इसके कार्यों के अंतर्गत आते है। प्रधानमंत्री के कार्यालय (P.M.O.) के उदय के कारण मंत्रीमण्डल के सचिवालय की सत्ता में कमी आई है। एस.सी. बाजपेयी लिखते हैं ''हमारी शासन व्यवस्था में मंत्रीमण्डल के सचिव की भूमिका सदा ही महत्वपूर्ण रही है और संकट काल की स्थिति में या मंत्रीमण्डल के मंत्रियों में सजगता के अभाव में तो इसकी भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है.....इसके साथ ही साथ मंत्रीमण्डल के सचिवालय की सत्ता में कुछ हद तक ह्रास हुआ है और मंत्रीमण्डल के सचिव के सत्ता में भी इसका कारण प्रधानमंत्री के कार्यालय का बहुत सशक्त बन जाना है।'' प्रधानमंत्री के कार्यालय की बढ़ती हुई शक्ति और इसके साथ ही साथ मंत्रीमण्डल के सचिवालय की घटती हुई सत्ता पर टिप्पणी करते हुए एक पत्रकार चाँद जोशी का कहना है ''नौकरशाही पदसोपान के अंतर्गत सर्वप्रथम जिसकी हानि हुई, वह था मंत्रीमण्डल के सचिव का कार्यालय, जो समूची नौकरशाही के लिए निर्णय तथा संसाधन संस्था थी। मंत्रीमण्डल के सचिव को ऐसी स्थिति तक घटा दिया गया है जहां वह प्रशासन के शिखर पर नाभीय केन्द्र (Focal Point) होने की अपेक्षा वरिष्ठतम क्लर्क बनकर रह गया है।''

22.4.3 नीति-निर्माण में प्रधानमंत्री तथा उसके कार्यालय की भूमिका

हमारी शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति केवल राज्याध्यक्ष होता है, एक नाम मात्र अथवा औपचारिक कार्यकारिणी। वास्तविक सत्ता प्रधानमंत्री के हाथ में होती है जो एक वास्तविक (defacto) कार्यकारिणी है और सरकार का मुखिया होता है। वह मंत्रीमण्डल का भी अध्यक्ष होता है। उसका कार्यालय क्या है ? यह उसी पर ही निर्भर करता है। जहां तक सरकार में नीति-निर्माण का प्रश्न है, वही इसका स्रोत तथा अंतिम सत्ता होता है। नीति-निर्माण में उसकी एक विशेष स्थिति होती है और अन्य मंत्री अधीन स्तरों पर भिन्न-भिन्न भूमिकायें निभाते हैं। जब तक जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रधानमंत्री थे, तो सरकार की नीतियों- जैसे नियोजन, आर्थिक तथा सामाजिक नीतियों, विदेश नीति आदि, में उनकी पारदर्शिता, उनकी विचारधारा तथा

उनका नेतृत्व प्रतिबिम्बित होते थे (नियोजन, हिन्दू कोड बिल, मिश्रित अर्थव्यवस्था, धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र, गुटनिरपेक्षता) वह एक बौद्धिक विशालमूर्ति(Colonus) थे और इसलिए नीति-निर्माण में शेष सभी कार्यकर्ताओं को ढांप(Cover) लेते थे। परन्तु इसके उपरान्त भी वह लोकतंत्रवादी थे, जो लोकतंत्र की परम्पराओं और संस्थानों का निर्माण करने में विश्वास रखते थे। जवाहरलाल नेहरू के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह समय-समय पर सभी विभागों के सचिवों को समूहों में खाने पर आमंत्रित करके उनके साथ सम्पर्क बनाये रखते थे। अतः वह एक लोकतांत्रिक नेता के तौर पर सत्ता का प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त, उनके मंत्रीमण्डल में सरदार पटेल, रफी अहमद किदवाई, मौलाना आजाद, जीबी पंत जैसे राष्ट्रीय आंदोलन के उच्च स्तर के नेताओं के होने के कारण प्रधानमंत्री के हाथ में सत्ता केन्द्रित नहीं हो पाई। उस समय प्रधानमंत्री के कार्यालय जैसी कोई वस्तु नहीं थी। समय बीतने के साथ प्रधानमंत्री के कार्यालय में बड़ा परिवर्तन आ गया है।

जब लाल बहादुर शास्त्री 1964 में प्रधानमंत्री बने तो उन्होने एलके झा को प्रधानमंत्री के प्रथम सचिव के पद पर नियुक्त किया क्योंकि वह विदेशी मामलों तथा आर्थिक मामलों से निपटने में इतने आश्वस्त नहीं थे। इसका आरम्भ एक सचिव, तीन संयुक्त सचिवों तथा थोड़े से अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति के साथ हुआ। इन्दिरा गांधी के अधीन यह एक परम-सरकार के रूप में विकसित हुआ। निर्णय करने की सभी शक्तियों को अपने तथा अपनी मंडली के हाथों में केन्द्रित करके इन्दिरा गांधी ने प्रशासनिक संरचना को एक ओर छोड़ दिया। हर एक निर्णय जो राष्ट्रीयकरण किये गये बैंकों के अध्यक्षों की नियुक्तियों से प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्तियों तक फैले थे, प्रधानमंत्री द्वारा किया जाने लगा।

1977 में जब जनता सरकार बनी तो मोरारजी देसाई ने प्रधानमंत्री के सचिव के कार्यालय को बनाये रखा। किन्तु मंत्रीमण्डल के सचिव का प्रधानमंत्री के साथ बड़ा अच्छा सम्पर्क था और वह तुरन्त प्रधानमंत्री से भेट कर सकता था। राजीव गांधी के प्रधानमंत्री बनने के समय उसका कार्यालय संरचना कार्य तथा कार्य संस्कृति की दृष्टि से विकृत हो गया। इसमें कुछ ऐसे लोग आ गये जिन्होंने प्रधानमंत्री के साथ अतीत में शिक्षा प्राप्त की थी या कार्य किया था और जो एक ही दृष्टिकोण के अतिरिक्त किसी और का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। जब वीपी सिंह तथा चन्द्रशेखर प्रधानमंत्री बने तो इन्दिरा गांधी के समय की प्रशासनिक और राजनीतिक संस्कृति ही चलती रही तथा प्रधानमंत्री के कार्यालय का बोलबाला रहा। इस परम्परा को नरसिम्हा राव ने जारी रखा ताकि सरकार और पार्टी पर उसकी पकड़ मजबूत हो जाये। राजनीतिक तथा प्रशासनिक दोनों क्षेत्रों में ही प्रधानमंत्री के कार्यालय की भूमिका सरकार ने निर्णय करने की प्रक्रियाओं के स्रोत की थी और यह भूमिका बहुत महत्वपूर्ण थी क्योंकि 1991 से 1996 तक का समय राजनीतिक अनिश्चितता का समय था जब कि अल्पमत सरकार संसद में निरन्तर दबाव के अधीन थी।

22.4.4 नीति-निर्माण में केन्द्रीय सचिवालय की भूमिका

भारत सरकार के भीतर नीति-निर्माण संबंधी सभी संगठनों में से सचिवालय एक असाधारण उच्च मंच पर खड़ा है। चूँकि यह भारत सरकार की गद्दी है, निःसंदेह इसे नीति-निर्माण संगठन के रूप में ही तैयार किया गया। संरचनात्मक तौर पर इसे कार्यान्वयन से भिन्न समझा गया। परन्तु सचिवालय के लिए कर्मियों की भर्ती के माध्यम से कार्यान्वयन करने वाले अभिकरणों से जोड़ा गया। सचिवालय में मध्यम तथा उच्च स्तरों पर पद-अधिकारियों की नियुक्ति राज्य सरकारों तथा विभिन्न केन्द्रीय सेवाओं में से लिए गये अधिकारियों की प्रतिनियुक्ति(Deputation) द्वारा की जाती है। इसे पदावधि (tenure) व्यवस्था कहते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में विचारधारा यह है कि जो नीति-संबंधी विषयों पर मंत्रियों को परामर्श देने या नीति-निर्माण कार्य में लगे हैं, उनको भारत जैसे विभिन्नता वाले देश में उन सभी व्यावहारिक कठिनाइयों और समस्याओं का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होना चाहिए जिनका सामना लोक अधिकारियों को क्षेत्र में कार्य करते हुए करना पड़ता है। इसी प्रकार अपने कार्यकाल में सचिवालय में काम कर लेने के उपरान्त लोक-अधिकारियों को सीधे उन लक्ष्यों से परिचय हो जाता है जो उन कार्यक्रमों और नीतियों के आधारभूत होते हैं जिनको अपना कार्यकाल पूरा कर लेने के उपरान्त कार्यान्वित करना होता है।

22.4.5 नीति-निर्माण में योजना आयोग की भूमिका

योजना आयोग एक स्टाफ(Staff) अभिकरण है और इसलिए इसे भारत सरकार की परामर्शदाता संस्था के रूप में कार्य करना होता है। चूँकि 1950 वाले दशक के प्रारम्भ में ही भारत ने समाज के समाजवादी ढाँचे का निर्माण करना अपना उद्देश्य बनाया था, तो योजना आयोग को एक महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त हुई। इसे न केवल केन्द्रीय सरकार के लिए अपितु राज्यों के लिए भी पंचवर्षीय योजनायें बनानी पड़ती है। अतः प्रशासन के समूचे क्षेत्र के संबंध में यह नीतियों के निर्माण के प्रभावित करता है। इसे कई बार 'महा-मंत्रीमण्डल' सम्बोधित किया जाने लगा था। चूंकि प्रधानमंत्री स्वयं इसका अध्यक्ष होता है और कुछ केन्द्रीय मंत्री भी इसमें शामिल होते हैं, इसलिए इसका बड़ा सम्मान हो गया है। देश के संसाधनों का प्रभावी तथा संतुलित प्रयोग करने के लिए यह न केवल पंचवर्षीय योजनायें बनाता है अपितु योजनाओं में प्राथमिकतायें भी निर्धारित करता है जो स्पष्टतः नीति-निर्माण कार्य है।

22.4.6 नीति-निर्माण में राष्ट्रीय विकास परिषद की भूमिका

राष्ट्रीय विकास परिषद नीति-निर्माण से जुड़ी हुई एक अन्य संस्था है। इसमें प्रधानमंत्री, कुछ केन्द्रीय मंत्री, सभी राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के मुख्यमंत्री और योजना आयोग के सदस्य सम्मिलित होते हैं। इससे पूर्व की एक पंचवर्षीय योजना को अन्तिम रूप दिया जाय और संसद के सम्मुख पेश किया जाये, उस पर राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा विकास किया जाना जरूरी है। परिषद के कार्यों में से एक यह भी है कि यह राष्ट्रीय विकास पर प्रभावित होने वाले महत्वपूर्ण आर्थिक तथा सामाजिक नीति के प्रश्नों पर विचार करती है। परन्तु इसका कार्य पूर्णतया संतोषजनक नहीं रहा। इसकी बैठकें बहुत कम होती रही हैं और उनमें विषयों पर

विचार भी कई बार गंभीरतपूर्वक नहीं किया गया।'' सिद्धान्त में तो राष्ट्रीय विकास परिषद एक संप्रभु संस्था है और योजना आयोग को इसके अधीन रखा गया है। परन्तु व्यवहार में एक सजावट की संस्था के स्तर तक सीमित होकर रह गयी है।''

किसी प्रस्तावित नीति की अनुमानित गंभीरता ही केवल एक तत्व नहीं है जिसमें यह निश्चित हो कि किस प्राथमिकता से किस संस्था या अभिकरण से परामर्श लिया जायेगा और उस परामर्श को क्या महत्व या वजन दिया जायेगा। इस बात का भी महत्व होता है कि नीति का प्रायोजक कौन है। यदि एक नीति का प्रस्तावक प्रधानमंत्री अथवा उसके कार्यालय द्वारा किया जाता है तो हो सकता है कि इस व्यवस्था की सभी इकाइयों में से इस पर विस्तारपूर्वक विचार न किया जायें और इस प्रक्रिया में कुछ संस्थानों को समझते हुए बाहर छोड़ दिया जाय कि उनकी स्वीकृति प्राप्त हुई मान ली जाती है। वास्तविकता तो यह है कि नीति-निर्माण के पीछे कई हित, कई तत्व, कई अनुभूतियां कार्य कर रही होती हैं। यह अनिवार्य नहीं है कि यदि एक जैसी समस्यायें फिर से सामने लायी जाती हैं तो स्थिति वैसी ही रहेगी। अतः नीति-निर्माण एक बड़ी जटिल प्रक्रिया है। कृष्णा मैनन जो जवाहरलाल नेहरू के मंत्रीमण्डल में प्रतिरक्षा मंत्री थे, ने एक बार कहा था नीतियां बहुत कम ऐसे ढंग से बनाई जाती हैं जो हम पुस्तकों में पढ़ते हैं। जो कुछ हमने सर आईवर जेनिंग्स की कृतियों या अन्य महाग्रंथों में पढ़ा उसका पालन नीति-निर्माण करते हुए नहीं किया जाता।

22.5 नीति मूल्यांकन

लोकनीति के लक्ष्य प्रायः सुस्पष्ट व्यक्त नहीं किये जाते तो यह जानना कि वे कहां तक पूरे हो रहे हैं, कठिन होता है। कई बार मूल्यांकनकर्ता स्वयं भी निरपेक्ष तथा तटस्थ व्यक्ति नहीं होते जो नीति के विषय का निष्पक्ष तथा अनासक्त(स्वतंत्र) अध्ययन करें जिसमें प्रायः विभिन्न प्रकार के हित जुड़े होते हैं। एक ही स्थिति की व्याख्या भिन्न-भिन्न मूल्यांकन कर्ता भिन्न-भिन्न कर सकते हैं। यह निश्चित करने का कोई तरीका नहीं है कि उनमें से कौन ठीक है। अन्त में कौन सी व्याख्या स्वीकार कर ली जाती है। इसका निर्णय विभिन्न कार्यकर्ताओं के बीच राजनीतिक विवादों तथा समझौतों के द्वारा होता है।

मूल्यांकनकर्ता सभी मानवीय स्थितियों को विचाराधीन नहीं ले सकते और हो सकता है कि उन्हें कई अमूर्त तथा अतिसूक्ष्म वस्तुओं की अवहेलना करनी पड़े, यद्यपि उसमें अप्रत्याशित आकस्मिकताओं के लिए व्यवस्था की गई हो। किसी भी नीति अथवा कार्यक्रम के मूल्य अथवा अच्छाई का मूल्यांकन करते हुए विभिन्न इकाईयां विभिन्न आयामों तथा मानकों को लागू करती हैं। लोकनीति क्या है और एक नीति द्वारा कौन से पक्ष चरण अथवा स्वरूप पर निर्णय किया जा रहा है, के सम्बन्ध में भी उनके भिन्न-भिन्न विचार हो सकते हैं।

मूल्यांकन एक राजनीतिक क्रिया है। इसका उद्देश्य नीति के प्रभावों का ही सदा पता लगाना नहीं होता। कई बार इसका प्रयोग कुछ तथ्यों को छिपाने या उन पर परदा डालने के लिए किया जाता है, वे तथ्य जिनसे सरकार को डर है कि वे उसको बुरे रूप में पेश करेंगे। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि सरकारें मूल्यांकन करवाने की शब्दावली इस ढंग से तैयार करें कि उससे

निकलने वाले निष्कर्षों से सरकार का अच्छा स्वरूप प्रकट हो या यदि यह नीति को समाप्त करना चाहती या उसमें संशोधन करना चाहती है तो यह मूल्यांकन कराने की शब्दावली को तदानुसार ढाल लें। यही बात ऐसे मूल्यांकनकर्ताओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है जो सरकार के बाहर हैं। उनके द्वारा किये गये मूल्यांकन का उद्देश्य सदा ही नीति में सुधार करना नहीं होता अपितु प्रायः इसकी आलोचना करना होता है ताकि उनको दलीय राजनीतिक लाभ प्राप्त हो सकें।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि नीति-मूल्यांकन पूर्णतया एक राजनीतिक प्रतिक्रिया है जिसमें एक नीति के कार्यान्वयन तथा इसके प्रभावों को सच्चाई से जानने की इच्छा नहीं होती। माईकेल हाऊलेट तथा एम. रमेश के अनुसार ''नीति मूल्यांकन का उच्चतम लाभ इससे उत्पन्न होने वाले सीधे परिणाम नहीं है, अपितु इससे जुड़ी हुई नीति सीखने की प्रक्रिया है।'' नीति कार्यकर्ता जिन नीतियों में लगे हैं उनके औपचारिक तथा अनौपचारिक मूल्यांकन से निरन्तर सीखते हैं और वे अपनी स्थितियों में परिवर्तन कर सकते हैं। जो सबक वे अपने मूल्यांकन से प्राप्त करते हैं इससे लोकनीति के साधनों तथा उद्देश्यों के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकलते हैं। इस प्रक्रिया का अभिन्न अंग वह विचार-विमर्श वाद-विवाद तथा तर्क-वितर्क हैं जो नीति कार्यकर्ताओं के बीच निरन्तर होती हैं।

नीति-मूल्यांकन को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता हैं- प्रशासनिक मूल्यांकन न्यायिक मूल्यांकन तथा राजनीतिक मूल्यांकन। जिस ढंग से ये चलाये जातें हैं जो कार्यकर्ता इनमें भाग लेते हैं और उनके प्रभाव की दृष्टि से ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं।

22.5.1 प्रशासनिक मूल्यांकन

यह सरकार के भीतर ही विशेष अभिकरणों द्वारा अथवा वैधानिक वित्तीय या प्रशासन विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है या किराये पर रखे हो सकते हैं। इनका कार्य सामान्यतया यहां तक सीमित होता है कि वे यह पता करें कि वांछित व्यक्तियों या समूहों को सरकार द्वारा दी जा रही सेवायें कितनी कुशलता से प्राप्त हो रही हैं। यहां उद्देश्य इस बात को आश्वासित करना होता है कि नीतियां अपने आशाकृत लक्ष्यों को कम से कम लागत पर और नागरिकों पर कम से कम बोझ डाल कर पूरा कर रही हों। प्रबन्धक निष्पादन, कार्मिक पुनर्निरीक्षण, वार्षिक लेखा-परीक्षण, बजटिंग व्यवस्थायें (budgeting systems) आदि जैसी पद्धतियों के पीछे यही विचार होते हैं। सरकार के अभिकरणों (agencies) द्वारा किया जा रहा मूल्यांकन पांच विभिन्न प्रकार का होता है-

1. **प्रयास मूल्यांकन-** सरकारें अपने लक्ष्यों की पूर्ति करते हुये जो प्रयास करती हैं यह उसकी मात्रा को मापन करने का प्रयत्न करता है। इसे आदान(input) कहते हैं।
2. **कार्य-निष्पादन मूल्यांकन-** इसका उद्देश्य केवल यह निश्चित करना है कि नीति क्या परिणाम दे रही है चाहे उसके कथित लक्ष्य कुछ भी हों (उत्पादन- output)। जैसे कितने रोगियों को देखा गया या बच्चों को पढ़ाया गया।

3. **निष्पादन-मूल्यांकन-** इसका उद्देश्य यह जानना है कि क्या कार्यक्रम वही कर रहा है जो करने की आशा उससे की गई थी। इसका अर्थ यह है कि किसी एक विशेष कार्यक्रम के निष्पादन की तुलना उसके आशा कृत लक्ष्य से की जाती है ताकि यह जानकारी प्राप्त की जा सके कि क्या यह कार्यक्रम अपने लक्ष्यों को पूरा कर रहा है या इसमें परिवर्तन या संशोधन की आवश्यकता है।
4. **कार्यकुशलता-मूल्यांकन-** यह किसी कार्यक्रम की लागत का अनुमान लगाने का प्रयास करता है और निर्णय करता है कि क्या उत्पादन की वही मात्रा और गुणवत्ता को कम लागत पर प्राप्त किया जा सकता है।
5. **प्रक्रिया-मूल्यांकन-** यह संगठनात्मक पद्धतियों, जिनमें नियम तथा कार्यात्मक रीतियां भी सम्मिलित हैं और जो कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए अपनायी जाती हैं का परीक्षण करता है। इसके पीछे विचार यह है कि यह देखा जाये कि क्या कार्य प्रणालियों को सुव्यवस्थित किया जा सकता है और अधिक कुशल बनाया जा सकता है।

22.5.2 न्यायिक मूल्यांकन

न्यायिक मूल्यांकन का सम्बन्ध जिस ढंग से सरकारी कार्यक्रम लागू किये जाते हैं के कानूनी पहलुओं से होता है। यह मूल्यांकन न्यायालयों द्वारा किये जाते हैं और इनका सम्बन्ध संविधान की धाराओं तथा सरकार के कार्यो के बीच सम्भावित झगड़ों या प्रशासनिक व्यवहार के स्थापित मानकों तथा व्यक्ति के अधिकारों में सम्भावित झगड़ों से होता है। जब किसी सरकारी विभाग या अभिकरण के विरूद्ध कोई मुकदमा दायर किया जाता है तो न्यायालय सरकार के कार्यों का पुनर्निरीक्षण कर सकते हैं। जो नीति लागू की जा रही है न्यायालय उसकी संवैधानिकता पर विचार कर सकती है, या क्या नीति कार्यान्वयन उस व्यक्ति के अधिकारों का उल्लंघन करता है जिसने नीति की संवैधानिकता को चुनौती दी है या क्या नीति प्राकृतिक न्याय के विपरीत है। परन्तु जिन कारणों के आधार पर न्यायालय नीति का मूल्यांकन कर सकते हैं वे विभिन्न देशों में भिन्न होते हैं। सामान्यतया न्यायालय इस बात का परीक्षण कर सकता है कि क्या नीति का विकास और कार्यान्वयन हास्यपद तथा स्वेच्छाचारी ढंग से तो नहीं किया गया और यह विधि के अनुकूल हुआ है और विधि की उचित कार्यप्रणाली के अनुरूप हुआ है।

22.5.3 राजनीतिक मूल्यांकन

यह लगभग किसी समूह द्वारा भी किया जाता है जैसे कि एक राजनीतिक दल द्वारा या हित समूह द्वारा मीडिया (समाचार पत्र, टी0वी0, रेडियो आदि) या गैर-सरकारी संगठन द्वारा जिस किसी की भी राजनीति में रूचि हो। यह मूल्यांकन न तो व्यवस्थित होते हैं और उनका शुद्ध होना भी जरूरी नहीं। ये पक्षपाती या एकाक्षी भी हो सकते हैं। इनका उद्देश्य किसी नीति में परिवर्तन लाना भी हो सकता है अथवा किसी चल रही नीति का समर्थन करना भी हो सकता हैं।

फिर भी राजनीतिक मूल्यांकन का अपना महत्व होता है, विशेषतया आम चुनावों जैसे विशेष अवसरों पर। सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों का निरंतर मूल्यांकन चुनावों में मतदाताओं के मतदान सम्बन्धी व्यवहार को प्रभावित कर सकता हैं। अतः खतरा मोल लिए बिना सरकार अपनी नीतियों की जनता में अनुभूति की अवहेलना नहीं कर सकती।

राजनीतिक मूल्यांकनों का स्वरूप विभिन्न प्रशासनिक स्तरों पर सम्बन्धित समूहों से परामर्श भी हो सकता है। इस परामर्श के लिए कई कार्यविधियां हो सकती हैं। जैसे इस उद्देश्य के लिए प्रशासनिक मंच स्थापित करना, या विशेष समितियां नियुक्त करना या परामर्श के लिए कृतिक बल (task forces) नियुक्त करना।

22.6 भारत में नीति का मूल्यांकन

भारत में तीन स्तरों पर निरन्तर नीति-मूल्यांकन होता है- प्रशासनिक स्तर, न्यायिक स्तर तथा राजनीतिक स्तर। प्रशासनिक अथवा सरकारी स्तर पर कई कार्य विधियां स्थापित की गई हैं जहां सरकार की नीतियों का परीक्षण होता है। हमारी संसदीय व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार संसद के प्रति उत्तरदायी है। संसद को ऐसी कई तकनीकें प्राप्त हैं जिनके द्वारा वह सरकार की नीतियों तथा कार्यों का परीक्षण कर सकती हैं। ये वाद-विवाद विभिन्न प्रकार के प्रस्ताव प्रश्नकाल, शून्य काल आदि का रूप लेते हैं। यह कार्य अधिकतर संसदीय समितियों के द्वारा किया जाता है। जैसे- अनुमान समिति, सार्वजनिक उपक्रमों पर समिति विषय समितियां आदि। यह निश्चित करने के लिये कि इनकी सिफारिशों पर सरकार पूरा ध्यान देगी, समितियों को पर्याप्त कार्यशैलियां प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त संसदीय मामलों का मंत्रालय, प्रत्येक मंत्रालय से जुड़ी हुई संसद के सदस्यों की सलाहकार समितियां स्थापित करता है। इन समितियों का उद्देश्य सरकार तथा संसद सदस्यों के बीच सरकार की नीतियों तथा कार्यक्रमों तथा उनको लागू करने के सम्बन्ध में अनौपचारिक विचार-विमर्श करना है।

प्रधान नियंत्रक एवं परीक्षक(Comptroller and Auditor-General) अपनी वार्षिक रिपोर्ट संसद को पेश करता है जिसमें सरकार की नीतियों तथा उनके कार्यान्वयन का वित्तीय तथा लागत मूल्यांकन होता है।

भारत सरकार ने दो विभागों- प्रशासनिक सुधार तथा लोक-शिकायत विभाग और कार्यक्रम कार्यान्वयन विभाग स्थापित किये हैं जो इसके कार्यक्रमों पर नियंत्रण रखते हैं और सुधार के लिये सुझाव प्रस्तुत करते हैं। कार्यक्रम कार्यान्वयन विभाग की स्थापना 1985 में की गई थी ताकि एक नयी व्यवस्था-लक्ष्योन्मुखी प्रबन्धन का आरम्भ हो जो निर्धनता-उन्मूलन कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने, अर्थव्यवस्था के सभी औद्योगिक अवसरंचना के क्षेत्रों (Industrial Infrastructure Sectors) के निष्पादन और 20 करोड़ से अधिक लागत वाले केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक प्रयोजनाओं (Projects) को कार्यान्वित करने पर नियंत्रण रख सकें।

भारत का संविधान न्यायिक पुनर्निरीक्षण की व्यवस्था करता है। इसके अधीन सरकार के किसी भी कार्य को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है। यदि वह कार्य संविधान का उल्लघन करता है या किसी विधि या प्राकृतिक न्याय अथवा मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करता है।

इस देश में न्यायालयों का यह सामान्य दृष्टिकोण रहा है कि वे नीति के मामलों में हस्तक्षेप करने से इनकार कर देते हैं। परन्तु जहां स्व-निर्णय शक्ति का दुरूपयोग हुआ है वहां नीति के मामलों में भी न्यायालयों ने हस्तक्षेप किया है और सरकार को विवश किया है कि वह अपनी नीति को त्याग दे या उसमें संशोधन करे। 1996 में न्यायालयों ने भारत सरकार के पेट्रोलियम मंत्री तथा शहरी मामलों के मंत्री पर भारी जुर्माने थोपे। क्योंकि उन्होने दिल्ली में सरकारी आवासों और पेट्रोल पम्पों के आवंटन में स्वनिर्णय की शक्ति का दुरूपयोग किया था। अतः सरकार को पेट्रोल पम्प तथा आवास आवंटन के सम्बन्ध में मंत्रियों की स्वनिर्णय से बांटने की नीति को त्यागना पड़ा। इसी प्रकार पर्यावरण के मुद्दों पर तथा लोक-हित मुकदमेबाजी (Public Interest Litigation) के द्वारा न्यायालयों ने सरकार की नीतियों और कार्यों में बड़ी सक्रियता से हस्तक्षेप किया है। इसे न्यायिक सक्रियतावाद (Judicial activism) का नाम दिया जाता है।

राजनीतिक मूल्यांकन राजनीतिक दलों हित समूहों जैसे चेम्बर ऑफ कामर्स (Chamber of Commerce), मजदूर संगठनों, सामाजिक भाषाई तथा क्षेत्री संगठनों, बार परिषदों (Bar Councils) जैसे व्यवसायिक संगठनों मीडिया-टीवी, रेडियो तथा समाचार पत्रों, शैक्षिक संस्थानों आदि द्वारा किया जाता है। चूंकि भारत एक मुक्त समाज है जिसमें नरम सरकार है तो ऊपरिलखित कार्यकर्ता सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों का समर्थन या विरोध करने तथा इन पर वाद-विवाद करने में बड़े सक्रिय रहे हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. नीति-निर्धारण में किसकी भूमिका ज्यादा प्रभावी होती है?

2. नीति-निर्धारण का आधार क्या है?

क. अनुसंधान तथा अध्ययन ख. सरकारी एजेंसी की रिपोर्ट

ग. गैर-सरकारी संगठनों से घ. उपर्युक्त सभी

3. नीति निर्माण में प्रभावी भूमिका होती है-

क. मंत्रीमंडल ख. प्रधानमंत्री कार्यालय

ग. केन्द्रीय सचिवालय घ. उपरोक्त सभी

4. नीति मूल्यांकन क्या होता है?

क. प्रशासनिक मूल्यांकन ख. न्यायिक मूल्यांकन

ग. राजनीतिक मूल्यांकन घ. उपरोक्त सभी

22.7 सारांश

सरकार को नीति-निर्माण कार्यान्वयन तथा गतिशीलता की ओर ध्यान देना भी अनिवार्य है। नीतियां तथा नीति-प्रतिक्रयायें एक स्थिर पर्यावरण में अचल(स्थाई) पदार्थ नहीं है। सफलता या असफलता पर कोई भी विचार करते समय यह बात ध्यान में रखनी पड़ेगी कि समय बीतने के साथ किसी भी नीति का समर्थन या विरोध कम हो सकता है। यही बात प्रभावकारिता या कार्यकुशलता या किसी अन्य मापदण्ड से जुड़े संकेतों की है। परन्तु जो लोग एक नीति की सफलता या असफलता पर निर्णय देते हैं और नीति में परिवर्तन का समर्थन करते हैं, प्रायः वे

तब तक प्रतीक्षा नहीं करते जब तक कि उसका कार्यान्वयन तथा प्रभाव सुस्पष्ट नहीं हो जाते। कहने का तात्पर्य यह है कि नीतियों की सफलता या असफलता पर निर्णय घोषित करने से पूर्व हो सकता है कि उनको इतना समय न दिया जाये जिसमें कि वे अपने आप को सिद्ध कर सकें।

22.8 शब्दावली

लोक नीति- जन सामान्य के लिए बनने वाली नीति, विधानमण्डल- जनता के प्रतिनिधि जो जनता के लिए कानून बनाते हैं, कार्यकारिणी- नीति-निर्माण पर निर्णय लेने वाले जनता के प्रतिनिधि, प्रशासनिक अभिकरण- प्रशासन की वह ईकाई जो नीतियों का क्रियान्वयन करती है, दबाव समूह- निहित गुट जो अपने हित में कार्य करने के लिए सरकार पर दबाव बनाते हैं, प्रधानमंत्री कार्यालय- प्रधानमंत्री का कार्यालय जहां से सारे महत्वपूर्ण निर्णय प्रधानमंत्री एवं उनका स्टाफ लेता है, मूल्यांकन- किसी भी नीति के क्रियान्वयन के परिणामस्वरूप उसके क्या गुण-दोष है उनका परीक्षण करना।

22.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. विधानमंडल की, **2.** घ, **3.** घ, **4.** घ

22.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. अवस्थी एवं माहेश्वरी- लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा-3, 2000, पेज-167-186।
2. डॉ0 एमपी शर्मा और बीएल सडाना- लोकप्रशासनः सिद्धान्त एवं व्यवहार, किताब महल, इलाहाबाद, 2006, पेज-565-78,
3. प्रो0 मोहित भट्टाचार्य- लोक प्रशासन, जवाहर पब्लिकेशन एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 1996
4. Anderson, Janus E, Public Policy Making, London, Thomas Nelson & Sons Ltd; 1975.
5. Sapru, R.L., Public policy: Formulation, Implementation and Evaluation, New Delhi, Sterling, 1993.

22.11 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. Dwivedi, O.P.(ed) – Public Policy and Administrative studies, Vol. 1, Guelph, Canada, 1994.
2. अरोड़ा, रमेश, तुलनात्मक लोक प्रशासन, राजस्थान, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
3. अवस्थी एवं माहेश्वरी, लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण, आगरा, 1995

22.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. नीति का अभिप्राय स्पष्ट करें। नीति निर्माण में प्रशासन की क्या भूमिका है?
2. नीति निर्धारण तथा निर्माण लोक प्रशासन के लिये निर्णायक तथा महत्वपूर्ण है। विस्तृत व्याख्या कीजिए।

3. नीति निर्माण में प्रधानमंत्री और उसके कार्यालय की क्या भूमिका होती है इसका परीक्षण कीजिए।
4. नीति-मूल्यांकन क्या है प्रशासनिक मूल्यांकन का विस्तृत वर्णन करें।